I

'अज्ञेय' की सम्पूर्ण कहानियां



मूल्य : पैंतीस रुपये (35 00)

CHHODA HUA RASTA Complete Short Stories of AJNEYA—Vol I

छोड़ा हुआ रास्ता

'अज्ञेय'

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

भूमिका

कुछ लेखक ऐसे होते होंगे जो अपनी रचनाओं के बारे में सोचते नहीं। मैं उन में से नहीं हूँ। बिना किसी तात्कालिक कारण के भी, जो लिख चुका हूँ, उस के बारे में जब-तब सोचता रहता हूँ क्योंकि विश्वास करता हूँ कि इस से आगे जो लिखूँगा उस के लिए पटिया साफ हो सकेगी। फिर जब किसी पुस्तक की भूमिका लिखनी पड़ती है तब उस के बारे में और सोचना पड़ता है। उसे भी हितकर ही मानता हूँ क्योंकि उस चिन्तन के सहारे लेखक उस रचना से थोड़ी और दूर हट जाता है, उसे कुछ तटस्थ हो कर देख लेता है और उस निस्संगता को थोड़ा और पुष्ट कर लेता है जो रचना पूरी हो जाने के बाद उस के प्रति हो जानी चाहिए—**इदं सरस्वत्यै इदं न मम।**

लेकिन **'अज्ञेय' की सम्पूर्ण कहानियाँ** नाम का संग्रह अपने सम्मुख देख कर ही थोड़ा आतंकित हो जाता हूँ। 'सम्पूर्ण' क्या होता है? यह ठीक है कि अब तक जितनी कहानियाँ लिखी हैं वे सभी इस संग्रह में हैं, इस लिए इसे सम्पूर्ण कहना सही है। लेकिन क्या मैंने यह स्वीकार कर लिया है—स्वयं अपने भीतर स्वीकार कर लिया और पाठकों के सम्मुख स्वीकार करने को तैयार हूँ—कि अब और कहानियाँ लिखने की रुचि या सम्भावना नहीं है?

लेकिन आतंक इस के कारण इतना नहीं है। सम्पूर्ण विशेषण के साथ चीज को बाहर से और तटस्थ भाव से देखने की जो अतिरिक्त जिम्मेदारी आ जाती है, असल कारण वह है। उस के साथ मूल्यांकन की और आत्म-परीक्षण की एक बाध्यता आती है जिसके औचित्य को कोई भले ही स्वीकार कर ले, उसे सुखद तो नहीं मानता।

यों तो मैंने यह स्वीकार कर लिया है कि कहानी लिखना मैंने छोड़ दिया है—या कि कहानी मुझ से छूट गई है। पिछले पन्द्रह-बीस वर्षों में मैंने कोई कहानी लिखी भी नहीं है। इस दूरी से अपनी कहानियों के प्रति ही नहीं, उन कहानियों के लेखक के प्रति भी एक अपेक्षया निर्वैयक्तिक भाव मेरे मन में है। उसके बूते पर शायद ऐसा भी दावा कर सकता कि उन का सही आलोचनात्मक मूल्यांकन भी कर सकता हूँ। पर वैसा मूल्यांकन शायद यहाँ अभीष्ट

नहीं है और भूमिकाएँ उस के लिए होती भी नहीं। मेरी समझ में भूमिका का पहला और प्रमुख उद्देश्य यही होता है कि सम्प्रेषण और सवाद के लिए अनुकूल स्थिति उत्पन्न कर सके। मैंने हमेशा माना है कि रचना का पहला धर्म अभिव्यक्ति नहीं, सम्प्रेषण है। इस नाते प्रत्येक रचना स्वय अपने लिए वह स्थिति उत्पन्न करती है जिस में सम्प्रेषण हो—और अगर नहीं करती तो असफल होती है। इस लिए कहानियाँ या प्रत्येक कहानी तो अपना काम स्वय करेगी ही—अथवा नहीं करेगी तो असफल होगी, लेकिन उस प्रक्रिया के भली भाँति सम्पन्न होने के लिए अनुकूल वातावरण के निर्माण में भूमिका का योग हो सकता है। सम्प्रेषण की स्थिति बनाने में रचनाकार सचेत अथवा अवचेतन भाव से कुछ दूरी की स्थापना कर लेता है जिस पर से सम्प्रेषण की प्रक्रिया सम्पन्न होगी, बल्कि यह कह सकते हैं कि वे दो दूरियाँ निर्धारित कर लेता है जो इस प्रक्रिया के निष्पादन के लिए आवश्यक है वस्तु से दूरी और पाठक से दूरी। पहली दूरी का सम्बन्ध यथार्थ के निरूपण और प्रतिष्ठापन से है, दूसरी दूरी सवाद की अवस्था और सम्बन्ध को निर्धारित करती है। पहली दूरी का निर्णय तो अन्तिम रूप से रचना में ही हो चुका होता है, दूसरी दूरी को ही भूमिका द्वारा प्राप्त या निरूपित किया जा सकता है। वैसे यह स्पष्ट होना चाहिए कि पाठक के साथ सवाद की सही स्थिति बन जाने पर पहली दूरी का रूप थोडा तो बदल ही जाएगा, क्योंकि लेखक स्वय जो देख चुका है उसे वह कैसे दर्शा रहा है इस के स्पष्टीकरण में दूसरी दूरी के निरूपण का भी योग होगा।

यथार्थ से दूरी, यथार्थ से रचनाकार के सम्बन्ध के बारे में विस्तार से कुछ कहना चाहता हूँ और वही भूमिका का मुख्य भाग होगा। उससे पहले पाठक से दूरी को एक साथ ही निर्धारित करते हुए भी और उस का अतिक्रमण करने के लिए सतु बनाते हुए भी यह कहना चाहता हूँ कि जैसे मेरे कहानी लेखन को मेरे सम्पूर्ण रचना कर्म के सन्दर्भ में ही देखा जा सकता है और देखना चाहिए, उसी प्रकार मैंने कहानी लिखना क्यों छोड दिया इस प्रश्न का उत्तर भी सम्पूर्ण रचना कर्म के सन्दर्भ में ही खोजना चाहिए।

मेरे लिए रचना कर्म हमेशा अर्थवत्ता की खोज से जुड़ा रहा है। और यही खोज मुझे कहानी से दूर ले गई है क्योंकि कहानी को मैंने उस के लिए नाकाफी

पाया। मैं जानता हूँ कि इतने संक्षिप्त रूप से कही हुई बात सही भी समझी जा सकती है और गलत भी समझी जा सकती है। वर्तमान समय में ऐसी चर्चाएँ और समीक्षाएँ होती हैं कि उन में जल्दी ही कुछ पद रूढ़ हो जाते हैं, इतनी जल्दी एक चालू मुहावरा बन जाता है जिसके बारे में सोचने की लोग या तो जरूरत नहीं महसूस करते या उस की तकलीफ नहीं गवारा करते। अर्थ, अर्थवत्ता खोज इत्यादि सभी शब्द इस तरह के अवमूल्यन अथवा पूर्वग्रह के शिकार हो चुके हैं। 'राहों का अन्वेषण' अथवा 'प्रयोग' तो इस से एक पीढ़ी पहले ही मलीदा जा चुका है। फिर भी मैं कहना चाहूँगा कि मैं अन्वेषी रहा हूँ और अब भी हूँ खोज के लिए किसी भी रास्ते को मैंने केवल पूर्वग्रह के कारण त्याज्य नहीं माना है। अर्थवत्ता मे एक तरफ वस्तु की सही और मज-बूत पकड़ पर और दूसरी तरफ उस के सही सम्प्रेषण पर मेरा समान बल रहा है। यानी खोज निरन्तर यथार्थ की व्याप्ति और गहराई को समझने और सम्प्रेषण प्रक्रिया का अधिक समर्थ बनाने की रही है। जो रास्ता इस खोज मे मुझे और आगे ले जाता नहीं जान पड़ा है, चाहे इसलिए कि वह रास्ता ठीक नहीं है, चाहे इस लिए कि मेरे लिए वह दुर्गम है, उसे छोड कर मैंने अपनी यात्रा के लिए दूसरा पथ बनाना शुरू कर दिया है, और पथ बनाते हुए भी अपने पाठक अथवा समाज को साथ लिये चलने या लिये रहने का प्रयत्न करता रहा हूँ क्योंकि असल बात तो समाज को ही साथ ले चलने की है, सम्प्रेषण की है, स्वय वहाँ पहुँच जाने-भर की नहीं, अभिव्यक्ति मात्र की नहीं।

यथार्थ की खोज—सार्थक यथार्थ की खोज—की अपनी यात्रा मे अपने पाठक को साथ ले जाना चाहता हूँ, इस अर्थ मे नहीं कि जो पथ मैं पार कर चुका उसे पाठक के साथ दुबारा नापूँ; इस अर्थ म कि एक मान चित्र के साथ पाठक को वह पूरा परिदृश्य दिखा दूँ जिस म स होती हुई मेरी यात्रा गुजरी। यह शायद मेरी कहानियो को ही नहीं, कहानी मात्र को और आज की कहानी-सम्बन्धी चर्चा को एक परिप्रेक्ष्य दे सकेगा, जो मेरी समझ मे सही परिप्रेक्ष्य होगा और जो यथार्थ का यथार्थ अर्थ करने म भी सहायक होगा।

कहानी की सम्यक् परिभाषा का प्रयत्न न करते हुए मोटे तौर पर कहा

जा सकता है कि कहानी एक क्षण का चित्र प्रस्तुत करती है। 'क्षण' का अर्थ हम चाहे *एक छोटा काल-खड लगा लें*, चाहे एक *अल्पकालिक स्थिति*, एक घटना, प्रभावी डायलॉग, एक मनोदशा, एक दृष्टि, एक बाह्य या आभ्यन्तर झाँकी, समझ का एक आकस्मिक उन्मेष, सन्त्रास, तनाव, प्रतिक्रिया, प्रक्रिया··· इसी प्रकार 'चित्र' का अर्थ वर्णन, निरूपण, रेखाकन, सम्पुजन, सूचन, सकेतन, अभिव्यजन, रजन, प्रतीकन, द्योतन, आलोकन, रूपायन, जो चाहे लगा लें— या इन के विभिन्न जोड-मेल। बल्कि और भी 'महीन मुशी' तबीयत के हो तो हम 'प्रस्तुत करने' के अर्थ को लेकर भी काफी छान-बीन कर सकते है। उस सब के लिए न अटक कर कहे कि कहानी क्षण का चित्र है, और क्षण क्या है इस की हमारी पहचान निरन्तर गडबडा रही है या सन्दिग्ध होती जा रही है। और इस से भी विलक्षण बात यह है कि जब हम 'क्षण' की बात कहते है तो सिर्फ काल के सम्बन्ध मे कुछ नही कह रहे हैं, बल्कि दिक् और काल की परस्पर-भेदक और *परस्पर-भिन्न अवस्थिति के बारे मे कुछ कह रहे है।*

शेक्सपियर के एक चरित्र को ही लगा था कि 'काल की चूल उखडी हुई है'—The time is out of joint, और शेक्सपियर की शती (और उस की दैनिक अवस्था) तो अपेक्षया स्थिर, मूल्यों के मामले मे आश्वस्त और भविष्य के प्रति आशा-भरी थी! आज तो सचमुच टाइम 'आउट ऑफ जॉएट' है; न केवल सभी कुछ सन्दिग्ध है बल्कि हमारा यह भरोसा भी दिन-प्रतिदिन उठता जाता है कि कुछ भी हम असन्दिग्ध रूप से जान सकेंगे—और अनेकों कारणो के अलावा एक इस कारण से भी कि जानकारी हासिल करने के (या जानकारी को विकृत कर के अथवा वह विकृति ही स्वीकार कराने के) साधन लगातार ऐसे लोगो के दृढतर नियन्त्रण मे चले जा रहे हैं जिन पर हमारा नियन्त्रण लगातार कमज़ोरतर होता जा रहा है। यहाँ तक कि स्वय हम *कहाँ खडे हैं, और जिस युग अथवा काल-खड म जी रहे है वह वास्तव मे क्या* है, उस से हमारा रिश्ता क्या अथवा कैसा है, यही पहचानना हमारे लिए दिन-प्रतिदिन कठिनतर होता जा रहा है। थोडी-सी अतिरजना करते हुए यहाँ तक कहा जा सकता है कि हम कब कहाँ है, इतना ही नहीं, हम है भी, इस पर भी हमारा प्रत्यय लडखडा सकता है।

अगर काल की चूल उखडी हुई है तो यथार्थ का क्या होता है?

'यथार्थ की पकड' हमे कैसे होती है ? कहानी मे, और कहानी की आलोचना मे, लगातार 'यथार्थ की पकड' की जो चर्चा है, उस पकड या पहचान के बारे मे जो दावे हैं, उन का क्या होता है ? स्वय कहानी का क्या होता है जो इस पहले मे-ही चूल-उखडे-हुए काल के भी केवल एक विखडित अश का चित्र है ? (और चित्र फिर काल मे एक रचना है—यानी काल इस का एक आयाम है।)

अवश्य ही कहानी भी 'आउट ऑफ जॉएंट' होगी। आज है भी, और इस मे एक तर्क-सगति भी है—युक्ति-युक्तता है, सन्दर्भ-युक्तता भी है। कुछ लोग इसे स्पष्टतया और बहुत-से लोग परिणामत स्वीकार करते भी जान पडते हैं। लेकिन कहानी के सम्बन्ध मे मेरे लिए जो प्रश्न उठते हैं, कहानी-सम्बन्धी इस सारी चर्चा से उन का उत्तर नही मिलता। बल्कि उन उत्तरो की खोज भी उस चर्चा मे नज़र नही आती और कभी कभी तो ऐसा भी लगता है कि आलोचना करने और सिद्धान्त प्रतिस्थापित करने वाले के मन म ये प्रश्न उठे ही नही हैं।

यो तो हमारे लिए सब से पहली समस्या 'यथार्थ' शब्द को ले कर ही उठ खडी होती है। इसे हम अर्थवैज्ञानिक समस्या कह कर कहानी की आलोचना के सन्दर्भ मे टाल भी दे सकते है लेकिन बुनियादी भाषिक प्रश्नों को टालकर आलोचना आगे बढ कैसे सकती है—सार्थक कैसे हो सकती है ?

यथार्थ—यथा + अर्थ। जो अर्थ है उस को यथावत् प्रस्तुत करना (देखना, पहचानना सम्प्रेषित करना आदि), अथवा जो यथा स्थिति है उस की अर्थवान् प्रस्तुति अथवा उस के अर्थ की प्रस्तुति। अब 'यथा' और 'अर्थ' दोनो पक्षो को ले कर बहुत से प्रश्न उभर आते है। यथा स्थिति की पहचान कैसे होती है ? कौन करता है ? अर्थ हम कैसे जानते हैं ? क्या घटनाओ के अपने अर्थ होते है, या कि हम उन्हे अर्थ दे देते है ? अगर हम उन्हे अर्थ दे देते हैं तो यह 'हम' कौन है ?—कहानीकार, या आलोचक, या पाठक ? हर हालत मे क्या एक विषयी (सब्जेक्ट) वहाँ प्रस्तुत नही है ? और क्या अर्थ का निरूपण इस लिए विषयी-सापेक्ष या सब्जेक्टिव नहीं है ? और अगर ऐसा है तो क्या जहाँ से हम यथार्थ की चर्चा आरम्भ करने चलते है—कि वह कुछ विषयी-निरपेक्ष

और भ्रातर्जेक्टिय होता है—यहाँ से हट नहीं गये हैं ? फिर अगर अर्थ 'बाहर से' दिया गया है—चाहे किसी के भी द्वारा—तो उस का इस प्रकार से दिया गया होना ही क्या उसे यथार्थ से हटा कर अलग नहीं कर देता है ? क्या वह अर्थ वस्तु-स्थिति का या उस में न हो कर एक आरोपण नहीं सिद्ध हो जाता है ?

स्वय घटनाओं का क्या कोई अर्थ होता है ? क्या घटना मात्र मूलत और स्वाभाविकत अर्थहीन या कि अर्थ-निरपेक्ष नहीं होती ? (कार्य-कारण-सम्बन्ध की बात अलग है, लेकिन कहानी अथवा आख्यान-साहित्य में जब हम अर्थ की चर्चा करते हैं तो हमारा तात्पर्य कार्य-कारण-सम्बन्ध से नहीं होता। और यह बात तो है ही कि हमारे अनुभव में काय कारण-सम्बन्ध उलट कर आते है—यानी 'भोगा हुआ यथार्थ' में परिणाम पहले घटित होते है और कारण बाद में।)

और अगर घटनाएँ मूलत निरर्थक नहीं होती उन में अर्थ होता है, तब क्या हमने यथार्थवाद की वृत्ति को ही छोड़ कर आदर्शवादी, आईडियलिस्ट अथवा आध्यात्मिक प्रतिज्ञा नहीं स्वीकार कर ली है ?

मैं जानता हूँ कि इस भाषिक समस्या के मूल में शब्दार्थ और तत्त्वार्थ-सम्बन्धी चिन्तन की एक कमी है जिस के कारण बहुत-कुछ हमारी शिक्षा की स्थिति में है। सोचने का काम अंग्रेज़ी में होता है, फतवे देने का या मूल्या-सबधी अवधारणाएँ घोषित करने का काम हिन्दी में। यथार्थ और यथार्थवाद की चर्चा के पीछे अंग्रेज़ी शब्द **रिएलिटी और रिएलिज्म हैं।** यह नहीं कि अंग्रेज़ी में भी इन शब्दों के साथ अर्थ-सम्बन्धी समस्याएँ नहीं जुड़ी हुई हैं, लेकिन अंग्रेज़ी से शब्द ले कर उन के हिन्दी पर्याय प्रचारित करते समय हम मूल शब्दों के साथ जुड़ी हुई समस्याओं का आयात नहीं करते—इन कष्टकर अवयवों को वहीं पीछे यानी अंग्रेज़ी में ही छोड़ आते हैं। उस से एक तो सोचने की लाचारी से छुटकारा मिल जाता है, दूसरे एक (भले ही निराधार) आश्वस्त भाव भी हम में आ जाता है अंग्रेजी आलोचना में अगर ये शब्द प्रतिष्ठित है तो अवश्य ही उन की प्रतिष्ठा का तर्क सम्मत आधार भी होगा—हिन्दी में उन्हें लेते हुए हमें कोई आशंका नहीं होनी चाहिए !

अंग्रेजी से आये हुए शब्द **रिएलिटी और रिएलिज्म** के साथ-साथ उन की

इन सत्ताओं के गुण भी हमारे बीच आ गये हैं। यथार्थ, यथार्थवाद, यथार्थ-वादी, सामाजिक यथार्थवाद, समाजवादी यथार्थवाद'''लम्बी परम्परा है। लेकिन अंग्रेज़ी शब्दों के हिन्दी पर्याय गढ़ते हुए हम अंग्रेज़ी की जो समस्याएँ पीछे छोड़ आये थे, उन के बारे में चेत जाने पर क्या उन का निराकरण हम सहज ही कर ले सकते हैं? 'यथार्थ' और 'यथार्थवादी' को छोड़ कर यदि हम 'वस्तु', 'वास्तविक', 'वास्तविकतावादी' आदि शब्दावली अपना लें, तो भी क्या अर्थ-सम्बन्धी जो प्रश्न उठते हैं उन का निरसन हो जाता है? 'तथ्य' तो हो सकते हैं और उन्हें (यद्यपि वह भी एक हद तक ही) विषयी-निरपेक्ष माना जा सकता है, घटना के तथ्य भी हो सकते हैं और घटना का तथ्यमूलक प्रस्तुतीकरण भी किया ही जा सकता है। लेकिन यथार्थवाद अथवा वास्तविकतावाद क्या केवल एक तथ्यवाद ही है? क्या शुद्ध घटना (इवेंट, हैपनिंग, एक्चुएलिटी), घटना का वैसा तथ्यमूलक रूप जो अच्छी 'सच्ची' अखबारी रिपोर्ट में मिल सकता है, और कहानी अथवा साहित्य की घटना (हमारे सन्दर्भ की रिएलिटी, अर्थात् विषयी की दृष्टि से देखी और सम्प्रेष्य बना कर प्रस्तुत की गयी घटना), एक ही है या हो सकती है? या कि बुनियादी तौर पर उन का स्वभाव अलग अलग होता है? क्या ईमानदार रिपोर्टर और निष्ठावान् कहानी रचयिता के लिए यथार्थ का रूप, अर्थ और सन्दर्भ मूलतः अलग-अलग नहीं है? रचना-प्रक्रिया और सम्प्रेषण-प्रक्रिया वस्तु का कैसे और कैसा रूपान्तरण करती है?

मैं समझता हूँ कि कहानी-उपन्यास—बल्कि साहित्य मात्र—के सन्दर्भ में यथार्थ की चर्चा इन प्रश्नों का सामना करने की चुनौती देती है। मैंने नहीं देखा कि हिन्दी में कहानी-उपन्यास की चर्चा में आलोचकों, अध्यापकों अथवा स्वयं रचनाकारों ने भी इन में उलझने और इन्हें सुलझाने का विधिवत् प्रयत्न किया है। कहानीकारों की उक्ति में तो जहाँ-तहाँ इन समस्याओं की अन्तश्चेतन पहचान के संकेत मिल भी जाते हैं, अध्यापकों तथा आलोचकों ने तो इन्हें अभी तक छुआ ही नहीं है।

•

यथार्थ की पकड़ की इस शब्द-बहुल चर्चा में जो पिछले दस-पन्द्रह वर्षों

की एक विशेषता रही है, लोग प्राय दो चीजें मान कर चलते जान पड़ते हैं जो दोनो ही प्रश्नाधीन हैं। पहली यह कि 'यथार्थ' 'बाहर' होता है, सतह पर होता है, दूसरी यह कि यथार्थ इकहरा या एक स्तरीय होता है। जो दीखता नही है, या थोडा और आगे बढकर वह लें कि जो ऐन्द्रिय चेतना द्वारा ग्राह्य नही है, वह यथार्थ नही है—यह एक नये प्रकार का अन्धापन है जिसे यथार्थ-बोध का नाम दिया जा रहा है। एक दूसरे प्रकार की संकीर्णता यह है कि ये ऐन्द्रिय अनुभव भी—और हमारे सारे राग बन्ध और अनुभव ही—वास्तव मे वे या वैसा नही हैं जैसा हम उन्हे अनुभव कर रहे है बल्कि केवल कुछ बुनियादी सम्बन्धो पर खड़ी की गयी निर्मिति है और ये बुनियादी सम्बन्ध किसी भी मानवीय उद्यम म निहित शोषक और शोषित के सम्बन्ध हैं। यानी यथार्थ वास्तव मे एक अमूर्त प्रक्रिया ही है, मूर्त जो कुछ है वह केवल उस पर खडा किया गया एक ढाँचा है। अगर बुनियादी यथार्थ अमूर्त है, तो यह दावा कैसे प्रमाणित किया जा सकता है कि केवल एक अमूर्तन ही यथार्थ अथवा सत्य अथवा सात्त्विक है और दूसरे सब अमूर्तन और मिथ्या? अगर यथार्थ अनेक-स्तरीय होते हैं तो केवल एक स्तर को देखने और बाकी सब को अनदेखा करने मे कौन-सी बहादुरी या विशेष प्रतिभा है?

अन्यत्र मैंने यथार्थ की पहेली को एक दूसरे रूप म रखा है। अगर हम "यथार्थ के 'भीतर' है तो उसे 'देखते' कैसे हैं? अगर हम उस के बाहर है तो वह 'यथार्थ' कैसे है?" मैं जानता हूँ कि समस्या का यह निरूपण एक सर्जक की समस्या का निरूपण है। यानी यह पहली वास्तविकता के अर्थ म यथार्थ' के बारे मे नही है। सम्प्रेष्य रचना के रूप म ही यथार्थ की पहचान क बारे मे है। लेकिन यहाँ वही तो प्रयोजनीय है—यथार्थ सत्ता के बारे म दार्शनिक अथवा पारमार्थिक प्रश्न उठाना हमे अभीष्ट नही है।

मैं मानता हूँ कि यथार्थ इकहरा या सपाट या एक स्तरीय नही होता। यह भी कहा जा सकता है कि कला के क्षेत्र म एक विशेष अर्थ म यथार्थ अर्थहीन' होता है हमेशा अर्थहीन होता है क्याकि जिसे हम वस्तु यथार्थ या विषयी निरपेक्ष यथार्थ या **आब्जेक्टिव रिएलिटी** कहते ह या कह सकते है उस मे फिर अर्थवत्ता का प्रश्न ही कैसे और कहाँ उठता है जब कि अर्थ अनिवार्यत अर्थ की पहचान करने वाले के, विषयी के साथ बँधा है? केवल **सब्जेक्टिव**

यथार्थ में ही अर्थवत्ता का प्रश्न उठ सकता है : विषयीगत यथार्थ ही कला का यथार्थ होता है और उसी में अर्थ हो सकता है। और इस लिए अर्थ की खोज हो सकती है। नि सन्देह वस्तु-जगत् के तथ्यों की, परिवेश की स्थिति और क्रिया व्यापारों की, सामाजिक सम्बन्धों की पकड या समझ विषयी की जैसी होगी, जीवन-मात्र से उस का जैसा सम्बन्ध होगा, उस से वह विषयीगत यथार्थ भी प्रभावित होगा। उसी पर उस के साथ पाये हुए अर्थ की मूल्यवत्ता निर्भर करेगी। लेकिन कला-वस्तु से परिवेश के सम्बन्ध का यह दूसरा वृत्त है। **पहले और दूसरे वृत्त के बीच स्वयं कलाकार खड़ा है।**

मैंने कहा है कि यथार्थ हमेशा अर्थहीन होता है। मैंने जो कुछ कहा उस में यह भी निहित है कि इस के बावजूद कलाकार को अर्थ की खोज रहती है। इस निहितार्थ को आज के सब साहित्यकार स्वीकार नहीं करेंगे, ऐसा मैं जानता हूँ। किन्तु मेरे लिए रचना कर्म हमेशा अर्थवत्ता की खोज से जुड़ा रहा है। साहित्यकार के नाते मुझे अर्थहीन यथार्थ की तलाश नहीं रहती है और न है। **आब्जेक्टिव** ससार मे अवश्य ही ऐसा यथार्थ है जिस मे अर्थवत्ता की खोज स्वय निरर्थक है, यह मैं जानता हूँ। उस अर्थातीत ससार से आगे बढ कर ही हम एक अर्थवान् जगत् की खोज में जाते है, और उस जगत् के निर्माण मे स्वय हमारा भी योग होता है। कोई चाहे तो यह कह सकता है कि जो **सब्जेक्टिव** है वह तो आत्यन्तिक रूप से अर्थहीन है, और यह कह कर बाहरी और भीतरी दोनों क्षेत्रों मे एक अर्थहीन, एब्सर्ड ससार के निर्माण मे प्रवृत्त हो सकता है। वैसे लोग हैं भी—वैसे साहित्यकार भी है। मैं वैसा नही मानता, वैसे निर्माण मे मेरी रुचि नहीं है। मानव की मेरी परिकल्पना मे वह अनिवार्यतया अर्थवत्ता का खोजी और स्रष्टा है और यही उस के मानवत्व की पहचान है। अगर वह **एब्सर्ड** को प्रस्तुत करता भी है तो वह भी अर्थवत्ता की खोज की ही यन्त्रणा दिखाने के लिए अर्थवत्ता की खोज जिजीविषा का एक पहलू है और अर्थ या अर्थ की चाह को अन्तिम रूप से खो देना जीवन की चाह ही खो देना है।

अब तक जो कुछ कहा गया है उस का आशय यह नहीं है कि विषयी-सापेक्ष अथवा **सब्जेक्टिव** यथार्थ एक उच्चतर कोटि है और विषयी-निरपेक्ष

अथवा आब्जेक्टिव यथार्थ उस से नीचे है। ऐसा उच्चावच-क्रम स्थापित करना अभीष्ट नहीं है। लेकिन इस से उलटा तर्क भी सही नहीं है—यह कहने का कोई कारण नहीं है कि विषयी-निरपेक्ष यथार्थ विषयी सापेक्ष यथार्थ से उच्चतर कोटि का होता है। जब तक अस्मिता है—कोई भी मैं 'मैं' है—दूसरे शब्दों मे जब तक जीवन है—तब तक माना ही नहीं जा सकता—कोई मान नहीं सकता—कि मेरे 'बाहर' जो जीवन है वह उच्चतर अथवा श्रेष्ठतर है इतना ही माना जा सकता है (और इतना मानना भी चाहिए) कि वह हीनतर भी नहीं है। वह केवल अलग है। कला के क्षेत्र मे तो यह भी कहा जा सकता है कि विषयी-निरपेक्ष यथार्थ वहाँ कुछ होता ही नहीं कला का सत्य होने के लिए 'यथार्थ' की भी प्रस्तुति में विषयी द्वारा उस के स्वायत्त किये गये ज्ञान की झलक मिलनी चाहिए। कला मे यथार्थ हमेशा संवेदना से छन कर आता है और उस मे यह दीखना भी चाहिए कि वह संवेदना से छन कर आया है। कला के यथार्थ मे विषयी द्वारा उस के स्वायत्त किये गये होने की गूँज होती है। उस गूँज के सहारे ही हम यथार्थ के निरे बयान से रचना की अलग पहचान करते हैं, क्योकि हम परख करते हैं कि वह केवल बाहर का यथार्थ है या कि रचनाकार ने उसे आत्मसात् कर ही लिया है। मेरे लिए रचना का यही इष्ट—या कि कह लिया जाये आदर्श—रहा है उस मे वस्तु-सत्य का, बाहरी यथार्थ का, खरापन भी होना चाहिए और साथ ही आत्म-सम्बोध की, आभ्यन्तर यथार्थ की अर्थवत्ता भी होनी चाहिए।

विचारशील पाठक पहचानेंगे कि यह पहले कही गयी बात को दूसर तरीके से पुष्टि ही है। साहित्य वर्तमान की पहचान भी करता है और उसे अर्थवत्ता के बृहत्तर आयाम से जोड़ता भी है। लेकिन यहाँ फिर इकहरा समीकरण करना खतरनाक होगा। क्योंकि न तो वर्तमान की पहचान का सम्बन्ध केवल बाहरी यथार्थ से है और न बृहत्तर आयाम का सम्बन्ध केवल आभ्यन्तर यथार्थ से—और न इस का उलटा ही। यथार्थ की, बाहरी और बाहर की पहचान और अर्थवत्ता की खोज की अविराम परस्परता और परस्पर भेदकता को अनदखा करना साहित्य की समझ को इकहरा और छिछला कर देना होगा।

सभी साहित्य पुराना पडता है। लेकिन फिर उस में से कुछ नया हो जाता है। जब साहित्य पुराना पडने लगता है तब जो काल की दृष्टि से अधिक निकट होता है वही अधिक तेज़ी से पुराना पडता हुआ अधिक दूर जान पडता है। उसी को ले कर हमें अधिक आश्चर्य या असमंजस होता है कि 'अभी कल तक यह हमें नया कैसे लग रहा था ?' इस प्रक्रिया को समझना बहुत कठिन नहीं है। कालान्तर में जो साहित्य फिर नया हो जाता है—या ऐसा हो जाता है मानो पुराना पडा ही नहीं था—उसे हम 'कालजित् साहित्य' कहते हैं। पर वास्तव में परिवर्तन का कारण जितना उस में होता है, उतना ही हम में भी होता है। बदले हुए हम फिर एक ऐसे ठौर पर आ जाते हैं जहाँ वह साहित्य हमारे लिए एक नयी अर्थवत्ता पा लेता है—क्योंकि हम उस में नयी अर्थवत्ता देखने लगते हैं।

साहित्य में जो 'नयी' विधाएँ हैं—उपन्यास या कहानी—उन में यह क्रिया अधिक तेज़ी से होती है। जो 'पुरानी' विधाएँ हैं—काव्य या नाटक—उन में यह क्रिया अपेक्षाकृत धीरे होती है। फिर प्रवृत्ति को ध्यान में रखें तो लक्ष्य कर सकते है कि किसी भी विधा में जो रचना-समूह अपने ही काल के यथार्थ के चित्रण पर अधिक बल देता है (और भाषा का मुहावरा और 'तेवर' कालिक यथार्थ का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है), वह अपेक्षया जल्दी पुराना पड जाता है क्योंकि कालिक यथार्थ जल्दी बदल जाता है, उस का पुराना पडना हम अधिक तीव्रता और स्पष्टता के साथ देख सकते हैं, इसलिए उस से बँधे साहित्य का पुराना पडना भी अधिक लक्ष्य होता है।

इसी लिए कहानी सब से जल्दी पुरानी पडती है। फिर कहानियों में वे या वैसी कहानियाँ और भी जल्दी पुरानी पडती हैं जो अपने समय के समाज के बाह्य यथार्थ से बँधी होती हैं। ऐसी कहानियाँ जब तक नयी होती है तब तक सब से नयी दीखती हैं, उन की तात्कालिक सम्पृक्ति और रेलेवेंस सब से अधिक जान पडती है, पर जब वे नयेपन से हटती हैं या नवतर के समान्तर आती हैं तब उतनी ही त्वरा से उन का नयापन धुँधला या झूठा पड जाता है, उन की 'प्रासंगिकता' प्रश्नाधीन हो जाती है।

इस कथन की जाँच किसी भी देश के साहित्य को ले कर की जा सकती है। कहीं भी काव्य उतनी जल्दी पुराना नहीं पडता, सर्वत्र कहानी ही सब

से जल्दी 'डेटेड' हो गयी हो गी—और कहानी में ये कहानियाँ और अधिक या और जल्दी जो कि अपने समय के समाज-जीवन और उस के लोकाचारों-मुहावरों में बँधी होंगी।

पर जो कहानियाँ इतनी जल्दी पुरानी नहीं पड़ती, या जो एक बार 'डेटेड' हो कर फिर नयी प्रासंगिकता पा जाती हैं, पा गयी हैं, उन में क्या खास बात होती है?

मानव-समाज केवल किसी एक युग का समाज नहीं है, देश-काल की रंगत लाने वाले लोकाचारों-मुहावरों और यहाँ तक कि सम्बन्धों के—विषय-गत या बाहरी यथार्थ के सभी उपकरणों के—नीचे, परे, गहरे में मानव-समाज की एक दूसरी पहचान मिल सकती है जो युगातीत है, जो समाज की पहचान से बढ़ कर मानव की पहचान है, जिस का यथार्थ सामाजिक यथार्थ-भर न हो कर मानवीय यथार्थ है। हमारी धारणा है कि पड़ताल करने पर हम पायेंगे कि जो कहानियाँ जल्दी पुरानी नहीं होती हैं, या जो पुरानी हो कर भी नयी बनी रही हैं या नयी हो गयी हैं, उन में रचनाकार की दृष्टि सामाजिक यथार्थ की परिधि में न बँधी रह कर मानवीय यथार्थ पर केन्द्रित रही होगी उन का आग्रह 'विषयगत' यथार्थ का न रह कर उस यथार्थ का रहा होगा जो विषयी और विषयी के आपसी व्यवहार में लक्षित या व्यंजित होता है और वहीं से फैल कर सामाजिक रूप लेता है—यानी सामाजिक हो कर भी 'अन्तर्-विषयी' बना रहता है जो इण्टर-सब्जेक्टिव होता है, आब्जेक्टिव नहीं होता।

एक तरफ हम एक क्षण का चित्र प्रस्तुत कर रहे हों या प्रस्तुतीकरण के लिए जुगो रहे हों—यानी कहानी लिख या रच रहे हों—और दूसरी तरफ हमारी दृष्टि अन्तर्-विषय यथार्थ पर साग्रह टिकी हो, तब रचनाकार के नाते हमारी कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं। बाह्य यथार्थ को देखना और प्रस्तुत करना कम कठिन है वह समस्या केवल पर्याप्त तन्त्र-कौशल की है। आर्थिक सम्बन्धों और तनावों के आधार पर ही उस बाह्य यथार्थ को निरूपित करना भी कम कठिन है वह समस्या पर्याप्त शिक्षा-दीक्षा की है। उसे पक्षधर-भाव से उपयोज्य बनाना भी कम कठिन है समस्या सामाजिक-राजनैतिक जोड-तोड और समझदारी की है। पर अन्तर्-विषयी वस्तु को पकड़ने के लिए एक-साथ हा एकाधिक विषयी के आभ्यन्तर संसार में प्रवेश करना—और वह भी भाव-

साथ स्वय विषयी बने रहते और अपना वैसा होने की पहचान बनाये रख
हुए—और वह फिर अपनी विषयी दृष्टि के कारण दूसरे विषयियो की विषयित
को धुँधला होने दिय बिन'—यह न तन्त्र पर अधिकार की समस्या है, न शिक्ष
की, न राजनैतिक समझदारी की । यहाँ प्रश्न मानवीय सवेदना का है । कह
को तो कह दिया जा सकता कि वह संवेदन या तो है, या नही है मानो लेख
या तो रचनाकार है या नही है । और "जो नही है उसका गम क्या ?" पर
मानना चाहता हूँ (मानना 'स्वीकार करना' और 'विश्वास करना' दोनो
अर्थों मे) कि सवेदन मे भी वृद्धि हो सकती है—विस्तार, गहराई औ
सघनता, सभी आयामो मे ।

यदि मानवीय सवेदन पर बल देना ठीक है तो मेरे सामने यहा एक अ
प्रश्न उठ खडा होता है । मेरे लिए यह मानना असम्भव हो जाता है कि 'कवि
दृष्टि' कहानी-लेखन मे बाधक होती है । या कि कवि कवि होने के नाते
घटिया कहानी लेखक होता है । बल्कि यही मानना अधिक सगत दीखता है
कहानीकार के अन्य गुणा से सम्पन्न व्यक्ति मे कवि-दृष्टि भी होने पर
अधिक महत्त्वपूर्ण कहानी लेखक हो सकता है । अधिक **महत्त्वपूर्ण:** भले
तात्कालिक दृष्टि से अधिक सफल या प्रभावी नही । और अधिक टिकाऊ
कालजयित्व की दीर्घतर अर्हता लिय हुए ।

लेकिन पिछली एक पीढी से कहानी सम्बन्धी सारी चर्चाए इसी बात
आस-पास घूमती रही हैं । कवि न होना, कवि-दृष्टि न रखना, कहानीकार
सब से बडा गुण माना और सिद्ध किया जाता है कहानीकार द्वारा भी अ
कहानी की अलग-अलग प्रवृत्तिया के पैरोकारा के द्वारा भी । मुझे यह बात ज
भी बेतुकी नही लगती कि भारत के महान् कहानीकारो की गणना मे पह
नाम रवीन्द्रनाथ ठाकुर का हो । यह भी मुझे जरा भी अप्रत्याशित नही लग
कि हिन्दी म भी अपने समकालीनो म—और युवतर लेखको मे भी—जिन
कहानियाँ हम दोबारा पढते है और रुचि से पढ सकते हैं वे भी कवि है—क
भी है और कहानीकार से पहले कवि-रूप मे पहचाने जाते है । नि सन्देह कवी
कहानी लेखका की कहानियाँ भी मुझे कई बार बडी मार्मिक, और अ
'सफल' भी, जान पडी हैं । पर एक बार पढ चुकने पर दोबारा सहज प्रवृत्ति
उन को पढने जाने की सम्भावना कम दिखी है। क्या पढी हुई कहानी

से जल्दी 'डेटेड' हो गयी होगी — और कहानी में वे कहानियाँ और अधिक या और जल्दी जो कि अपने समय के समाज जीवन और उस के लोकाचारों-मुहावरों से बँधी होंगी।

पर जो कहानियाँ इतनी जल्दी पुरानी नहीं पड़ती, या जो एक बार 'डेटेड' हो कर फिर नयी प्रासंगिकता पा जाती है पा गयी हैं, उन में क्या खास बात होती है?

मानव-समाज केवल किसी एक युग का समाज नहीं है, देश-काल को रंगने वाले लोकाचारों मुहावरों और यहाँ तक कि सम्बन्धों के—विषयगत या बाहरी यथार्थ के सभी उपकरणों के—नीचे, परे, गहरे में मानव-समाज एक दूसरी पहचान मिल सकती है जो युगातीत है, जो समाज की पहचान बढ़ कर मानव की पहचान है जिस का यथार्थ सामाजिक यथार्थ भर न हो मानवीय यथार्थ है। हमारी धारणा है कि पड़ताल करने पर हम पायेंगे कि कहानियाँ जल्दी पुरानी नहीं होती हैं या जो पुरानी हो कर भी नयी ब- है या नयी हो गयी हैं, उन में रचनाकार की दृष्टि सामाजिक यथार्थ को मे न बँधी रह कर मानवीय यथार्थ पर केन्द्रित रही होगी उन क 'विषयगत' यथार्थ का न रह कर उस यथार्थ का रहा होगा जो वि विषयी के आपसी व्यवहार में लक्षित या व्यंजित होता है और वही सामाजिक रूप लेता है—यानी सामाजिक हो कर भी 'अन्तर्- रहता है जो इण्टर सब्जेक्टिव होता है, आब्जेक्टिव नहीं होता

एक तरफ हम एक क्षण का चित्र प्रस्तुत कर रहे हों या प्र लिए जुगो रहे हों—यानी कहानी लिख या रच रहे हों—औ हमारी दृष्टि अन्तर् विषय यथार्थ पर साग्रह टिकी हो, तब र हमारी कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं। बाह्य यथार्थ को देखना ? कम कठिन है वह समस्या केवल पर्याप्त तन्त्र कौशल की है और तनावों के आधार पर ही उस बाह्य यथार्थ का निर्वा कठिन है वह समस्या पर्याप्त शिक्षा दीक्षा की है। उसे योग्य बनाना भी कम कठिन है समस्या सामाजिक और समझदारी की है। पर अन्तर् विषयी वस्तु को पक हो एकाधिक विषयी के आभ्यन्तर संसार में प्रवेश

साथ स्वयं विषयी बने रहते और अपना वैसा होने की पहचान बनाये रखते हुए—और वह फिर अपनी विषयी दृष्टि के कारण दूसरे विषयियों की विषयिता को धुँधला होने दिये बिना—यह न तन्त्र पर अधिकार की समस्या है, न शिक्षा की, न राजनैतिक समझदारी की। यहाँ प्रश्न मानवीय संवेदना का है। कहने को तो कह दिया जा सकता कि वह संवेदन या तो है, या नहीं है : यानी लेखक या तो रचनाकार है या नहीं है। और "जो नहीं है उसका गम क्या ?" पर मैं मानना चाहता हूँ (मानना 'स्वीकार करना' और 'विश्वास करना' दोनों ही अर्थों में) कि संवेदन में भी वृद्धि हो सकती है—विस्तार, गहराई और सघनता, सभी आयामों में।

यदि मानवीय संवेदन पर बल देना ठीक है तो मेरे सामने यहाँ एक और प्रश्न उठ खड़ा होता है। मेरे लिए यह मानना असम्भव हो जाता है कि 'कवि-दृष्टि' कहानी-लेखन में बाधक होती है। या कि कवि कवि होने के नाते ही घटिया कहानी लेखक होता है। बल्कि यही मानना अधिक संगत दीखता है कि कहानीकार के अन्य गुणों से सम्पन्न व्यक्ति में कवि-दृष्टि भी होने पर वह अधिक महत्त्वपूर्ण कहानी-लेखक हो सकता है। अधिक महत्त्वपूर्ण : भले ही तात्कालिक दृष्टि से अधिक सफल या प्रभावी नहीं। और अधिक टिकाऊ—कालजयित्व की दीर्घतर अर्हता लिये हुए।

लेकिन पिछली एक पीढ़ी से कहानी-सम्बन्धी सारी चर्चाएँ इसी बात के आस-पास घूमती रही हैं। कवि न होना, कवि-दृष्टि न रखना, कहानीकार का सब से बड़ा गुण माना और सिद्ध किया जाता है : कहानीकार द्वारा भी और कहानी की अलग-अलग प्रवृत्तियों के पैरोकारों के द्वारा भी। मुझे यह बात ज़रा भी बेतुकी नहीं लगती कि भारत के महान् कहानीकारों की गणना में पहला नाम रवीन्द्रनाथ टाकुर का हो। यह भी मुझे ज़रा भी अप्रत्याशित नहीं लगता कि हिन्दी में भी अपने समकालीनों में—और युवतर लेखकों में भी—जिन की कहानियाँ हम दोबारा पढ़ते हैं और रुचि से पढ़ सकते हैं वे भी कवि हैं—कवि भी हैं और कहानीकार से पहले कवि-रूप में पहचाने जाते हैं। निःसन्देह कवीतर कहानी लेखकों की कहानियाँ भी मुझे कई बार बड़ी मार्मिक, और अधिक 'सफल' भी, जान पड़ी हैं। पर एक बार पढ़ चुकने पर दोबारा सहज प्रवृत्ति से उन को पढ़ते जाने की सम्भावना कम दिखी है। क्या पढ़ी हुई कहानी को

क्रम

यह वल्लरी अमर है, अनन्त है। जब मैं गिर जाऊँगा, तब भी शायद यह मेरे शरीर पर लिपटी रहेगी और उस म बची हुई शक्ति को चूसती रहेगी।

पर जब इस का अकुर प्रस्फुटित हुआ था, तब मैं क्षीण नही था। मेरे सुगठित शरीर म ताज़ा रस नाचता था, मेरा हृदय प्रकृति-सगीत मे लवलीन हो कर नाचता था, मैं स्वय यौवन रग मे प्रमत्त हो कर नाच रहा था * जब मेरी विस्तृत जडा के बीच म कही स इसका छोटा-सा अकुर निकला उस के पीले पीले, कोमल, तरल तन्तु इधर उधर सहारे की आशा स फैले और कुछ न पा कर मुरझाने लगे तब मैंन कितनी प्रसन्नता से इसे शरण दी थी कितना आनन्द मुझे इस के शिशुवत् कोमल स्पर्श से हुआ था ! उस समय शायद वात्सल्य भाव ही मरे हृदय म सर्वोपरि था। जब वह बढने लगी जब उस के शरीर म एक नयी आभा आ गयी तब उस के स्पर्श म वह सरलता, वह स्नेह नही रहा, उस म एक नूतनता आविर्भूत हुई एक विचित्र भाव आ गया, जिस मे मेरी स्वतन्त्रता नही रही। जब भी मैं कुछ सोचना चाहता, उसी का ध्यान आ जाता। उस ध्यान म लालसा थी और साथ ही कुछ लज्जा सी, स्वार्थ था और साथ ही उत्सर्ग हो जाने की इच्छा, तृष्णा थी और साथ ही तृप्ति भी, ग्लानि थी और साथ ही अनुरक्ति भी ! जिस भाव को आज मैं पूरी तरह समझ गया हूँ, उस का मुझे उन दिनो आभास भी नही हुआ था। उन दिना इस परिवर्तन पर मुझे विस्मय ही होता रहता था—और वह विस्मय भी आनन्द स ग्लानि से, लालसा स तृप्ति से, परिपूरित रहता था !

मेरे चरणा के पास एक छोटा-सा चिकना पत्थर
गाव की स्त्रियाँ आ कर सिन्दूर और तेल का लेप
कभी वे अपन कोमल हाथा स सिन्दूर
देती थी कोई-कोई युवती आ कर सहज
कर मरे इस सुडौल शरीर से अक भर लेती
कर व अपन कपोल मेरी कठिन त्वचा स
बहा कर चली जाती थी—मानो उस कुछ
ससार की उन सुकामल लतिकाआ के स्पर्श मे
नही थी। कभी-कभी, जब कोई सरला
दीन स्वर म कहती, 'देवता, मरी

जाता, और अपने पत्ते हिला कर कुछ कहना चाहता। न-जाने वे मेरा इंगित समझतीं या नहीं। न-जाने उन्हें कभी मेरी कृतज्ञता का ज्ञान होता या नहीं। मैं यही सोचता रहता कि अगर मैं नीरस पीपल न हो कर अशोक वृक्ष होता, तो अपनी कृतज्ञता तो जता सकता, उन प्रेम-विह्वलाओं के स्पर्श से पुष्पित हो, पुष्प-भार से झुक कर उन्हें नमस्कार तो कर सकता! पर मैं यह सोचता हुआ मूक हो रह जाता, और वे चली जातीं।

पर उन के स्पर्श से मुझे रोमांच नहीं होता था, मैं अपने शिखर से जड़ों तक काँपने नहीं लगता था। कभी-कभी जब कोई स्त्री आ कर मेरी आश्रिता इस अमरवल्लरी के पुष्प तोड़ कर मेरे पैरों में डाल देती, तब मेरे मर्म पर आघात पहुँचता था, पर उस से मुझे जितनी व्यथा होती, जितना क्रोध आता, उसे भी मैं व्यक्त नहीं कर पाता था। मैं विश्वकर्मा से मूक प्रार्थना करने लगता विश्वकर्मा मूक प्रार्थना भी सुन लेते हैं—कि उस स्त्री को कोई भी वैसी ही दारुण वेदना हो! वह मुझे देवता मान कर पुष्पों से पूजा करती थी, और मैं उस के प्रति इतनी नीच कामना करता था—किन्तु प्रेम के प्रमाद में बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है!

कैसा विचित्र था वह प्रेम! अगर मैं जानता होता! अगर मैं जानता होता!

किन्तु क्या जान कर इस जाल में न फँसता? आज मैं जानता हूँ, फिर भी तो इस वल्लरी का मुझ पर इतना अधिकार है, फिर भी तो मैं इस के स्पर्श से गद्गद हो उठता हूँ!

प्रेम आईने की तरह स्वच्छ रहता है, प्रत्येक व्यक्ति उस में अपना ही प्रतिबिम्ब पाता है, और एक बार जब वह खंडित हो जाता है, तब जुड़ता नहीं। अगर किसी प्रकार निरन्तर प्रयत्न से हम उस के भग्नावशिष्ट खंडों को जोड़ कर रख भी लें तो उसमें पुरानी कान्ति नहीं आती। वह सदा के लिए कलंकित हो जाता है। स्नेह अनेकों चोटें सहता है, कुचला जा कर भी पुनः उठ खड़ा होता है; किन्तु प्रेम में अभिमान बहुत अधिक होता है, वह एक बार तिरस्कृत हो कर सदा के लिए विमुख हो जाता है। आज इस वल्लरी के प्रति मेरा अनुराग बहुत है, पर उस में प्रेम का नाम भी नहीं है—वह स्नेह का ही प्रतिरूप है। वह विह्वलता प्रेम नहीं है वह प्रेम की स्मृति की कसक ही है।

अपने इस प्रेम के अभिनय का जब मैं प्रत्यवलोकन करता हूँ, तब मुझे एक जलन-सी होती है। प्रेम में मुझे जो आशा थी, वह पूर्ण नहीं हुई, और उस की अपूर्ति के लिए मैं किसी प्रकार भी दोषी नहीं था। मुझे यही प्रतीत होता है कि नियन्ता ने मेरे प्रति, और इस लता के प्रति, और उन अबोध स्त्रियों के प्रति, जो मुझे देवता कह कर सम्बोधित करती थीं, न्याय नहीं किया। निर्दोष होते हुए भी हम अपने किसी अधिकार से, जिस का मैं वर्णन नहीं कर सकता, वंचित रह गये। जब इस भाव से, इस प्रवंचना के ज्ञान से, मैं उद्विग्न हो जाता हूँ तब मुझे इच्छा होती है कि मैं वृक्ष न हो कर मानव होता। इस तरह एक ही स्थान में बद्ध हो कर न रहता, इधर-उधर घूम कर अपने प्रेम को व्यक्त कर सकता, और—और इस तरह भुजहीन, असहाय न होता!

किन्तु क्या मानव हृदय मेरी सत्ता से इतना भिन्न है? क्या मानवों के प्रेम में और मेरे में इतनी असमानता है? क्या मानव में भी हमारी तरह मूक वेदनाएँ नहीं होतीं, क्या उन में भी प्रेम के अंकुर का अँधेरे में ही प्रस्फुटन और विकसन और अवसान नहीं हो जाता? क्या वे प्रेम विह्वल हो कर अपने-आप को अभिव्यक्ति के सर्वथा अयोग्य नहीं पाते, क्या उन में लज्जा अनुरक्ति का और ग्लानि लालसा का अनुगमन नहीं करती? वे मानव हैं हम वनस्पति, वे चलायमान हैं, हम स्थिर, पर साथ ही हम उनकी अपेक्षा बहुत दीर्घजीवी हैं और हमारी संयम-शक्ति भी उनसे बहुत अधिक बढ़ी-चढ़ी है। उन का प्रेम सफल होकर भी शीघ्र समाप्त हो जाता है और हममें प्रेम की जलन ही कितने वर्षों तक कसकती रहती है।

बहुत दिनों की बात है। उन दिनों मुझे इस वल्लरी के स्पर्श में मादकता का भास हुआ ही था, इस के आलिंगन से गुदगुदी होनी आरम्भ ही हुई थी! उन दिनों मैं उस नये प्रेम का विकास देखने और समझने में ही इतना व्यस्त था कि आसपास होने वाली घटनाओं में मेरी आसक्ति बिल्कुल नहीं थी, कभी-कभी विमनस्क होकर मैं उन्हें एक आँख देख भर लेता था। वह जो बात मैं कहने लगा हूँ, उसे मैं नित्यप्रति देखा करता था, किन्तु देखते हुए भी नहीं देखता था। और जब वह बात खत्म हो गयी, तब उस की ओर मेरा उतना ध्यान भी नहीं रहा। पर मेरे जाने बिना ही वह मुझ पर अपनी छाप छोड़ गयी, और आज मुझे वह बात नहीं, उस बात की छाप ही दीख रही है। मैं मानो प्रभात में

बालुकामय भूमि पर अंकित पदचिह्नों को देख कर, निशीथ की नीरवता में उधर से गयी हुई किसी अभिसारिका की कल्पना कर रहा हूँ।

मेरे चरणों पर पड़े हुए उस पत्थर की पूजा करने जो स्त्रियाँ आती थीं, उन में कभी-कभी कोई नयी मूर्त्ति आ जाती थी, और कुछ दिन आती रहने के बाद लुप्त हो जाती थी। ये नयी मूर्त्तियाँ प्रायः बहुत ही लज्जाशील होतीं, प्रायः उन के मुख फुलकारी के लाल और पीले अवगुंठन में ढँके रहते, और वे धोती इतनी नीची बाँधतीं कि उन के पैरों के नूपुर भी न दीख पाते। केवल मेरे समीप आ कर जब वे प्रणाम करने को झुकतीं, तब उन का गोधूम-वर्ण मुख क्षण-भर के लिए अनाच्छादित हो जाता, क्षण-भर उन के मस्तक का सिन्दूर कृष्ण मेघों में दामिनी की तरह चमक जाता, क्षण-भर के लिए उन के उर पर विलुलित हारावली मुझे दीख जाती, क्षण-भर के लिए पैरों की किंकिणियाँ उद्घाटित हो कर चुप हो जातीं और मुग्ध हो कर बाह्य-संसार की छटा को और अपनी स्वामिनियों के सौन्दर्य को निरखने लगतीं! फिर सब-कुछ पूर्ववत् हो जाता, अवगुंठन उन मुखों पर अपना प्रभुत्व दिखाने के लिए उन्हें छिपा कर रख लेते, हारावलियाँ उन स्निग्ध उरों में छिप कर सो जातीं, और नूपुर भी मुँह छिपा कर धीरे-धीरे हँसने लगते···

एक बार उन नयी मूर्त्तियों में एक ऐसी मूर्त्ति आयी, जो अन्य सभी से भिन्न थी। वह सब की आँख बचा कर मेरे पास आती और शीघ्रता से प्रणाम कर के चली जाती, मानो डरती हो कि कोई उस देख न ले। उस के पैरों में नूपुर नहीं बजते थे, गले में हारावली नहीं होती थी, मुख पर अवगुंठन नहीं होता था, ललाट पर सिन्दूर तिलक नहीं होता था। अन्य स्त्रियाँ रंग-बिरंगे वस्त्राभूषण पहन कर आती थीं, वह शुभ्रवसना थी। अन्य स्त्रियाँ प्रातःकाल आती थीं, पर उस का कोई निर्दिष्ट समय नहीं था। कभी प्रातःकाल, कभी दिन में, कभी सन्ध्या को वह आती थी। जिस दिन उस का आना सन्ध्या को होता था, उस दिन वह प्रणाम और प्रदक्षिणा कर लेने के बाद मेरे पास ही इस अमरवल्लरी का सहारा ले कर भूमि पर बैठ जाती, और बहुत देर तक अपने सामने सूर्यास्त के चित्र-विचित्र मेघ समूहों को, अलसी और पोस्त के पुष्पमय खेतों को और गाँव से आने वाले छोटे-से धूल-भरे पथ को देखती रहती। उस के मुख पर अतीत स्मृति-जनित वेदना का भाव व्यक्त हो जाता, कभी-कभी वह एक दीर्घ

निश्वास छोड देती···उस समय सहानुभूति और समवेदना म पत्ते भी सरसर ध्वनि कर उटते···वह कभी कुछ कहती नहीं थी, कभी कोई प्रार्थना नहीं करती थी। मुझे चुपचाप प्रणाम करनी और चली जानी—या वहीं बैठ कर किसी के ध्यान म लीन हो जाती थी। उस ध्यान मे कभी कभी वह कुछ गुनगुनाती थी, पर उस का स्वर इतना अस्पष्ट होता था कि मैं पूरी तरह समझ नहीं पाता था।

पहले मेरा ध्यान उस की ओर नहीं जाता था, किन्तु जब वह नित्य ही गोधूलि-वेला म वहाँ आ कर बैठने लगी, तब धीरे-धीरे मैं उस की ओर आकृष्ट होने लगा। जब सूर्य की प्रखरता कम होने लगती, तब मैं उस की प्रतीक्षा करने लग जाता था—कभी अगर उस के आने मे विलम्ब हो जाता, तो मैं कुछ उद्विग्न-सा हो उठता

एक दिन वह नहीं आयी। उस दिन मैं बहुत देर तक उस की प्रतीक्षा करता रहा। सूर्यास्त हुआ अँधेरा हुआ, तारे निकल आये आकाश-गंगा ने गगन को विदीर्ण कर दिया, पर वह नहीं आयी।

उस के दूसरे दिन भी नहीं, तीसरे दिन भी नहीं—बहुत दिनो तक नहीं। जब मैंने उस की प्रतीक्षा करनी छोड दी, तब सन्ध्या के एकान्त म मैं अपनी उदभ्रान्त मनोगति को इस अमरवल्लरी की ओर ही प्रवृत्त करने लगा

जब मै उस बिल्कुल भूल गया, तब एक दिन वह सहसा आ गयी। वह दिन मुझे भली प्रकार याद है। उस दिन आँधी चल रही थी, काले-काले बादल घिर आये थे, ठण्ड खूब हो रही थी। मैं सोच रहा था कि वर्षा आयेगी, तो अमर-वल्लरी की रक्षा कैसे करूँगा। एकाएक मैंने देखा उस धूलिधूसर पथ पर वह चली आ रही थी। वह अब भी पहले की भाँति अनलकृत थी, उस का शरीर अब भी श्वेत वस्त्रो से आच्छादित था, पर उस की आकृति बदल गयी थी, उस का सौन्दर्य लुप्त हो गया था। उस के शरीर म काठिन्य आ गया था, मुख पर झुर्रियाँ पड गयी थी, आँखें धँस गयी थी, ओठ ढीले हो कर नीचे लटक गये थे। जब उस पहली मूर्त्ति से मैंने उस की तुलना की, तो मेरा अन्तस्तल काँप गया। पर मैं चुपचाप प्रतीक्षा मे खडा रहा। उस ने मेरे पास आ कर मुझे प्रणाम नहीं किया, न इस वल्लरी का सहारा ले कर बैठी ही। उस ने एक बार चारो ओर देखा, फिर बाँहें फैला कर मुझ से लिपट गयी और फूट-फूट कर रोने लगी। उस के तप्त आँसू मेरी त्वचा को सींचने लगे

मैंने देखा, वह एकवसना थी, और वह वस्त्र भी फटा हुआ था। उस के केश व्यस्त हो रहे थे, शरीर धूल से भरा हुआ था, पैरों से रक्त बह रहा था ··

वह रोते-रोते कुछ बोलने भी लगी ··

'देवता मैं पहले ही परित्यक्ता थी, पर मेरी बुद्धि खो गयी थी! मैं जहाँ गयी, वहीं तिरस्कार पाया, पर फिर भी तुम्हारी शरण छोड़ गयी! मैं कृतघ्ना थी चली गयी। किस आशा से? प्रेम—धोखा—प्रवंचना! प्रतारणा! उस छली ने मुझे ठग लिया, फिर —फिर—देवता, मैं पतिता, भ्रष्टा, कलंकिनी हूँ। मुझे गाँव के लोगों ने मार कर निकाल दिया, अब मैं —मैं निर्लज्जा हूँ! अब तुम्हारी शरण आयी हूँ, अकेली नहीं, कलंक के भार से दबी हुई, अपनी कोख में कलंक धारण किये हुए!"

उस का वह रुदन असह्य था, पर हम को विश्वकर्मा ने चुपचाप सभी कुछ सहने को बनाया है!

मुझ पर उस का पाश शिथिल हो गया, उस के हाथ फिसलने लगे, पर उस की मूर्छा दूर न हुई। रात बहुत बीत गयी, उस का सज्ञा शून्य शरीर काँपने लगा, फिर अकड़ गया वह मूछा में ही फिर बड़बड़ाने लगी

'देवता हो? छली! कितना धोखा कितनी नीचता! प्रेम की बातें करते तुम्हारी जीभ न जल गयी! तुम्हारी शरण आऊँगी, तुम्हारी! वह कलंक का टीका नहीं है, मेरा पुत्र है! तुम नीच थे, तुम ने मुझे अलग कर दिया। वह मेरा है तुम्हारे पाप से क्यों कलंकित हो गया? तुम देवता हो देवता। मैं तुम्हारी शरण से भाग गयी थी। पर वह पाप—उस म तो मेरा भी हाथ था? तुम्हारी शरण में मुझे शान्ति मिलेगी! मैं ही तो उस के पास गयी थी—कलंकिनी! पर वह अबोध शिशु तो निर्दोष है, वह क्या जलेगा? क्यों काला होगा? दवता, तुम बड़े निर्दय हो। उसे छोड़ देना! मैं मरूँगी, जलूँगी, पर वह बच कर कहाँ जायगा! देवता, देवता, तुम उस का पोषण करना!'

उस के शरीर का कम्पन बन्द हो गया, प्रलाप भी शान्त हो गया—पर कुछ ही देर के लिए!

धीरे धीरे तारागण का लोप हो गया, आकाश गगा भी छिप गयी। केवल पूर्व में एक प्रोज्ज्वल तारा जगमगाता रह गया। पवन की शीतलता एकाएक

बढ गयी, अन्धकार भी प्रगाढतर हो गया···उस महाशान्ति मे एकाएक उस के शरीर मे सजीवन आ गया, वह एक हृदय-विदारक चीख मार कर उठी, उठते ही उस ने अपने एकमात्र वस्त्र को फाड डाला। फिर वह गिर गयी, उस के अगो के उत्क्षेप बन्द हो गये, उस का शरीर शिथिल, नि स्पन्द हो गया··

जब सूर्य का प्रकाश हुआ, तब मैंने देखा, वह मेरे चरणो मे पडी है, उस का विवस्त्र और सज्ञाहीन शरीर पीला पड गया था, और उस के अग नीले पड गये थे···उस के पास ही उस का फटा हुआ एकमात्र वस्त्र रक्त से भीगा हुआ पडा था—और उस के ऊपर एक मलिन, दुर्गन्धमय मासपिंड···और वर्षा के प्रवाह मे वह रक्त धुल कर, बह कर, बहुत दूर तक फैल कर कीचड को लाल कर रहा था···

कैसी भैरव थी वह आहुति !

क्या यही है मानवो का प्रेम !

शायद मेरी धारणा गलत है। शायद मेरे अपने प्रेम की उच्छृङ्खलता ने मेरी कल्पना को भी उद्भ्रान्त कर दिया है। मानव अल्पायु हो कर भी इतने नीच हो सकते हैं, इस का सहसा विश्वास नही होता ! पर जब मुझे ध्यान हो आता है कि मेरी जडें दो ऐसी बलियो के रक्त मे सिक्त है, जिन के अन्त का एकमात्र कारण यही था, जिसे वे मानव-प्रेम कहते है, तब मुझे मानवता के प्रति ग्लानि होने लगती है। पर उन दोनो का बलिदान प्रेम की वेदी पर हुआ था, या इन मानवों के समाज की, या वासना की ? वह स्त्री तो वचित थी, उस ने तो प्रेम के उत्तर मे वासना ही पायी थी। पर उस का अपना प्रेम तो दूषित नही था, वह तो वासना की दासी नही थी। और समाज—समाज ने तो पहले ही उस ठुकरा दिया था समाज ने तो उस से कोई सम्बन्ध नही रखा था। और उस अजात शिशु ने समाज का क्या बिगाडा था, वह वासना मे कब पडा था ?

मेरे नीचे उस पत्थर की पूजा करने कितनी ही स्त्रियां आती थी, वे तो सभी प्रसन्नवदना होती थी, उन की बात मै क्यो सोचता ? मानव-प्रेम की असफलता का एक यही उदाहरण मैंने देखा था, उसी पर क्यों अपना चित्त स्थिर किये हूँ ? वे जो इतनी आच्छादित, अवगुठित, अलकृत चपलाएँ वहाँ आती थी और सहज स्वभाव से या कभी-कभी सम्भ्रम से मेरे सिन्दूर-तिलक

लगातीं और मेरा आलिंगन कर लेती थी, उन के प्रणय तो सभी सुखमय होते होंगे, उन का प्रेम तो इतना विमूढ और विवेकहीन नहीं होता होगा ? और फिर मानवों का तो प्रेम के विषय में आत्म-निर्णय करने का अधिकार होता है ? उन के जीवन में तो ऐसा नहीं होता कि विधाता—या मनुष्य ही—जिस वल्लरी को उन के निकट अंकुरित कर दें, उसी से प्रणय करने को बाध्य हो जाना पड़े ?

पर मैंने सुना है—गाँव से पूजा के लिए आने वाली उन स्त्रियों के मुख से ही सुना है—कि उन के समाज में भी इस प्रकार के अनिच्छित बन्धन होते हैं। एक बार मैंने देखा भी था—देखा तो नहीं था, किन्तु कुछ ऐसे दृश्य देखे थे जिस से मुझे इस की अनुभूति हुई थी ···

कभी-कभी, सन्ध्या के पक्षि रव-कूजित एकान्त में, मुझे एकाएक इस बात का उद्बोधन होता है कि मेरा जीवन—इतना लम्बा जीवन !—व्यर्थ बीत गया ··इस वल्लरी के अनिच्छित बन्धन से—पर जो मुझे पागल कर देता है, मेरे हृदय में उथल-पुथल मचा देता है, मेरे शरीर को हर्ष और व्यथा से विह्वल कर देता है, जिस से छूट जाने की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता, उस बन्धन को अनिच्छित कैसे कहूँ ? इस उद्बोधन की उग्रता को मिटाने के लिए मैं कितना प्रयत्न करता हूँ, पर वह जाती नहीं ··मेरे हृदय में यह निरर्थकता का ज्ञान, यह जीने की इच्छा, यह संचित शक्ति का व्यय करने की कामना, किसी और भाव के लिए स्थान ही नहीं छोड़ती ! मैं चाहता हूँ, अपने व्यक्तित्व को प्रकृति की विशालता में मिटा दूँ, इस निरर्थकता के ज्ञान को दबा दूँ और जैसा कभी अपने यौवन-काल में था, वैसा ही फिर से हो जाऊँ, पर कहाँ एक बूढ़े वृक्ष की चाह और कहाँ विधाता का अमिट निर्देश ! मैं बोलना चाहता हूँ—मेरे जिह्वा नहीं है, हिलना चाहता हूँ—मेरे पैर नहीं हैं; रोना चाहता हूँ—पर उस के लिए आँखें ही नहीं हैं तो आँसू कहाँ से आयेंगे···मैं चाहता हूँ, किसी से प्रेम कर पाऊँ—इतना विशाल, इतना अचल, इतना चिरस्थायी प्रेम कि संसार उस से भर जाये, पर मेरी अपनी विशालता, मेरी अपनी अचलता, मेरा अपना स्थायित्व इस कामना में बाधा डालता है ! मैं प्रेम की अभिव्यक्ति कर नहीं सकता, और जब करना चाहता हूँ, तब लज्जित हो जाता हूँ···जितना विशाल मैं हूँ, इतनी विशाल धुरा अपने प्रेम के लिए कहाँ पाऊँ ? और किसी अकिंचन

वस्तु से प्रेम करना प्रेम की अवहेलना है

यह अमरवल्लरी—इस म स्थायित्व है दृढता है पर यह चचला भी है, और इस म विशालता भी नही है—यह तो मेरे ही शरीर के रस म पुष्ट होती है।

एक स्मृति-सी मरे अन्तस्तल म घूम रही है पर सामने नही आती मुझे उस का उपस्थिति का आभास ही होता है। जिस प्रकार कुहरे म जलता हुआ दीपक नही दीख पडता पर उस स आलोकित तुषारपुज दीखता रहता उसी तरह स्मृति स्वय नही प्रकट होती परन्तु स्मृति मेरे अन्तस्तल म काँप रहा है।

उस स्मृति का सम्बन्ध इसी प्रेम की विशालता स था इतना मैं जानता हूँ पर क्या सम्बन्ध था नही याद आता

एक और घटना याद आती है जिस ने किसा समय एकाएक विद्युत की तरह मेरे हृदय को आलोकित कर दिया था—पर इतने प्रदीप्त आलाक म कि मैं बहुत देर के लिए चकाचौंध हो गया था

उन दिनो मेरी पूजा—या मेरे चरणस्थित देवता की पूजा—नही होती थी। जब से वहाँ रक्त प्रलिप्त देह और मासपिंड पाया गया तब स लोग शायद मुझ से डरन लगे थे। कभी कभी सध्या को जब कोई बटोही उधर से निकलता था तब एक बार सम्भ्रम से मेरी ओर देख कर जल्दी जल्दी चलने लग जाता था। दिन म कभी कभी लडके उस धूल भरे पथ म आ कर खडे हो जाते और वही से मेरी ओर इगित कर के चिल्लाते भुतहा! भुतहा! मैं उन का अभिप्राय नही समझता था फिर भी उन के शब्दो म उपेक्षा और तिरस्कार का स्पष्ट भाव मुझे बहुत दुख देता था

क्या मानवा की भक्ति उतनी ही अस्थायिनी है जितना उन का प्रेम? अभी उस दिन मैं गाव के विधाता की तरह पूजित था इतनी स्त्रिया मेरे चरणो मे सिर नवाती थी और प्रार्थना करती थी देवता मेरा दुख मिटा दो! मुझम दुख मिटाने की शक्ति नही थी पर एक मूक सहानुभूति तो थी। मेरी अचलता उन की मेरे प्रति श्रद्धा कम नही करती थी बढाती ही था। पर जब उस स्त्री ने आ कर मेरे चरणो म अपना दुख स्वय मिटा लिया तब उन के हृदय से आदर उठ गया! इतने दिन स मैं दुख की कथाएँ सुना करता था देखा कुछ नही था। उस दिन मैंने देख लिया कि मानवता का दुख कहा है

पर उस ज्ञान से ही मैं कलुषित हो गया ! जब मैं दुःख जानता ही नहीं था, तब इतने प्रार्थी आते थे। अब मैं जान गया हूँ, तब वे दुःख-निवारण की प्रार्थना करने नहीं आते, मेरा ही दुःख बढ़ा रहे हैं।

भक्ति तो अस्थायिनी है ही—भक्ति और प्रेम का कुछ सम्बन्ध है। मैं अभी तक प्रेम ही को नहीं समझ पाया हूँ, यद्यपि इस की मुझे स्वयं अनुभूति हुई है। भक्ति—भक्ति मैंने देखी ही तो है !

जब मेरे वे उन्माद के दिन बीत गये, जब मेरी त्वचा में कठोरता आने लगी, मेरी शाखाओं में गाँठें पड़ गयी, तब मुझे प्रेम का नया उद्बोधन हुआ। मेरे बिखरे हुए विचारों में फिर एक नये आशा-भाव का संचार हुआ, संसार मानो फिर से संगीत से भर गया···

कीर्त्ति—अच्छी या बुरी—कुछ भी नहीं रहती। एक दिन मैंने अपनी सत्कीर्त्ति को धूल में मिलते देखा था, एक दिन ऐसा आया कि मेरी कुकीर्त्ति भी बुझ गयी। सत्कीर्ति का मन्दिर एक क्षण ही में गिर गया था, कुकीर्त्ति के मिटने में वर्षों लग गये—पर वह मिट गयी। लोग फिर मेरे निकट आने लगे, पूजा-भाव से नहीं, उपेक्षा से। गाँव की स्त्रियाँ फिर मेरे चरणों में बैठने लगीं, आदर से नहीं, दर्प से, या कभी थकी होने के कारण। बालिकाएँ फिर मेरे आसपास एकत्र हो कर नाचने लगीं, न श्रद्धा से, न तिरस्कार से, केवल इस लिए कि घर से भाग कर वहाँ आ जाने में उन्हें आनन्द आता था। मेरे टूटे हुए मन्दिर का पुनर्निर्माण तो नहीं हुआ, पर उस के भग्नावशेष पर चूना फिर गया !

पर उस खँडहर से ही नयी आशा उत्पन्न हुई !

जब प्रभात होता था, मेरा शिखर तोतों के समूह से एकाएक ही कूजित हो उठता था, शीतल पवन में मेरे पत्ते धीरे-धीरे काँपने लगते थे, न-जाने कहाँ से आ कर कमला की सुरभि वातावरण को भर देती थी, इस बल्लरी के शरीर में भी एक उल्लास के कम्पन का अनुभव मुझे होता था, जब सारा संसार एक साथ ही कम्पित, सुरभित, आलोकित हो उठता था, तब वह आती थी और उन खेतों में, जिन में छटी हुई घास में, अर्धविस्मृत अलसी और पोस्त के फूलों का प्रेत नाच रहा था, बहुत देर तक इधर-उधर घूमती रहती थी। फिर जब धूप बहुत बढ़ जाती थी, जब उस का मुख श्रम से आरक्त हो जाता

था, और उस पर स्वेद-बिन्दु चमकने लगते थे, तब वह हँसती हुई आ कर मेरी छाया में बैठ जाती थी।

उस की वेश-भूषा विचित्र थी। गाँव की स्त्रियों में मैंने यह नहीं देखी थी। वह प्रायः श्वेत या नीला आभरण पहनती थी, और उस के केश आँचल में ढके नहीं रहते थे। उस का मुख नमित नहीं रहता था वह सदा सामने की ओर देखती थी। उस की आँखों में भीरुता नहीं थी, अनुराग था और साथ ही थी एक अव्यक्त ललकार— मानो वे संसार से पूछ रही हों, 'अगर मैं तुम्हारी रीति को तोड़ूँ तो तुम क्या कर लोगे ?"

वह वहाँ समाधिस्थ-सी हो कर बैठ रहती, उस के मुख पर का वह मुग्ध भाव देख कर मालूम होता कि वह किसी अकथनीय सुख की आन्तरिक अनुभूति कर रही हो। मैं सोचता रहता कि कौन-सी ऐसी बात हो सकती है, जिस की स्मृतिमात्र इतनी सुखद है ! कितने ही दिन वह आती रही, नित्य ही उस के मुख पर आत्म विस्मृति का वह भाव जाग्रत् होता नित्य ही वह एक घंटे तक ध्यानस्थ रहती और आ कर चली जाती, पर मुझे उस पर परमानन्द के निर्झर का स्रोत न मालूम होता।

फिर एक दिन एकाएक भेद खुल गया— जिस परिहासमय देवता की उपासना मैंने की थी, वह भी उसी की उपासिका थी परन्तु परिणाम हमारे कितने भिन्न थे !

एक दिन वह सदा की भाँति अपने ध्यान में लीन बैठी थी। उस गाँव से आने वाले पथ पर एक युवक धीरे-धीरे आया, और मेरे पीछे छिप कर उसे देखने लगा। उस का ध्यान नहीं हटा, वह पूर्ववत् बैठी रही। जब उस की समाधि समाप्त हो गयी, तब वह उठ कर जाने लगी, तब भी उस ने नवागन्तुक को नहीं देखा।

वह युवक स्मित-मुख से धीरे-धीरे गाने लगा

चूनरी विचित्र स्याम सजिकै मुबारक जू
ढाँकि नख-सिख में निपट सकुचाति है,
चन्द्रमैं लपेटि कै समटि कै नखत मानो
दिन को प्रणाम किये रात चली जाति है !

वह चौंक कर घूमी, फिर बोली, 'तुम—यहाँ !" उस के बाद जो-कुछ

हुआ, उस का वर्णन मैं नहीं कर सकता। वह था कुछ नहीं—केवल कोमल शब्दों का विनिमय, आँखों का इधर-उधर भटक कर मिलन और फिर नमन—बस। पर मेरे लिए उस में एक अभूतपूर्व आनन्द था—न-जाने क्यों।

कुछ दिन तक नित्य यही होता रहा। किसी दिन वह पहले आती, किसी दिन युवक, पर दोनों ही के मुख पर वह विमुग्धता का, आत्म विस्मृति का, भाव रहता था। जिस दिन युवक पहले आता, वह मेरी छाया में बैठ कर गाता

नामसमेत कृतसंकेत वादयते मृदुवेणुम्—
बहुमनुतेऽनु ते तनुसंगतपवनचलितमपि रेणुम्।

और जिस दिन वह पहले आती, वह उन खेतों में घूमती रहती, कभी-कभी ओस से भीगा हुआ एक-आध तृण उठा कर दाँतों से धीरे-धीरे कुतरने लगती।

एक दिन वह घूमते-घूमते थक गयी, और मेरे पत्तों की सघन छाया में इस वल्लरी के बन्धन को मेखलावत् पहन कर बैठ गयी। युवक नहीं आया।

दोपहर तक वह अकेली बैठी रही—उस के अंग अंग में प्रतीक्षा थी, पर व्यग्रता नहीं थी। जब वह नहीं आया, तब वह कहने लगी—न-जाने किसे सम्बोधित कर के, मुझे या इस वल्लरी को, या अपने आप को, या किसी अनुपस्थित व्यक्ति को—कहने लगी

"यह उचित ही हुआ। और क्या हो सकता था? अगर कर्तव्य भूल कर सुख ही खोजने का नाम प्रेम होता, तो—! मैं जो-कुछ सोचती हूँ, समझती हूँ अनुभव करती हूँ, उस का अणुमात्र भी व्यक्त नहीं कर सकी—पर इस से क्या? जो-कुछ हृदय में था—है—उस से मेरा जीवन तो आलोकित हो गया है। प्रेम में दुःख-सुख, शान्ति और व्यथा, मिलन और विच्छेद, सभी हैं, बिना वैचित्र्य के प्रेम जी नहीं सकता···नहीं तो जिसे हम प्रेम कहते हैं, उस में सार क्या है?"

वह उठी और चली गयी। मेरी छाया से ही निकल कर नहीं, मेरे जीवन से निकल गयी। पर उस के मुख पर मलिनता नहीं थी, अब भी वही आत्म-विस्मृति उस की आँखों में नाच रही थी···

मेरे लिए उस का वही अवसान हो गया। उस के साथ ही मानवी प्रेम की मेरी अनुभूति भी समाप्त हो गयी। शायद प्रेम की सब से अच्छी व्याख्या ही यही है कि इतने वर्षों के अन्वेषण के बाद भी मेरा सारा ज्ञान एक प्रश्न ही मे समाप्त हो जाता है—"नही तो, जिसे हम प्रेम कहते हैं, उस मे सार क्या है?" किन्तु इतने वर्षों मे जिस अभिप्राय को, जिस सार्थकता को, मैं नही खोज पाता था, वह उस स्त्री के एक ही प्रश्न मे मुझे मिल गयी। उस दिन मैं समझने लगा कि अभिव्यक्ति प्रेम के लिए आवश्यक नही है उस ने कहा तो था, "जो कुछ मेरे हृदय मे था—है—उस से मेरा जीवन तो आलोकित हो गया है!" मैं अपना प्रेम नही व्यक्त कर सका, मेरा जीवन एक प्रकार से न्यून, अपूर्ण रह गया पर इस से क्या? उस दीप्तिमय आत्म-विस्मृति का एक क्षण भी इतने दिनो की व्यथा को सार्थक कर देता है!

मैं देखता हूँ, ससार दो महच्छक्तियो का घोर सघर्ष है। ये शक्तियाँ एक दूसरे से भिन्न नही है एक ही प्रकृति के दो विभिन्न पथ है। एक सयोजक है—इस का भास फूलो मे भौरो के मिलन म, विटप से लता के आश्लेषण मे, चन्द्रमा से ज्योत्स्ना के सम्बन्ध मे, रात्रि से अन्धकार के प्रणय मे उषा से आलोक के ऐक्य मे, होता है, दूसरी शक्ति विच्छेदक है—इस का भास आँधी से पेडो के विनाश मे, विद्युत् से लतिकाओ के झुलसने मे, दावानल से वनो के जलने मे, शकुन्त द्वारा कपोता के मारे जाने म होता है। कभी-कभी दोनो शक्तियों का एक ही घटना मे ऐसा सम्मिलन होता है कि हम भौचक हो जाते हैं, कुछ भी समझ नही पाते। प्रेम भी शायद ऐसी ही एक घटना है।

कभी-कभी मुझे ऐसा मालूम होता है कि इतना कुछ देख और पा कर भी मैं वचित ही नही, अछूत, परित्यक्त रह गया हूँ। मुझे बन्धुत्व की, सखाओं की कामना होती है, पर पीपल के वृक्ष के लिए बन्धु कहाँ है, समवेदना कहाँ है, दया कहाँ है, कभी पर्वत को भी सहारे की आवश्यक्ता होती है? मै इतना शक्तिशाली नही हूँ कि बन्धुओ की कामना—उग्र कामना—ही मेरे हृदय के अन्तस्तल मे न हो, किन्तु फिर भी देखने मे मैं इतना विशाल हूँ, दीर्घकाय हूँ, दृढ हूँ, कि मुझ पर दया करने का, मेरे प्रति बन्धुत्व भाव का ध्यान भी किसी को नही होता! *उत्पत्ति और प्रस्फुटन की असख्य क्रियाएँ* मेरे चारो ओर होती हैं, और बीच मे मैं वैसे ही अकेला खडा रह जाता हूँ, जैसे पुष्पित

उपत्यकाओ से घिरा हुआ पर्वत-शृग ··

पर उसी समय मेरे हृदय मे यह भाव उठता है कि मुझे यह दुखडा रोने का कोई अधिकार नही है। मैंने जीवन मे सब-कुछ नही पाया, बहुत अनुभूतियो म मैं वचित रह गया, पर जीवन की सार्थकता के लिए जो-कुछ पाया है, वह पर्याप्त है। न जाने कितनी बार मैंने वसन्त की हँसी देखी है, पक्षियो का रव सुना है, न-जाने कितनी देर मैंने मानवो की पूजा पायी है, न जाने कितनी सरलाओ की श्रद्धापूर्ण अजलि प्राप्त की है, और उन सब से अधिक न जाने कतनी बार मुझे इस अमरवल्लरी के स्पर्श म एक साथ ही वसन्त के उल्लास का, ग्रीष्म के ताप का, पावस की तरलता का, शरद् की स्निग्धता का, हेमन्त की शुभ्रता का और शिशिर के शैत्य का अनुभव हुआ है, न-जाने कितनी बार इस के बन्धनो मे बँध कर और पीडित हो कर मुझे अपने स्वातन्त्र्य का ज्ञान हुआ है! एक व्यथा, एक जलन, मेरे अन्तस्तल मे रमती गयी है—कि मैं मूक ही रह गया, मेरी प्रार्थना अव्यक्त ही रह गयी—पर मुझे इस ध्यान मे सान्त्वना मिलती है कि मैं ही नही, सारा ससार ही मूक है ' जब मुझे अपनी विवशता का ध्यान होता है, तो मैं मानव की विवशता देखता हूँ, जब भावना होती है कि विश्वकर्मा ने मेरी प्रार्थना की उपेक्षा कर के मेरे प्रति अन्याय किया है, तब मुझे याद आ जाता है कि मैं स्वय भी तो इस सहिष्णु पृथ्वी की मूक प्रार्थना का, इस की अभिव्यक्ति-चेष्टा का, नीरव प्रस्फुटन ही हूँ!

जिज्ञासा

•

ईश्वर ने सृष्टि की।

सब ओर निराकार शून्य था और अनन्त आकाश मे अन्धकार छाया हुआ था। ईश्वर ने कहा—प्रकाश हो! और प्रकाश हो गया। उस के आलोक मे ईश्वर ने आकाश के असख्य टुकडे किये और प्रत्येक म एक एक तारा जड दिया। तब उस ने सौर मण्डल बनाया। और उस जान पडा कि उस की रचना अच्छी है।

तब उस ने वनस्पति पौधे भाड झखाड फल फूल लता बेलें उगायी और उन पर मँडराने को भौरे और तितलिया गाने को भीगुर भी बनाये।

तब उस ने पशु-पक्षी भी बनाये और उस जान पडा कि उस की रचना अच्छी है।

लकिन उसे शान्ति नही हुई। तब उस ने जीवन म वैचित्र्य लाने के लिए दिन और रात आधी पानी बादल मेह धूप छाह इत्यादि बनाय और फिर कीड मकोडे मकडी मच्छर बर्रे बिच्छू और अन्त म साप भी बनाय।

लेकिन फिर उसे सन्तोष नही हुआ। तब उस ने ज्ञान का नेत्र खोलकर सुदूर भविष्य मे देखा। अन्धकार म पृथ्वी और सौर लोक पर छायी हुई प्राणहीन धुन्ध मे कही एक हलचल फिर उस हलचल मे धीरे धीरे एक आकार एक शरीर जिस म असाधारण कुछ नही है लेकिन फिर भी सामर्थ्य है एक आत्मा जो निर्मित हो कर भी अपने आकार के भीतर बँधती नही बढती ही जाती है एक प्राणी जो जितनी बार धूल को छूता है नया ही हो कर अधिक प्राणवान हो कर उठ खडा होता है

ईश्वर ने जान लिया कि भविष्य का प्राणी यही मानव है। तब उस ने पृथ्वी पर से धुन्ध को चीर कर एक मुट्ठी धूल उठायी

ओर नही देखा। पुरुष ने आँख मिलाने की कोशिश की, तो पाया कि स्त्री केवल उसी की ओर न देख रही हो, ऐसा नहीं है, वह किसी की ओर भी नही देख रही है, उस की दृष्टि मानो अन्तर्मुखी हो गयी है, अपने भीतर ही कुछ देख रही है और उसी दर्शन मे एक अनिर्वचनीय तन्मयता पा रही है जब अन्धकार हुआ, तब भी स्त्री उसी तद्‌गत-भाव म लेट गयी, पुरुष को न देखती हुई, बल्कि उस की ओर से विमुख, उसे कुछ परे रखती हुई •

पुरुष उठ बैठा। नेत्र मूँद कर वह ईश्वर से प्रार्थना करने लगा। उस के पास शब्द नही थे, भाव नही थे, दीक्षा नही थी। लेकिन शब्दो से, भावो से, प्रणाली के ज्ञान स परे जो प्रार्थना है, जो सम्बन्ध के सूत्र पर आश्रित है, वही प्रार्थना उस म से फूट निकलने लगी•••

लेकिन विश्व फिर भी वैसा ही निश्चल पडा रहा, गति उसमे नही आयी। स्त्री रोने लगी। उस के भीतर कही दर्द की एक हूक उठी, वह पुकार कर कहने लगी, *क्या होता है मुझे, क्या होता है मुझे*! मैं बिखर रही हूँ, मैं मिट्टी मे मिल जाऊँगी•••

पुरुष अपनी निस्सहायता म कुछ भी नही कर सका, उस की प्रार्थना और भी आतुर, और विकल, और भी उत्सर्गमयी हो गयी और जब वह स्त्री का दु ख नही देख सका, तब उस ने नेत्र खूब ज़ोर से भीच लिये •

निशीथ के निविड अन्धकार मे स्त्री ने पुकार कर कहा—ओ मेरे ईश्वर—ओ मेरे पुरुष—यह देखो!

पुरुष ने पास जा कर देखा, टटोला और क्षण-भर स्तब्ध रह गया। उस की आत्मा के भीतर विस्मय की, भय की एक पुलक उठी। उसने धीरे से स्त्री का सिर उठा कर अपनी गोद मे रख लिया •

फूटते हुए कोमल प्रकाश मे उस ने देखा, स्त्री उसी के एक बहुत छोटे, बहुत स्निग्ध, बहुत प्यारे प्रतिरूप को अपनी छाती से चिपटाये है और थकी हुई सो रही है। उस का हृदय एक विराट् विस्मय से, एक दुस्सह उल्लास से भर आया और उस के भीतर मे एक प्रश्न फूट निकला, ईश्वर, यह क्या सृष्टि है, जो तूने नही की!

ईश्वर ने कोई उत्तर नही दिया। नव मानव ने साँप से पूछा—ओ ज्ञान के रक्षक साँप, बताओ, यह क्या है, जिस ने मुझे तुम्हारा और ईश्वर का सम-

कक्ष बना दिया है—एक स्रष्टा—बताओ, मैं जानना चाहता हूँ !

उस के यह प्रश्न पूछते ही अनहोनी घटना घटी। पृथ्वी घूमने लगी, तारे दीप्त हो उठे, फिर सूर्य उदित हो आया और दीप्त हो उठा, बादल गरज उठे, बिजली तडप उठी···विश्व चल पडा !

साँप ने कहा—मैं हार गया। ईश्वर ने ज्ञान मुझ से छीन लिया। और उस की गुंजलक धीरे धीरे खुल गयी।

ईश्वर ने कहा—मेरी सृष्टि सफल हुई, लेकिन विजय मानव की है। मैं ज्ञानमय हूँ, पूर्ण हूँ, मैं कुछ खोजता नही। मानव मे जिज्ञासा है, अत वह विश्व को चलाता है, गति देता है

लेकिन मानव की उलझन थी, अस्तित्व की समस्या थी। वह पुकार-पुकार कर कहता जाता था—मैं जानना चाहता हूँ ! मैं जानना चाहता हूँ !

और जितनी बार वह प्रश्न दुहराता था, उतनी बार सूर्य कुछ अधिक दीप्त हो उठता था, पृथ्वी कुछ अधिक तेजी से घूमने लगती थी, विश्व कुछ अधिक गति स चल पडता था—और मानव के हृदय का स्पन्दन भी कुछ अधिक भरा हो जाता था।

आज भी जब मानव यह प्रश्न पूछ बैठता है, तब अनहोनी घटनाएँ होने लगती हैं।

हारिति

•

वह सुन्दरी नहीं थी। उस के मुख पर सौन्दर्य की आभा का स्थान तेज की दीप्ति ने ले लिया था। उस की आँखों में कोमलता न थी, वहाँ कृतनिश्चय की दृढ़ता ही झलकती थी। उस के सिर की शोभा उस पर की अलकावलियों मे नहीं थी, वरन कटे हुए बालों के नीचे उस उघड़े हुए प्रशस्त ललाट म।

कहते हैं, स्त्री के जीवन मे आनन्द है, स्नेह है, प्रेम है, सुख है। उस के जीवन म वे सब कहाँ थे? जब से उस ने होश सँभाला, जब से उस ने अपने चारों ओर चीन से प्राचीन देश का विस्तार देखा, जब से उस ने अपनी चिरमार्जित सभ्यता का तत्त्व समझा, तब से उस के जीवन म कितनी दुःखमय घटनाएँ हुई थी! जब वह छ वर्ष की थी, तभी उस के पिता को जर्मन सेना ने तोप के मोहरे से बाँध कर उड़ा दिया था, क्योंकि वे 'बाक्सर' नामक गुप्त-समिति के सदस्य थे। उस के बाद 1900 वाले बाक्सर'-विप्लव मे, जब उस की आयु 11 वर्ष की भी नहीं हुई थी, जर्मन और अंगरेज़ सेना ने आ कर उस के छोटे-से गाँव म आग लगा दी थी। वहाँ के स्त्री-पुरुष सब जल गये—उन मे उस की वृद्धा विधवा माता भी थी। केवल उसे, उस अनाथिनी को, जो उस समय सीक्याग नदी से पानी भरने गयी हुई थी, न-जाने किस अज्ञात उद्देश्य की पूर्ति के लिए, किस भैरव यज्ञ मे आहुतिरूप अर्पण करने के लिए, विधाता ने बचा लिया। वह गाँव की ओर आयी, तो दो-चार बचे हुए लोग रोते चिल्लाते भागे जा रहे थे। वे उसे भी खींच कर ले गये। वह बेचारी अपनी माता के शरीर की राख भी न देख पायी। उस दिन से कैसा भीषण रहा था उस का जीवन! फूस की झोपड़ियों मे रहना, या कभी-कभी सीक्याग के किनारे, टिड्डी-दल की तरह एकत्रित, अँधेरी, गन्दी, धुएँ से काली डोंगियों मे पड़े रहना, उस के अभिवावक, गरीब

मछुए, दिन मे अफीम खा कर सो रहते। वह उस गर्मी म बन्द एक कोने मे बैठ कर सोचा करती, कब तक देश की यह दशा रहेगी, कब तक विदेशी सिपाही इस प्रकार पहले हमारे घर जलायेंगे और फिर हमे दण्ड देंगे, हमारे देश से करोड़ो रुपये ले जायेंगे ..

आज वह युवती थी। अभी अविवाहिता थी, पर कुमारियो के जीवन मे जो आनन्द होता है, वह उस ने अपने निर्दय जीवन मे कभी नही पाया। उन मछुआ की सदय, किन्तु निर्धन, शरण से निकल कर उसने कुली का काम किया था, और उस से संचित धन मे अपना शिक्षण किया था। अब वह कैंटन-सेना मे जासूस का काम करती थी।

वह सुन्दरी नही थी। उस के जीवन ने सौन्दर्य के लिए कोई स्थान ही न छोड़ा था। उस की एकमात्र शोभा—उस के केश—भी आज नही रहे थे। आज वह जासूस का काम करने के लिए सर्वथा प्रस्तुत थी। वह प्राय पुरुष-वेश मे ही रहती, कभी-कभी आवश्यकता होने पर ही स्त्री-वेश पहन लिया करती। उस की सहचरियाँ जब कभी उस से इस विषय म प्रश्न करती, तो वह कहती, 'जिस देश मे पुरुष भी गुलाम हो, उस मे स्त्री होने म मर जाना अच्छा है।"

उस की बात शायद सच भी थी। चीन की दशा उन दिनो बहुत बुरी थी—अशान्ति सब ओर फैली हुई थी। इधर कैंटन मे सनयात-सेन अपनी सेना का संगठन कर रहे थे। उधर मे समाचार आया था कि मचूरिया से सम्राट् का सेनापति युवान शिकाई बहुत बडी सेना ले कर आ रहा है। कैंटन की औद्योगिक अशान्ति का स्थान अब एक नये प्रकार के सजीवन ने ले लिया। जिधर आँख उठती, उधर ही लोग वर्दियाँ पहने नजर आते। कैंटन-सेना स्वयं-सेवी थी, युवान शिकाई की सेना मे सभी वेतन पा कर काम करते थे। कैंटन-सेना के सैनिकों के आगे साम्य का आदर्श था, युवान शिकाई के आगे व्यक्तिगत लाभ का। कैंटन-सैनिकों के हृदय मे प्रजातन्त्र की चाह थी, युवान शिकाई के सैनिक साम्राज्यवाद की हिली हुई नीव फिर स जमाना चाहते थे। कैंटन की सेना विश्वास के कारण लडती थी, युवान शिकाई की लोभ के कारण। पर कैंटन के सैनिक बहुत थोड़े थे, और उनके विरुद्ध युवान शिकाई एक शस्त्र-वेष्टित प्रलय-लहरी लिये बढ़ा आ रहा था। उन थोड़े-से गुप्तचरो को दिन-

हारिति



वह सुन्दरी नही थी। उस के मुख पर सौन्दर्य की आभा का स्थान तेज की दीप्ति ने ले लिया था। उस की आँखों मे कोमलता न थी, वहाँ कृतनिश्चय की दृढता ही झलकती थी। उस के सिर की शोभा उस पर की अलकावलियो में नही थी, वरन कटे हुए बालो के नीचे उस उघडे हुए प्रशस्त ललाट मे।

कहते हैं, स्त्री के जीवन मे आनन्द है, स्नेह है, प्रेम है, सुख है। उस के जीवन म वे सब कहाँ थे ? जब से उस ने होश सँभाला, जब से उस ने अपने चारो ओर चीन मे प्राचीन देश का विस्तार देखा, जब से उस ने अपनी चिरमार्जित सभ्यता का तत्त्व समझा, तब से उस के जीवन मे कितनी दु खमय घटनाएँ हुई थी ! जब वह छ वर्ष की थी, तभी उस के पिता को जर्मन सेना ने तोप के मोहरे से बाँध कर उडा दिया था, क्योकि वे 'बाक्सर' नामक गुप्त-समिति के सदस्य थे। उस के बाद 1900 वाले 'बाक्सर' विप्लव मे, जब उस की आयु 11 वर्ष की भी नही हुई थी, जर्मन और अगरेज सेना ने आ कर उस के छोटे-से गाँव म आग लगा दी थी। वहाँ के स्त्री-पुरुष सब जल गये—उन मे उस की वृद्धा विधवा माता भी थी। केवल उसे, उस अनाथिनी को, जो उस समय सीक्याग नदी से पानी भरने गयी हुई थी, न-जाने किस अज्ञात उद्देश्य की पूर्ति के लिए, किस भैरव यज्ञ मे आहुतिरूप अर्पण करने के लि , विधाता ने बचा लिया। वह गाँव की ओर आयी, तो दो-चार बचे हुए लोग रोते-चिल्लाते भागे जा रहे थे। वे उसे भी खीच कर ले गये। वह बेचारी अपनी माता के शरीर की राख भी न देख पायी। उस दिन से कैसा भीषण रहा था उस का जीवन ! फूस की झोपडियो मे रहना, या कभी-कभी सीक्याग के किनारे, टिड्डी-दल की तरह एकत्रित, अँधेरी, गन्दी, धुएँ से काली डोगियों मे पडे रहना, ' उस के अभिवावक, गरीब

मछुए, दिन मे अफीम खा कर सो रहते। वह उस गर्मी मे बन्द एक कोने में बैठ कर सोचा करती, कब तक देश की यह दशा रहेगी, कब तक विदेशी सिपाही इस प्रकार पहले हमारे घर जलायेंगे और फिर हम दण्ड देंगे, हमारे देश से करोडो रुपये ले जायेंगे।

आज वह युवती थी। अभी अविवाहिता थी, पर कुमारियो के जीवन में जो आनन्द होता है, वह उस ने अपने निर्दय जीवन म कभी नही पाया। उन मछुआ की सदय, किन्तु निर्धन, शरण से निकल कर उसने कुली का काम किया था, और उस मे संचित धन मे अपना शिक्षण किया था। अब वह कैंटन-सेना मे जासूस का काम करती थी।

वह सुन्दरी नही थी। उस के जीवन ने सौन्दर्य के लिए कोई स्थान ही न छोडा था। उस की एकमात्र शोभा—उस के केश—भी आज नही रहे थे। आज वह जासूस का काम करने के लिए सर्वथा प्रस्तुत थी। वह प्राय पुरुष-वेश मे ही रहती, कभी-कभी आवश्यकता होने पर ही स्त्री-वेश पहन लिया करती। उस की सहचरियाँ जब कभी उस से इस विषय मे प्रश्न करती, तो वह कहती, "जिस देश में पुरुष भी गुलाम हो, उस में स्त्री होने स मर जाना अच्छा है।"

उस की बात शायद सच भी थी। चीन की दशा उन दिनो बहुत बुरी थी—अशान्ति सब ओर फैली हुई थी। इधर कैंटन मे सनयात-सेन अपनी सेना का संगठन कर रहे थे। उधर से समाचार आया था कि मचूरिया से सम्राट् का सेनापति युवान शिकाई बहुत बडी सेना ले कर आ रहा है। कैंटन की औद्योगिक अशान्ति का स्थान अब एक नये प्रकार के संजीवन ने ले लिया। जिधर आँख उठती, उधर ही लोग वर्दियाँ पहने नजर आते। कैंटन-सेना स्वय-सेवी थी, युवान शिकाई की सेना मे सभी वेतन पा कर काम करते थे। कैंटन-सेना के सैनिको के आगे साम्य का आदर्श था, युवान शिकाई के आगे व्यक्तिगत लाभ का। कैंटन-सैनिको के हृदय मे प्रजातन्त्र की चाह थी, युवान शिकाई के सैनिक साम्राज्यवाद की हिली हुई नींव फिर से जमाना चाहते थे। कैंटन की सेना विरवाग के कारण लडती थी, युवान शिकाई की लोभ के कारण। पर कैंटन के सैनिक बहुत थोडे थे, और उनके विरुद्ध युवान शिकाई एक शस्त्र-वेष्टित प्रलय-लहरी लिये बढा आ रहा था। उन थोडे-से गुप्तचरो को दिन-

रात अनवरत काम करना पडता था, कभी इधर, कभी उधर, कभी सन्देश पहुँचाना, कभी खबरें लाना—कभी-कभी एक-एक रात मे चालीस-चालीस मील तक पैदल चलना पड जाता था, पर उन के सामने जो आदर्श था, हृदय मे जो दीप्ति थी, वह उन्हे प्रोत्साहित करती, उन्हें शक्ति प्रदान करती, उन्हें विमुख होने से बचाती थी।

पर सभी के हृदय मे वह आदर्श—वह दीप्ति नही थी। कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे, जिन के हृदय मे दूसरी इच्छाओं, दूसरी आशाओ, दूसरी स्मृतियो ने घर कर रखा था। जिन का ध्यान युवान शिराई की प्रगति की ओर नही, प्रणय की प्रगति की ओर था, जिनके मन मे दृढ विश्वास का आलोक नही, विरह का प्रज्वलन था। पर जिस तरह कसौटी पर चढने से पहले सभी धातुएँ सोने की तरह सम्मानित होती हैं, उसी तरह वे भी सघर्ष से पहले सच्चे वीरो मे गिने जाते थे। जिस महान् परीक्षा से पृथक्करण होना था, वह अभी आरम्भ नही हुई थी।

वह नित्यप्रति जब उठ कर अपनी मर्दानी वर्दी पहनती, तो किसी अनियन्त्रित शक्ति से प्रार्थना किया करती 'शक्ति' मुझे इतनी दृढता दे कि मैं उस आनेवाली परीक्षा मे उत्तीर्ण हो सकूँ। मैं स्नेह से वचित रही हूँ, अनाथिनी हूँ, प्रेम करने का अधिकार मुझे नहीं है—मैं दासी हूँ। कीर्ति की मुझे इच्छा नही है—गुलाम की क्या कीर्ति, पर मुझे पथ-भ्रष्ट न करना मुझे विश्वास के अयोग्य न बना देना।"

फिर वह शान्त हो कर अपने तम्बू से बाहर निकल आती, और दिन-भर दत्तचित्त होकर अपना काम करती। दिन मे उसे कभी अनिश्चय का, अविश्वास का, कातरता का अनुभव न होता। सभी उस के प्रशस्त ललाट, उस के प्रोज्ज्वल नेत्र, उस के तेजोमय मुख को देख कर विस्मित रह जाते।

घनघोर वर्षा हो रही थी। पाँच दिन से वह अविरल जल-धारा नही रुकी थी। वह पीतवर्णा, कृशकाया सीक्याग आज घहर-घहर करती बह रही थी। उस का पाट पहले से दुगना हो गया, और रग बदल कर लालिमामय हो रहा था। उसके किनारे, वही जहाँ दस वर्ष पहले अगरेज और जर्मन सेना ने

एक छोटे-से गाँव को अधिवासियों सहित जला दिया था, आज एक बड़ा फौजी शिविर था, और कितनी ही छोटी-छोटी छोलदारियाँ इधर-उधर लग रही थीं।

वर्षा हो रही थी, पर कैंटन के सेना के उस शिविर में उस की बिलकुल उपेक्षा थी। कितने ही सैनिक चुपचाप अपने स्थानों पर खड़े पहरा दे रहे थे। उनकी वर्दियाँ भीग गयी थीं। बूट कीचड़ से सन गये थे। हाथों की उँगलियों पर झुर्रियाँ पड़ गई थीं, पर वे अपने स्थानों पर सावधान खड़े थे।

रात बहुत बीत चुकी थी, छोलदारियों में अँधेरा था। केवल बीचवाले एक बड़े तम्बू में प्रकाश था। उसके बाहर बहुत-से पहरेदार थे। वे एक-दूसरे के सामने खड़े थे। फिर भी कोई किसी से बात नहीं कर रहा था ··

एकाएक भीतर से आवाज़ आयी, "क्वेनलुन !"

एक पहरेदार अन्दर गया, और क्षण-भर में बाहर आ कर छोलदारियों की ओर चला गया।

थोड़ी देर में वह लौट आया। अब वह अकेला न था। उस के साथ थी एक स्त्री, जिस का शरीर एक भूरे फौजी कम्बल से ढँका था, पर सिर खुला था, उस पर केश कटे हुए थे।

दोनों अन्दर चले गये।

अन्दर एक बड़े गैस-लैंप के प्रकाश में चार-पाँच अफसर बैठे हुए थे। एक कुछ चिट्ठियाँ पढ़ रहा था। एक ने दो तीन नक्शे अपने आगे बिछा रखे थे, और उन्हें ध्यान से देख रहा था—कभी-कभी पेंसिल से उन पर चिह्न भी लगा देता था। एक और बैठा हुआ लिख रहा था। उस की वर्दी की ओर देखने से मालूम पड़ता था कि वह कर्नल था। और बाकी सब उससे छोटे पद के थे। पहरेदार और वह स्त्री कर्नल के आगे सलाम करके खड़े हो गये। उस ने कुछ देर ध्यान से स्त्री की ओर देखा, और बोला, 'नम्बर 474 ?"

स्त्री ने शान्त भाव से उत्तर दिया, 'जी हाँ।"

"तुम कैंटन में दायना पेइफू का घर जानती हो ?"

"जी हाँ, वह नदी के किनारे ही एक लाल मकान में रहती है।"

"हाँ।"

कर्नल ने एक पत्र निकाला, और उस पर मुहर लगा कर उसे दे दिया।

फिर कहा, "नम्बर 474, यह पत्र उन्हें पहुँचाना है।"

"कब तक ?"

"वैसे तो कोई जल्दी नहीं है, पर बाढ़ आ रही है, शायद रात-रात में रास्ता बन्द हो जाय।"

"बहुत अच्छा।" कह कर वह जाने लगी।

जो व्यक्ति नक्शा देख रहा था, उस ने कहा, "कर्नल, यहाँ से कैंटन के रास्ते में तो युवान शिकाई की सेना पहुँच रही है।"

"हाँ, मुझे याद आ गया। नम्बर 474 !"

"जी हाँ।"

"हाकाऊ से समाचार ले कर तुम्हीं आयी थीं न ?"

"जी हाँ।"

"फिर तुम्हें पूरी स्थिति मालूम ही है। अपने साथ दस चुने हुए आदमी लेती जाओ।"

"बहुत अच्छा।"

"तुम्हारे पास वह जासूस का चिह्न है ?"

"नहीं, मैंने हाकाऊ से आते ही उसे वापस कर दिया था। अब आप दे दें।"

कर्नल ने जेब में से चाँदी का बना हुआ एक छोटा-सा चीनी अजगर निकाला, और देते हुए बोला, "हमें तुम पर पूरा विश्वास है।"

उस स्त्री ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह चुपचाप विचित्र चिह्न ले कर सलाम कर के चली गयी। कर्नल ने लिखना बन्द कर दिया। एक हल्की-सी सन्तुष्ट हँसी उस के मुँह पर दौड़ गयी।

"क्या बात थी, हारिति ?"

"कुछ नहीं, एक दौड़ और लगानी होगी।"

"कहाँ की ?"

"कैंटन।"

"पर अभी कल ही तो तुम हाकाऊ से आई थी ?"

"तो क्या ? काम तो करना ही होता है।"

"ये नब्बे मील अकेली ही जाओगी ?"

"नही, साथ दस आदमी और जायेंगे ।"

"पर जो बाढ़ आ रही है—"

"उस मे आगे बढ़ना होगा । अगर कैंटन का पुल पार कर लूँगी, तो हमारी जीत है ।"

"और अगर न कर पायीं तो ?"

"तैरना जानती हूँ—मछुओं के यहाँ पली हुई हूँ ।"

"हारिति !"

"हाँ, क्या है ?"

"मुझे साथ ले चलोगी ?"

"क्यो ?"

"यों ही तुम्हारे साथ जाने को जी चाहता है ।"

"पर फिर मेरे बाद यहाँ किसी की जरूरत हुई तो ?"

"तुम वापस नही आओगी ?"

"पता नही । कैंटन मे जो आज्ञा मिलेगी, वही माननी होगी । फिर शायद यहाँ से तुम को भी जाना पड़े—युवान शिकाई बहुत पास आ पहुँचा है ।"

"फिर तो तुम नही आओगी हारिति !"

हारिति कुछ बोली नही । उस ने चुपचाप अपनी मर्दानी वर्दी पहनी, और कोट के अन्दर वह चीनी अजगर लगा लिया । फिर बिना कुछ कहे ही वह छोलदारी मे बाहर निकल गयी ।

"क्वानयिन ! क्वानयिन !"

"कौन है ?"

"मैं हूँ, हारिति ।"

"इस समय क्या काम है, हारिति ?"

"काम मिला है, अभी जाना होगा । वर्दी पहन कर बाहर आओ ।"

"इतनी रात को काम ? कितनी दूर जाना है ?"

"बहुत दूर । समय नही है, जल्दी करो ।"

"सो, आया, और कौन साथ जाएगा ?"

"तुम्हीं नौ आदमी चुन कर ले आओ—मैं घोड़े चुनने जाती हूँ।"

"अच्छा, मैं फाटक पर अभी पहुँचता हूँ; पर इतने आदमी क्या होंगे?"

हारिति ने धीरे से कहा, "रास्ते में युवान शिकाई की सेना से मुठभेड़ की आशंका है।"

"अच्छा, फिर तो पूरी तैयारी करनी होगी?"

"हाँ, पर जल्दी।"

हारिति चली गयी। उस के बाद छोलदारी के अन्दर से बहुत कोमल ध्वनि आयी, 'हारिति, हारिति, कितनी दूर हो तुम? मैं कभी तुम्हारी बराबरी कर सकूँगा?"

हारिति वहाँ सुनने को या उत्तर देने को नहीं रुकी थी।

वर्षा धीमी हो रही थी। मेघराग का नाद घोरतर होता जा रहा था। उस की अरुणिमा बढ़ती जा रही थी···

वे ग्यारह व्यक्ति रास ढीली किये, घोड़े दौड़ाये जा रहे थे। कोई कुछ बोलता नहीं था, पर हर एक के मन में न-जाने क्या-क्या विचार उठ कर बैठ जाते थे। किसी के हृदय में भय न था, पर कितने चौकन्ने हो कर वे चारों ओर देखते जाते थे!

वर्षा की और नदी की ध्वनि में उन घोड़ों के दौड़ने की ध्वनि डूब गयी थी। उन की प्रगति काल के प्रवाह की तरह रवहीन किन्तु अविराम मालूम हो रही थी। किसी महती कामना की प्रतिच्छाया की तरह शान्त, किसी बे-रोक मशीन की तरह नियन्त्रित, वे घोड़े जा रहे थे। और उन के सवार धीरे-धीरे हिसाब लगाते जाते थे कि इस गति से कब पुल पार करेंगे—करेंगे भी या नहीं···

नदी भी बढ़ी चली जा रही थी। उस के प्रवाह में दर्प था, अवमानना थी, सिंह का गर्जन था, और थी प्रचण्ड प्रलय-कामना। घोड़ों के उस क्षुद्र प्रयत्न को कितनी उपेक्षा से देख रही थी वह, और मानो हँस कर कह रही थी—प्रकृति के प्रवाह को ललकारोगे, जीतोगे, तुम!

"हारिति, कुछ सुनायी पड़ता है?"

"नही। क्या है ?"

"मुझे भ्रम हुआ कि मैंने कहीं गोली चलने की आवाज़ सुनी।"

"सम्भव है। हमारा सब सामान तो ठीक है न ?"

"हाँ, चिन्ता की कोई बात नहीं।"

क्षण-भर शान्ति।

"क्वानयिन, वह देखते हो ?"

"किधर ?"

"वह दाहिनी ओर। वहीं आग का प्रकाश है।"

"हाँ, हाँ—"

"वह है शत्रु का शिविर।"

"हमने गोलियाँ भर रखी हैं। कितनी दूर और जाना है ?"

"अभी बहुत है —कोई 35 मील।"

"पुल कितनी दूर है ?"

"तीस मील।"

फिर क्षण-भर शान्ति।

"क्वानयिन, साथियों को सावधान कर दो। लड़ाई होगी। वे घुड़सवार हम से भिड़ने आ रहे हैं।"

"रुक कर लड़ना होगा ?"

"नहीं। रुकने का समय नहीं है। हम बढ़ते जायँगे।"

"पर—"

"क्या ?"

"हमारे घोड़े थक गये हैं।"

"फिर ?"

"हमें रुक कर लड़ना चाहिए, और उन के घोड़े छीन लेने चाहिए।"

"और अगर हमारे घोड़े भी मारे गये तो ?"

"घोड़ों पर से उतर कर अलग हट कर सकेंगे, उन्हें बचा लेंगे।"

"वे बहुत आदमी हैं, हम थोड़े।"

"वे वेतन के लिए लड़ते हैं, जान देने के लिए नहीं।"

"अच्छा, जैसा तुम उचित समझो।"

घोडे रुक गये। उन्हे इकट्ठा खडा कर दिया गया। हारिति उन के पास खडी हो गयी। क्वानयिन और उस के साथी कुछ आगे हट कर खडे हो गये।

ठाँय ! ठाँय ! ठाँय !

एक साथ ही दस गोलियाँ चल गयीं। आक्रमणकारियो ने अपने घोडे रोक लिये, और अन्धकार मे देखने की चेष्टा करने लगे कि गोलियाँ कहाँ से आयी थी।

ठाँय ! ठाँय ! ठाँय !

फिर दस गोलियाँ छूटी। अब की बार उत्तर आया।

हारिति चुपचाप देख रही थी। जब शत्रु-पक्ष की ओर से बौछार आती, तब वह कुछ चिन्तित हो कर पूछती, "क्वानयिन, कहाँ हो तुम ?" और वह हँस कर उत्तर देता—"हारिति, हमारी जीत होगी।" फिर वह शान्त हो जाती थी।

एकाएक गोली चलनी बन्द हो गयी। क्वानयिन बोला, "हारिति, वे भाग रहे है—हम घोडे पकडे लेते हैं !"

थोडी देर मे आठ नये घोडे एकत्रित हो गये। हारिति क्वानयिन और पाँच अन्य व्यक्तियो ने घोडे बदल लिये। बाकी उस लडाई मे खेत रहे थे ··

"क्वानयिन, अपने घोडो का क्या करना होगा ?"

"यहीं छोड दिये जायँ ?"

"शत्रुओ के लिए ! नही, उन्हे खाली साथ ले चलेंगे !"

"और जो न दौड सकते हो ?"

"उन्हे गोली मार देंगे।"

"हारिति !"

"क्या है ?"

"कुछ नही, चलो।"

फिर वही होड, वही सीक्याग के प्रवाह से प्रतियोगिता, वही निःशब्द प्रगति ··

"हारिति !"

"क्या है ?"

"वे फिर आ रहे हैं।"

"आने दो। अब रुकना नहीं होगा।"

"एक बात कहूँ ?"

"कहो।"

"तुम आगे चली जाओ, हम रुक कर उन से युद्ध करते हैं।"

"क्यों ?"

"अब की बार उन्हें भगा नहीं सकेंगे, कुछ देर रोक पायेंगे।"

"फिर क्या होगा ?"

"होगा क्या ? यदि रोक सकेंगे, तो अच्छा। नहीं तो—"

"नहीं तो क्या ?"

"मैं फिर तुम से आ मिलूँगा।"

क्षण-भर निस्तब्धता।

"क्वानयिन !"

"हारिति !"

"तुम ठीक कहते हो, मैं अकेली ही जाती हूँ।"

"जाओ। शायद मैं फिर आ मिलूँ।"

"शायद—"

रात्रि के अन्धकार का रूप कुछ बदलने लगा था। बादल अब भी घिरे हुए थे। वर्षा अब भी हो रही थी। पर जहाँ पहले एकदम निविड अन्धकार था, वहाँ अब कुछ भूरा, कुछ सफेद, मिश्रित-सा अन्धकार हो गया था। और धरती पर से भाप उठ कर जमने लग गयी थी। पहले की प्रगाढ़ नीलिमा में जो वस्तुएँ कुछ अस्पष्ट दीखती थीं, वे अब एकदम लुप्त हो गयी थीं। अभी उषा के लालिमामय आगमन में बहुत देर थी। सीकशांग का पुल भी अभी दस मील दूर था। हारिति थक गयी थी। उस का घोड़ा भी थक गया था। और उन बिछुड़े हुए साथियों की, क्वानयिन की, स्मृति उसे खिन्न कर रही थी; पर उस के हृदय में जो शक्ति थी, जिस के आगे उस ने इतनी बार दृढ़ता की

भिक्षा माँगी थी, वह शक्ति आज उस की सहायता कर रही थी, उस के शरीर में नयी स्फूर्ति का सचालन कर रही थी। उस ने घोड़े की गति धीमी नही की थी, जिस गति से यात्रा का आरम्भ किया था, उसी से अब भी चली जा रही थी। उस के पीछे एक और सवार चला आ रहा था, पर उसे इस का ध्यान न था। वह पीछे नहीं देखती थी, न उसे पीछे से घोड़े की टाप सुन पडती थी। उस का ध्यान उस क्रमश घटते हुए दस मील के अन्तर पर स्थिर था। वह सवार धीरे-धीरे पास आ रहा था। जब वह कुछ ही पीछे रह गया, तब उस ने पुकारा, "हारिति, मैं आ गया।"

हारिति के मुख पर प्रसन्नता की रेखा दौड गयी, पर उस ने घोड़े को रोका नही। जब क्वानयिन बिलकुल उस के बराबर आ गया, तब उस न पूछा, "क्वानयिन, बाकी साथी कहाँ रहे ?"

क्वानयिन ने बिना उस की ओर देखे ही उत्तर दिया, "नही रह।"

बहुत देर तक दोनो चुपचाप बढते गये। फिर हारिति बोली 'और घोड़े ?"

"मर गये। मैं भी दूसरा घोडा लेकर पहुँच पाया हूँ।"

"शत्रु कहाँ हैं ?"

"बहुत पीछे रह गये हैं।'

"फिर मुठभेड की सम्भावना है ?"

"अवश्य।"

"क्यो ?"

"उन्हें शक हो गया है कि हम पत्र वाहक हैं, और हम से कुछ पाने की आशा है।"

हारिति कुछ हँसी। "कुछ पा लेने की आशा ! कितने मूर्ख हैं वे !"

'क्यो ?"

"कैंटन के सैनिक धन के लिए विश्वास नही बेचते !"

कुछ देर चुप रह कर क्वानयिन बोला, "हारिति, कैसी रहस्यमयी स्त्री हो तुम ! अगर—"

"देखो क्वानयिन, ऐसी बातो से मुझे दु ख होता है।"

'क्यो ?"

'हम गुलाम हैं। हमे अपने आदर्श के अतिरिक्त किसी बात का ध्यान करने का अधिकार नही है।"

क्वानयिन ने धीमे स्वर म कहा, "सच कहती हो हारिति ! मैं बार-बार भूल जाता हूँ।" और फिर चुप हो गया।

'दो मील।'

'पर हम इतना जा पायेंगे, हारिति ! वह देखो शत्रु कितना पास आ गये है।"

'कोई चिन्ता नही। हम पुल पार कर लेंगे, फिर इन का डर नही रहेगा।"

'पर पुल तक के दो मील "

'गति तेज कर दो। अब तो इन्हे रोकने का भी प्रयत्न नहीं कर सकते।"

'मेरे पास पाँच भरे हुए पिस्तौल है, और यह बन्दूक तो है ही।"

'पाँच पिस्तौल !"

"हाँ, अपने साथियो के उठा लाया हूँ।"

'दो मुझे दे दो। शायद—"

क्वानयिन ने जेब स निकाल कर दो पिस्तौल उसे पकड़ा दिए। उस ने उन्हें अपन कोट मे डाल लिया, और बोली, "अगर निर्णय ही करना होगा, तो पुल पर करेंगे। वहाँ बना बनाया मोर्चा मिल जायगा।"

'पर दो आदमी मोर्चे की क्या रक्षा करेंगे?"

'शायद पार निकल सकें। नहीं तो—"

क्या?"

'इतने दिन सीक्यांग के ऊपर रही हूँ, आज उस के नीचे तो आश्रय मिल ही जायगा।"

'हारिति!"

'वह देखो क्वानयिन ! सामने पुल आ गया।"

"प्रजानन्त्र की जय !"

प्राची दिशा से बादलो को चीर कर फीका पीला-सा प्रकाश निकल रहा था। उस के सामने ही सीक्यांग के प्रमत्त प्रवाह के ऊपर पुल का जंगला दीख रहा था। कितना विमुग्धकारी था वह दृश्य, और साथ ही कितना निराशापूर्ण !

नदी की सतह पुल की पटरियो को छू रही थी। कभी-कभी किसी लहर का पानी पुल के ऊपर से भी छलक जाता था। और ठीक मध्य मे, जहाँ नदी का प्रवाह सब से अधिक था, पुल का अश टूट कर बह गया था। दोनो ओर से दो पटरियाँ आनी, और बीच मे लगभग 20-22 फुट का खुला स्थान छोड कर ही समाप्त हो जाती। उस स्थान मे केवल विपुल जल-प्रवाह का गर्जन और उस की अथाह अरुणिमा ही थी।

"हारिति, वह देखो, क्या है!"

"मैंने देख लिया है।"

"अब क्या करना होगा?"

हारिति ने कुछ उत्तर नही दिया। रास खीच कर घोडे को रोक लिया। क्वानयिन ने भी उस का अनुसरण किया। हारिति ने मुड कर पीछे की ओर देखा, शत्रु अभी आध मील दूर थे। क्षण-भर वह अनिश्चित खडी रही, फिर बोली, 'क्वानयिन, हमारी परीक्षा का समय आ गया।"

क्वानयिन कुछ नही बोला। प्रतीक्षा के भाव से हारिति के मुख की ओर देखने लगा। हारिति घोडे पर से उतर पडी। क्वानयिन ने भी उतरते हुए पूछा, 'क्या करोगी?"

"बताती हूँ।" कह कर वह अपने पुराने घोडे पर सवार हो गयी। 'देखो क्वानयिन, तुम यहाँ खडे हो कर मोर्चा लेना, मैं जा रही हूँ।"

"कहाँ?"

"पार।"

"कैसे?"

"कूद कर।"

"कूद कर? यह तुमसे नही होगा, हारिति! तुम्हारा घोडा भी तो थका हुआ है।"

"मैंने निश्चय कर लिया है। और कोई उपाय नही।"

क्वानयिन ने अनिच्छा से कहा, "तो नया घोडा ही ले जाती।"

"उस का मुझे अभ्यास नही। पुराना घोडा ही ले जाना होगा।"

हारिति ने जल्दी से अपना कोट उतारा और पिस्तौल क्वानयिन को दिये। वह चांदी का अजगर चिह्न उस ने अपनी कमीज मे लगा लिया, और पत्र को

अच्छी तरह लपेट कर कमरबन्द मे रख लिया।

"हारिति, यह क्या कर रही हो ?"

"शायद कूद न पाऊँ, व्यर्थ का भार नही रखना चाहिए।"

"हारिति, क्या यह विदा है ?"

"हाँ। वह देखो, शत्रु आ रहे हैं। मुझे विदा दो।"

"तुम्हारे बाद मुझे क्या करना होगा ?"

हारिति क्षण भर स्थिर दृष्टि से क्वानयिन की ओर देखती रही। फिर बोली, "शायद कुछ भी नही करना होगा। अगर—अगर बच गये, तो पार कूद आना, और क्या करोगे ?"

"जाओ, हारिति, जाओ। तुम वीर हो, मैं भी अधीर न होऊँगा।"

हारिति ने झुक कर घोडे का गला थपथपाया, और बोली, "बन्धु, अब मैं फिर वही अनाथिनी रह गयी हूँ। मेरी मदद करना।" उस ने घोडे को एड लगायी, रास ढीली कर दी। घोडा उन गीली पटरियो पर दौडा। हारिति कुछ आगे झुकी।

ठाँय! ठाँय! ठाँय!

शत्रु पहुँच गये। क्वानयिन हारिति को कूदते हुए भी नही देख पाया। उस ने शत्रुओं का बन्दूक से जवाब दिया, और फिर पिस्तौल उठा लिये।

क्षण-भर के लिए आक्रमणकारी रुक गये। क्वानयिन ने घूम कर देखा।

पुल की पटरियाँ दोनो ओर खाली थीं। उस ने देखा, हारिति के घोडे के अगले पैर पुल के टूटे हुए भाग के उस पार की पटरियो पर पडे, किन्तु पिछले पैर नीचे स्तम्भ मे टकराये, फिसले, और फिर घोडे समेत हारिति उसी अथाह अरुणिमा मे गिर गयी।

क्वानयिन धीरे-धीरे पुल से हटने लगा। शत्रु आगे बढते आ रहे थे। उस खुले स्थान में क्वानयिन ने देखा, हारिति का घोडा अभी डूबा नही था, एक बहुत बडे भँवर मे फँस कर घूम रहा था। तैर कर निकलने की उस की सारी चेष्टाएँ निष्फल हो रही थी, और हारिति उस पर बैठी शायद कुछ सोच रही थी।

क्वानयिन ने चाहा, मैं भी कूद पडूँ, शायद उसे बचा पाऊँ। फिर उसे हारिति के शब्द याद आये, "हमारी परीक्षा का समय आ गया।" उस ने

मन-ही-मन कहा—"हारिति, हमारे कर्त्तव्य अलग-अलग हैं। तुम अपना करो, मैं अपना। मैं शत्रु को रोकता हूँ, तुम्हें कैसे बचाऊँ?" फिर वह एकाग्र हो कर निशाना लगाने और युवान शिकाई के सैनिकों को उडाने लगा।

हारिति सँभल कर उठी, और घोडे की पीठ पर खडी हो कर बोली, "बन्धु, तुमने तो मेरी सहायता की, अब मैं तुम्हे छोड कर जा रही हूँ।" फिर उस ने एक लम्बी साँस ली, और उछल कर पानी मे कूद पडी—भँवर के बाहर।

गोलियाँ अभी चल रही थी। एक गोली क्वानयिन के कन्धे मे लगी, एक पैर मे। उस ने अब शत्रु की चिन्ता छोड दी। उस की आँखें हारिति को ढूँढने लगी। पुल से कुछ दूर उस ने देखा, एक केशहीन सिर। हारिति तैरती जा रही थी। घोडे का कही पता न था।

क्वानयिन ने कहा, "हारिति, मेरा काम पूरा हुआ।"

उस ने पिस्तौल उठाया, और अपने माथे के पास रखा। फिर—

"प्रजातन्त्र की जय!"

जब शत्रु वहाँ पहुँचे, तो क्वानयिन का प्राणहीन शरीर वहाँ पडा था। उस के मुख पर विजय का गर्व था। उन्होने जल्दी-जल्दी उस के कपडो की तलाशी ली, फिर धीरे-धीरे ली। कुछ न मिला। क्रुद्ध हो कर उन्होने ठोकरें मार-मार कर उस के शरीर को नदी मे गिरा दिया। वह कुछ देर चक्कर खा कर डूब गया। कुछ बुलबुले उठे, फिर सीक्याग का प्रवाह पूर्ववत् हो गया। युवान शिकाई के सैनिकों ने देखा कि दूर पानी मे कोई तैर रहा है। उन्होने उस का ही निशाना ले कर गोलियाँ चलानी प्रारम्भ कर दी। कितनी ही देर तक वे गोलियाँ चलाते रहे। धीरे-धीरे उस व्यक्ति का दीखना बन्द हो गया, शायद डूब गया, या उस अनियन्त्रित प्रवाह मे बह गया। वे लौट गये।

कैंटन के बाहर, सीक्यांग के किनारे, बहुत-से मछुए आ कर बैठे हुए थे। कुछ पकडने की आशा से नही, केवल इसी चिन्ता का निवारण करने के लिए कि बाढ कब उतरेगी। सूर्य का उदय हो गया था। बादल फट रहे थे, वर्षा का अन्त होने वाला था, पर नदी मे पानी अभी बढता जा रहा था, और वे मछुए बैठ कर देख रहे थे। कोई कह रहा था—"बाढ से एक फायदा है। युवान

गिकाई इस पार नही आ सकेगा।"

कोई और पूछ रहा था, "सुना है, युवान शिकाई की सेना कुल पचास मील दूर रह गयी है। क्या यह ठीक बात है ?"

एक तीसरा बोला, "हमारी सेना मे बहुत अच्छे-अच्छे आदमी है। हमारी हार नही हो सकती।"

दूर कही कोलाहल हुआ—"वह देखो, क्या है ? कोई मरा हुआ जानवर बह रहा है ! नही-नही, यह तो आदमी है, आदमी !"

सब लोग उधर देखने लगे। फिर कही से दो आदमी, एक छोटी-सी नाव पर बैठ कर, तीव्र गति से उधर चले। उन्होने दो-तीन बार जाल डाला, पर असफल हुए। फिर किनारे पर खडे दर्शको ने देखा कि वे दोनो धीरे-धीरे कुछ खीच रहे हैं।

थोडी देर मे उन्होने एक शरीर निकाल कर नाव मे रखा और किनारे चले आये।

दर्शको की भीड लग गयी। सब अपने-अपने मत का दिग्दर्शन करने लगे।

"कैसा बाँका जवान है।"

"अभी बिलकुल बच्चा है।"

"वह देखो, बाँह से खून निकल रहा है।"

"फौजी वर्दी पहने हुए है।"

"युवान शिकाई का आदमी तो नही है ?"

"नही, सिर पर चोटी नही है, कैंटन का ही सिपाही होगा।"

"यह बाँह मे गोली लगी है।"

"कितना खून बह गया है, पीला पड गया है।"

"मर गया है ?"

"नही, अभी जीता है।"

वह शरीर कुछ हिला, फिर उस ने आँखें खोलो, "मैं कहाँ हूँ ?"

"यह है कैंटन। कहाँ से आ रहे हो ?"

"कैंटन, वह लाल मकान !"

आँखें फिर बन्द हो गयी। थोडी देर बाद शरीर मे कम्पन हुआ, आँख खुली। उन मे एक विचित्र तेज था।

"मुझे उठा कर ले चलो।"

"कहाँ ?"

"वह बड़ा मकान—डायना पेड्फू का—उस में !" वे उसे उठा कर सावधानी से धीरे-धीरे ले चले।

"जल्दी ! जल्दी !"

वे तेज़ चलने लगे, तब भी उसे सन्तोष न हुआ।

"और जल्दी !"

वे दौड़ने लगे।

थोड़ी देर में उस मकान के सामने पहुँच गये। वह शरीर फिर मज्ञाशून्य हो गया था।

उस ने धीरे-धीरे आँखें खोली। वह एक बड़े सुन्दर कमरे में सोफे पर पड़ी हुई थी। पास एक स्त्री खड़ी हुई थी। आँखें खुलती देख कर उस ने चिन्तित स्वर में पूछा "अब कैसा हाल है ?"

हारिति ने प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। बोली, "आप ही डायना पेड्फू हैं?"

"हाँ, कहिए !"

"आपके लिए एक पत्र है।"—हारिति ने पत्र निकालने का प्रयत्न किया, पर हाथों में शक्ति नहीं थी। अपने कमरबन्द की ओर इंगित करके ही वह रह गयी।

डायना ने स्वयं पत्र निकाला, और खोला। उस का मुख लाल हो गया। आखें लज्जा से कुछ झुक गयी। उस ने पत्र को चूम लिया, और धीरे से कहा, "प्रियतम !"

हारिति देख रही थी। यह दृश्य देख कर उस के नेत्रों का तेज एकाएक बुझ गया। उस ने आँखें मूँद ली। दो-तीन चित्र उस के आगे दौड़ गये—दो-तीन स्मृतियाँ—वे मरते हुए बन्धु—वह दीन घोड़ा—क्वान यिन और उस के शब्द—"हारिति, हमारी जीत होगी।" "हारिति, क्या यह विदा है ?" "जाओ, हारिति, जाओ। तुम वीर हो—मैं भी अधीर नहीं होऊँगा।"

व्यथा की एक रेखा उस के मुख पर दौड़ गयी। यही था काम, जिस के लिए उस ने इतनी मेहनत की थी, यही थी सेवा, जिस के लिए उस ने इतना बलिदान किया था; यही था अनुष्ठान, जिस की पूर्ति के लिए उस ने उस घोड़े की,

उन बन्धुओं की, और क्वान यिन—क्वान यिन की आहुति दी थी—यह प्रेम-प्रवंचना ।

हारिति को मालूम हुआ, उस का गला घुट रहा है। उस के निर्बल शरीर में एकाएक स्फूर्ति आ गयी । उस ने एक झटके में अपनी मोटी कमीज़ फाड़ डाली । उस के मुख पर एक आन्तरिक विचार-तरंग की झलक, एक हलकी-सी हँसी छा गयी—एक हँसी, जिस में सफलता की शान्ति नहीं थी, विजय का गर्व नहीं था, था केवल एक भयंकर उपहासमय तिरस्कार।

डायना ने उस की ओर देखा और चौंकी । उस के मुख पर से वह अनुराग की आभा बुझ गयी । हारिति के वक्ष की ओर देखती हुई विस्मित, चिन्तित, भीत स्वर में वह बोली, "ओह ! तुम—तुम तो स्त्री हो !"

पर तब हारिति स्त्री नहीं रही थी । वहाँ जो पड़ा हुआ था, वह था केवल किसी स्वर्गीय व्यक्ति का परित्यक्त शरीर ।

और हारिति के उर पर पड़ा हुआ वह चीनी अजगर मानो उस के मुख पर व्यक्त उस तिरस्कार को प्रतिबिम्बित कर के हँसे जा रहा था ।

अकलंक



वे दोनो उस टीले की चोटीपर खडे थे। चारों ओर काले-काले बादल घिरे हुए थे, धारासार वर्षा हो रही थी, टीले के नीचे घहराता हुआ ह्वांग-हो नदी का प्रवाह था, और जहाँ तक दृष्टि जाती थी, पानी-ही-पानी नज़र आता था।

वे दोनो वर्षा की तनिक भी परवाह न करते हुए टीले के शिखर पर खडे थे।

वह चीनी प्रजातन्त्र सेना की वर्दी पहने हुए था, और भीगता हुआ सावधान मुद्रा में खडा था।

स्त्री ने एक बडी-सी खाकी बरसाती मे अपना शरीर लपेट रखा था। उस के वस्त्राभूषण कुछ भी नही दीख पडते थे। उस ने वेदना-भरे स्वर मे कहा, "मार्टिन, तुम्हें भी अपना घर डुबा देना होगा। मेड काट देना, नदी स्वय भर आयेगी।"

मार्टिन कुछ देर चुप रहा। फिर बोला, "क्रिस, क्या इस के अतिरिक्त कोई उपाय नही है?"

स्त्री ने चौक कर कहा, "मार्टिन, यह क्या? सेनापति की जो आज्ञा है, उस का उल्लघन करोगे?"

"उल्लघन नही। लेकिन अगर बिना शत्रु को आश्रय दिये ही घर बच जाय, तो क्यो न बचा लिया जाय।"

"औरो के भी तो घर थे?"

"वे किसान थे। मैं राष्ट्र का सैनिक हूँ। शायद अपने घर की शत्रु से रक्षा कर सकूँ।"

"मार्टिन, तुम्हे क्या हो गया है? तुम अकेले क्या करोगे? हम सब यहाँ से चले जायेंगे। शत्रु के लिए इतना विशाल भवन छोड दोगे, तो हमारे बलिदान का क्या लाभ होगा? हमने अपने घर डुबा दिये है, केवल इसी लिए कि शत्रु को आश्रय न मिले। और तुम अपना घर रह जाने दोगे?"

"मेरा घर इतना विशाल है कि उस मे समूचा गाँव आ कर रह सकता है।"

"इसी लिए तो उसे डुबाना अधिक आवश्यक है। मार्टिन, सम्पत्ति का इतना मोह!"

मार्टिन को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो किसी ने उसे थप्पड मार दिया हो। तन कर बोला, 'क्रिस, यह मोह नही है।" फिर एकाएक पास आ कर उस ने स्त्री का हाथ पकड लिया। 'क्रिस, अभी तुम्हे नही समझा सकूँगा कि क्या चाहता हूँ, किन्तु विश्वास रखो, मैं जो करना चाहता हूँ, उसी मे देश का भला है। तुम इतना विश्वास नही करती?" कह कर मार्टिन उसे अपनी ओर खीचने लगा।

स्त्री ने झटक कर हाथ छुडा लिया, और अलग हटकर खडी हो गयी। बोली, "तुम अपना, कर्त्तव्य नही कर रहे मैं तो यही समझ पाती हूँ। सैनिक हो, सेनापति की आज्ञा का उल्लघन कर रहे हो। इससे अधिक क्या लाभ सोच रहे हो, कौन गुरुतर कर्त्तव्य, मैं नही जानती, न जानना ही चाहती हूँ।" वह घूम कर टीले से उतर चली।

मार्टिन क्षण भर तक स्तब्ध रह गया। फिर उस ने व्यथित स्वर मे पुकारा, 'क्रिस्टाबेल! क्रिस्टाबेल!"

किन्तु क्रिस्टाबेल ने मुँह फेर कर देखा भी नही।

मार्टिन ने एक लम्बी साँस ली, और फिर टीले से दूसरी ओर उतरने लगा। उतर कर वह जल्दी-जल्दी कदम रखता हुआ चला। कोई मील भर जा कर वह एक बडे भवन के पास पहुँच गया। उसने दरवाज़े पर से ही आवाज़ दी, 'कोई है?"

एक भृत्य आ कर सामने खडा हो गया। मार्टिन ने तीव्र दृष्टि से उस की ओर देख कर कहा, "तीन घोडे ले आओ और पहनने को कपडे। ज़ीन एक ही घोडे पर डालना।"

भृत्य ने अत्यन्त विस्मय के स्वर मे कहा, "यही पर?"

"हाँ, यही! फौरन!"

भृत्य भवन के अन्दर गया और कपडे ले आया। मार्टिन ने कपडे ले लिये, और बोला, 'कपडे मैं स्वय पहन लूँगा, तुम घोडे ले आओ!"

भृत्य चुपचाप चला गया। जब वह घोडे ले कर आया, तब मार्टिन वस्त्र

बदल चुका था और घुडसवारी के उपयुक्त वेश मे खडा था। घोडो के आते ही वह एक पर सवार हो गया और बोला, "मेरी बन्दूक ले आओ।"

भृत्य दौड कर बन्दूक ले आया। फिर उस ने आदर-भाव से पूछा, "कब लौटना होगा ?"

मार्टिन ने घोडे को एड लगाते हुए कहा, "तुम से मतलब ?"

थोडी देर मे घुड़सवार, उस का घोडा और उसके अनुगामी दोनो घोडे भी आँखो मे ओझल हो गये। भृत्य तब तक वही खडा उसे देखता रहा, विस्मय का भाव उस के मुख पर उसी भाँति बना रहा।

2

"तुमने सुना ? मार्टिन द्रोही है।"

"क्यो ? कैसे ? क्या हुआ ?"

वर्षा हो रही थी। एक छोटे-से मैदान मे बहुत-से स्त्री-पुरुष एकत्र थे। प्रत्येक के पास एक-आध छोटी गठरी थी, जिस मे उन्होने अपनी ऐहिक सपत्ति बाँध रखी थी। किसी किसी भाग्यशाली के पास एक गधा भी था, जिस पर उस ने कुछ सामान लाद रखा था। अनेक स्त्रियो को घेरे हुए, या उनकी गोद मे, छोटे छोटे बच्चे भी थे। सब-के-सब सर्दी मे ठिठुर रहे थे, किन्तु कोई भी इस की शिकायत नही कर रहा था। सब के मन मे एक ही भाव था कि अगर हमारे मन मे छिपी हुई पीडा और अशान्ति व्यक्त हो जाएगी, तो फिर हमारा साहस टूट जायगा ' उस मूक अभिमान के कारण ही वे अब तक बचे हुए थे। उन्हे उस स्थान पर, उस दशा मे, एक ही रात काटनी थी, क्योकि प्रात -काल ही उन्हे ले जाने के लिए दूसरे गाँव से कुछ घोडे आने वाले थे। फिर भी, वे किसान थे, गरीब थे, अपनी दो हाथ भूमि और दो मुट्ठी अन्न को प्राणो से भी अधिक चाहते थे।

रात के दस बज चुके थे। कृषक समूह, जो अब तक प्रतीक्षापूर्ण नेत्रो से मार्टिन के घर की ओर देख रहा था, अब यह समाचार पा कर सिहर उठा।

"क्यो ? कैसे ? क्या हुआ ?"

"तुमने सुना नही ? उस ने कहा है कि मैं सेनापति की आज्ञा मानने को बाध्य नही हूँ। जो अच्छा समझूंगा, करूंगा।"

"तुम से किस ने कहा ?"

"क्रिस्टाबेल उसे कहने गयी थी, उसी से उस ने यह बात कही है। उस के बाद ही वह घर से तीन घोडे ले कर कही चला गया है।"

लोग अब तक थके हुए और उन्मन बैठे थे, अब मानो वेदना की तन्द्रा से जागे और पूछने लगे, 'अब क्या होगा ?" अनेक मुखो से अनेक प्रकार की आलोचनाएँ होने लगी।

"होगा क्या ? द्रोही है तो कोर्ट मार्शल होगा।"

'द्रोही नही, बल्कि कायर है। द्रोह करने के लिए भी हिम्मत चाहिए।"

"कायर को भी कोर्ट मार्शल से प्राण दड मिलेगा।"

"अब तक हम उसे कितना अच्छा समझते थे।"

एक वृद्ध ने, जो अब तक चुपचाप तमाखू चबा रहा था, उस थूक कर कहा, 'भई तुम लोग चाहे जो कहो, मुझे तो उस पर विश्वास है। इतना सीधा, इतना सदय, दूसरों का भला करने वाला और त्यागी आदमी द्रोही हो सकता है यह मेरा मन नही मानता। तुम्हें याद है, महामारी मे उस ने कैसे गाँव मे रहकर दिन रात सेवा की थी ? कहाँ-कहाँ से डाक्टर बुलाये थे, दवाइयाँ मँगायी थी ? जिस दिन मेरा लडका बीमार हुआ,"—कहते-कहते वृद्ध की आँखें डबडबा आयी—"उस दिन सारी रात वह उसके पास बैठा रहा। मैंने कई बार कहा, अब चले जाओ, सोओ, पर नहीं मानता। हमी से कहता रहा, तुम थके हुए हो थोडा आराम कर लो, कल अच्छा हो जायगा, पर बेचारे को अच्छा ही नहीं होना था!" कुछ रुक कर फिर, "और अब तक भी, हमें जिस चीज की जरूरत होती है, उसी के पास जाते हैं कि नहीं ? तुम चाहे जो कहो, मैं तो यही कहूँगा कि उस का नाम जिसने अकलक रखा, ठीक रखा। वह ईसाई है तो क्या हुआ ? मैं तो उसे हमेशा अकलक कहूँगा।"

एक युवक बोला, "दादा, इतने जोश मे न आओ। वह हमारी भलाइयाँ तो करता रहा है, लेकिन क्या इस से उस को कीर्ति नही मिलती ? और फिर जो भीरु होते हैं, वे प्राय अच्छे ही जान पडते हैं, क्योंकि उन मे बुरा करने की हिम्मत ही नहीं होती !"

विषय ऐसा था कि प्रात काल होने तक समाप्त न होता, पर एकाएक कुछ दूर पर से एक स्त्री के चीखने का स्वर आया। लोग चौंक कर चुप हो गये,

दो-तीन ने पुकार कर पूछा, "क्या हुआ ?"

किन्तु यह प्रश्न व्यर्थ था, इसका कोई उत्तर भी नहीं मिला। एक विधवा की लड़की पाँच-छः दिन से न्युमोनिया से पीड़ित थी, वह इस घोर शीत को नहीं सह सकी — एक ही हिचकी के झटके से वह इस लोक के बन्धन तोड़ कर चली गयी थी। उसी की माता रो रही थी।

लोगों का साहस टूटने के बहुत निकट पहुँच गया। उन्हें एकाएक अपने जीवन की क्षुद्रता और असारता का बोध हो आया। ऐसा प्रतीत होने लगा कि कोई अदृश्य, भैरव और निर्दय अनिष्ट उनके सिर पर मँडरा रहा हो। उस अमानुषी शक्ति की उपस्थिति के ज्ञान से सब एकाएक स्तब्ध हो कर एक-दूसरे का मुख देखने लगे, किन्तु कोई किसी से आँख नहीं मिलाता था, मानो इसी आशंका से कि जो भय उनकी आँखों में था, उसी की प्रतिच्छाया दूसरों की आँखों में न दीख जाय।

एकाएक दूर पर घोड़े की टाप सुन पड़ी—कभी भूमि पर पड़ती हुई कठोर टटटप् ! टटटप् ! टटटप् ! फिर कुछ देर के लिए कीच पानी में छिप्-शश् ! छिप्-शश् !

किसी ने कहा, "क्रिस्टाबेल लौट आई !"

"लेकिन यह तो दो तीन घोड़ों का स्वर है।"

इस समस्या का हल अपने-आप हो गया। घोड़े उसी मैदान के सिरे पर आ कर रुक गये। दो घोड़ों पर बरसाती से बँधे हुए बोझ लदे थे, तीसरे पर सवार था।

सवार ने उस रोती हुई वृद्धा से पूछा, 'क्या हुआ ?" स्वर मार्टिन का था।

वृद्धा न कोई उत्तर नहीं दिया, और भी ज़ोर से रोने लगी।

मार्टिन घोड़े पर स उतर पड़ा देख कर स्थिति समझ गया। सकरुण स्वर से बोला "माई, तुम मेरे घर चलो न ?"

"घर ? घर कहाँ है ? सब तो डूब गये।"

'मेरा घर बाकी है।"

"तुम कौन हो ?"

पास बैठे हुए एक युवक ने तिरस्कारपूर्ण स्वर म ज़ोर से कहा, "ये हैं अक्लंक, हमारे गाँव के रक्षक !"

मार्टिन चौंका। एक बार उस ने चारो ओर देखा। फिर उसे कुछ याद आया। जिस घोर प्रयास से उस ने अपने को वश मे किया, उस के लक्षण उस के मुख पर स्पष्ट दीखते थे। फिर वह सब की ओर उन्मुख हो कर बोला, "तुम सब चाहो, तो मेरे घर चल कर रहो। मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।"

कोई उत्तर नहीं मिला।

मार्टिन फिर कुछ काँपते-से स्वर मे बोला, "माई, तुम तो चली चलो। शायद मैं इस लडकी की कुछ दवा-दारू कर सकूँ।"

"जब कोई नही जाता, तब मैं भी सब सह लूँगी। लडकी तो अब मर चुकी। मैं कायर नही हूँ।"

मार्टिन ने सिर झुका लिया। घोड़े की लगाम पकड कर धीरे-धीरे आगे चल दिया, कुछ बोल नही सका।

पीछे से हँसी की—तिरस्कारपूर्ण हँसी की—ध्वनि आयी। दो-तीन स्वरों ने एक साथ ही कहा, "अकलंक! कायर!"

3

घर के आगे पहुँच कर मार्टिन ने स्वय ही घोडा पर से बोझ उतारा और एक-एक को उठा कर भीतर ले गया। उस के पैरों के शब्द सुन कर जो नौकर देखने आया था, वह चुपचाप खडा देखता रहा, उसे इतना साहस भी नही हुआ कि आगे बढ कर सामान उठाने की चेष्टा करे।

मार्टिन ने स्वय ही उस से कहा—"घोडो को ले जाओ।" तब एकाएक बिजली से सजीवित व्यक्ति की तरह वह बाहर दौड पडा।

मार्टिन ने सब दरवाज़े बन्द कर लिये और एक कोने में पडी हुई कुदाली और फावडा निकाल कर खोदने लगा। कमरे के मध्य में जब वह काफी बडा गड्ढा खोद चुका, तब उस ने एक बार कमर सीधी की और फिर घोडो पर के दोनों बोझ उस मे डाल दिये। फिर उस ने अपनी कमर पर लिपटी हुई बहुत लम्बी एक रस्सी-सी खोली, और उस का एक छोर उन गट्ठरों के भीतर रख दिया। इसके बाद उसने गड्ढे को पूर्ववत् भर दिया, और वहाँ से किवाड तक, और किवाड़ से बाहर बहुत दूर तक, एक नाली-सी खोद कर उसी में रस्सी दबा दी। जब वह घर से लगभग साठ गज़ दूर पहुँचा, तब रस्सी समाप्त हो गयी।

उसने यहाँ पर उस का सिरा बाहर रख के उस पर कुछ सडे पत्तों और लकडियों का छोटा-सा ढेर लगा दिया। फिर वह घर के भीतर आया और किवाड बन्द करके बैठ कर न जाने क्या-क्या सोचने लगा।

4

सवेरा नहीं हुआ था। उषा भी नहीं हुई थी; किन्तु फिर भी रात्रि के अन्धकार के रंग में कुछ परिवर्तन हो गया था– वह कुछ भूरा-सा हो गया था। इससे अनुमान किया जा सकता था कि सूर्योदय में कुछ ही देर थी। वर्षा अभी होती जा रही थी।

मैदान में बैठे हुए लोग सो नहीं पाये थे। वे अशान्ति और औत्सुक्य से क्रिस्टाबेल की प्रतीक्षा कर रहे थे। क्रिस्टाबेल शाम ही से दूसरे गाँव में घोडे लाने गयी थी, जो कि उन लोगों को ले जानेवाले थे।

उग्र प्रतीक्षा सदा ही फलीभूत होती है। एकाएक किसी ने चिल्ला कर कहा, "प्रजातन्त्र की जय ! क्रिस्टाबेल आ गयी है !"

बहुत-से लोग उठ खडे हुए। क्रिस्टाबेल घोडे से उतर कर नीचे बैठ गयी और बोली– "मैं कितनी थक गयी हूँ—!" फिर चारों ओर देखकर बोली, "चलो, अब देर क्या है ?"

"कुछ नहीं। एक बुढिया की लडकी—"

"हाँ, मैंने सुना। वे अभी लौट आयेंगे—तुम लोग तैयार हो लो।"

किसी ने पूछा, "और मार्टिन का क्या होगा ?"

क्रिस्टाबेल का मुँह लाल हो आया। फिर वह रुक कर बोली, "क्यों ? उस का क्या होना है ?"

"वह तो हमारे विरुद्ध जा रहा है।"

"क्यों ?"

"अपना घर बचा रहा है—और कल कुछ रसद भी ले आया है। मालूम होता है, यहीं रहेगा।"

क्रिस्टाबेल कुछ देर चुप रही। फिर बोली, "तुम लोग चल पडो, मैं अभी आती हूँ। मुझे एक नया घोडा दे दो।"

दूसरा घोडा ले कर वह मार्टिन के घर की ओर चल पडी। मैदान में बैठे

हुए लाग तत्परता से घोडे लादने लगे ।

मार्टिन अपने घर के बाहर ही टहल रहा था। क्रिस्टाबेल को आते देख कर रुक गया और एकटक उस की ओर देखने लगा ।

क्रिस्टाबेल ने बिना भूमिका के कहा, "मार्टिन, यह क्या सुनती हूँ ?"

'यही सुना होगा कि अकलंक अब कलंकी हो गया है ।"

क्रिस्टाबेल यह प्रश्न सुन कर सहम गयी और सहसा कुछ कह नही सकी । मार्टिन न स्वय ही फिर कहा, 'क्रिस्टाबेल, मैं तुम्हे कह चुका हूँ कि मैं देश का भला सोच रहा हूँ । सारा गाँव मेरे विरुद्ध है, क्या तुम भी मेरा विश्वास नही कर सकती ?"

क्रिस्टाबेल बोली, "मैं क्या करूँ ? तुमने मुझे कोई कारण तो बताया नही ?"

'कारण बताने म विवश हूँ । पर क्या तुम इतना भी विश्वास नही कर सकती ?"

"मैं नो विश्वास करती हूँ, तुम स्वय ही मुझ से कुछ छिपा रहे हो ।"

"अगर कर्तव्य कोई बात छिपाने को कहे—"

'मेरे प्रति तुम्हारा क्या कोई कर्तव्य नही है ?"

'क्रिस, मुझे अधिक पीडित न करो। मैं विवश हूँ, इतना मान लो ।"

क्रिस्टाबेल फिर बहुत देर तक चुप रही । फिर एक लम्बी साँस ले कर मुँह फेर कर चल दी ।

'कहाँ जा रही हो, क्रिस ?"

क्रिस ने दबे हुए उद्वेग के स्वर मे उत्तर दिया, "कही नही, अपना कर्तव्य मुझे भी निश्चित करना है ।"

'क्रिस, तुम नाराज हो गयी—"

'यह प्रेमालाप का समय नही है—"

'अगर मैं कारण बता दूँ, तो विश्वास करोगी ?"

क्रिस एकाएक ठिठक गयी और बोली—"क्या ?"

मार्टिन बहुत देर तक स्थिर दृष्टि से उस के मुख की ओर देखता रहा, कुछ बोला नहीं । फिर, 'नहीं, विश्वास मोल नहीं लिया जाता । तुम जाओ ।"

मार्टिन के हृदय की उदास पुकार को क्रिस्टाबेल नहीं समझ पायी । क्रुद्ध

सर्पिणी की तरह घूम कर तीव्र गति से चल दी। मार्टिन ने धीरे से कहा, "अविश्वासिनी !"

उस के स्वर मे क्रोध की अपेक्षा वेदना ही अधिक थी, इस बात को क्रिस्टाबेल नही समझ सकी। उस ने क्षण-भर के लिए रुक कर बिना मुख फेरे ही कहा, "कायर !"

जिस समय क्रिस्टाबेल मैदान पर पहुँची, तब लोगो ने देखा, उस की आँखो मे एक अमानुषी तेज था। उसने चुपचाप एक घोडा चुना और उछल कर चढ गयी।

एक वृद्ध ने सहानुभूति के स्वर मे पूछा, "क्रिस, कहा जाओगी ?

क्रिस्टाबेल ने बिना किसी की ओर देखे ही उत्तर दिया यागसिन, सेनापति से रिपोर्ट करने।"

'कैसी रिपोर्ट ?"

"वह कायर है, कायर !" कहते कहते क्रिस्टाबेल ने घोडे को एड दी और बात-की-बात मे बहुत दूर निकल गयी। जब वह बिल्कुल ओझल हो गयी, तब लोगो की भाव तरगिनी को निकलने की राह मिली, एक ही गगन-कम्पी हुकार म—"क्रिस्टाबेल की जय !"

5

जिस समय सैनिको का दल मार्टिन को बन्दी करने आया और किवाड बन्द पा कर खटकाने लगा, तब मार्टिन अपनी बन्दूक ले कर सामने आया और ललकार कर बोला, "क्या है ?" किन्तु कहते कहते उसने देखा, सैनिका के साथ त्रिस्टाबेल भी है। उसे देख कर मार्टिन ने बन्दूक आकाश की ओर कर के दाग दी और फिर जमीन पर पटक दी। बदले हुए स्वर मे फिर पूछा, "क्या है ?"

"हम तुम्हें बन्दी करने आये हैं—प्रजातन्त्र के नाम पर।"

"किस अपराध क लिए ?"

"कायरता के लिए।"

"मुझे ?" कह कर मार्टिन ने एक बार फिर क्रिस्टाबेल की ओर देखा; पर उस ने आँख नही मिलायी। मार्टिन बोला—"मैं तैयार हूँ, चलो ! मैंने

हथियार डाल दिये हैं।"

सैनिकों ने उसे बीच में ले लिया। उन के नायक ने क्रिस्टाबेल से पूछा, 'आप कहाँ जायेंगी, हमारे साथ ही?"

'नहीं, तुम जाओ। मुझे अपना काम है।"

सैनिक बन्दी को ले कर आगे बढ़ने लगे। जब वे कुछ दूर चले गये, तब क्रिस्टाबेल एक हल्की-सी चीख मार कर कीच में ही बैठ गयी, "मार्टिन! मार्टिन!"

पता नहीं, बन्दी ने उसे सुना भी कि नहीं। उस के मुख का भाव ज़रा भी नहीं बदला। शायद सैनिकों के पद रव में वह डूब गयी थी, वह करुण पुकार—"मार्टिन!"

6

'प्रहरी!"

'क्या है?"

'एक बात सुनोगे?"

"अगर प्रजातन्त्र के खिलाफ़ नहीं होगी, तो सुन लूँगा।"

'तो ज़रा पास सरक आओ।"

पहरेदार बन्दी के पास आ गया। बन्दी ने कहा—"जानते हो, कल मेरा कोर्ट-मार्शल होना है।"

"हाँ, जानता हूँ।"

"शायद—अवश्य—प्राणदंड की आज्ञा होगी।"

'हाँ, यही सम्भावना है।"

'मेरा एक पत्र पहुँचा दोगे?"

'किसे?"

"स्त्री-सेना की एक वालंटियर को।"

'वह तुम्हारी कौन है?'

मार्टिन ने इस का उत्तर नहीं दिया। बोला—"मुझे अब फिर किसी से मिलने या बोलने का अवसर नहीं मिलेगा, इसी से कहता हूँ।"

पहरेदार ने कुछ सोच कर कहा—"काम तो सहज नहीं है। और फिर—"

"और क्या ?"

"मैं तुम्हारी सहायता क्यों करूँ ? तुम तो—"

"कह दो न, रुक क्यों गये ?"

पहरेदार फिर चुप हो रहा। यह देख कर मार्टिन स्वयं ही बोला—"मैं कायर हूँ, देश का शत्रु हूँ, यही न ?"

पहरेदार ने बिना कुछ कहे सिर झुका लिया। उस की यह अर्द्ध-व्यक्त स्वीकृति देखकर मार्टिन बोला, "मेरे पास इस का उत्तर नहीं है। तुम्हें क्या कहूँ ? अगर कहता हूँ कि मैं कायर नहीं हूँ, तो तुम अपने मन में सोचोगे सभी कायर ऐसा कहा करते हैं। इस लिए इतना ही कहूँगा, मैं मनुष्य हूँ, मेरे हृदय है और अभिमान भी।"

मार्टिन थोड़ी देर प्रहरी की ओर चुपचाप देखता रहा। फिर बोला—"ले जाओगे ?"

प्रहरी ने धीरे से कहा— 'हाँ, ड्यूटी बदलने से पहले दे देना।"

"मैंने लिख रखा है। अभी ले लो, कोई नहीं देख रहा है।"

यह कह कर मार्टिन ने शीघ्रता से एक छोटा-सा पुर्जा सिपाही की ओर बढ़ा दिया। सिपाही ने उसे अपनी बन्दूक की नली में डाल लिया और बोला, "मैंने तुम्हारा विश्वास किया है—देखना।"

मार्टिन ने उत्तर नहीं दिया, एक बार उस की ओर देख-भर दिया। उस दृष्टि में न-जाने क्या था, उस लक्ष्य कर प्रहरी चुपचाप सिर झुकाये इधर-उधर घूमने लगा।

मार्टिन कोठरी के मध्य में जा कर बैठ गया और छत के एक छोटे-से रोशनदान की ओर देखने लगा। एक बार चौंक कर बोला—"हैं ? यह मैंने क्या किया ?" फिर थोड़ी दर के लिए चुप हो गया। फिर एक लम्बी सांस ले कर बोला—"विराट् प्रेम का अन्त भी विराट् होना चाहिए। मैं उसे अपनी व्यथा क्यों दिखाऊँ ?"

मार्टिन ऐसी प्रश्न-भरी मुद्रा से उस रोशनदान की ओर देखने लगा, मानो उसी से उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा हो।

मार्टिन के विशाल भवन के चारों ओर सैनिकों का पहरा था; किन्तु सैनिक प्रजातन्त्र के नहीं थे। मकान के अन्दर से गाने की ध्वनि आ रही थी, किन्तु वे प्रजातन्त्र के राष्ट्र-गीत के स्वर नहीं थे। मार्टिन के भवन पर आज शत्रु-सेना का अधिकार था, आज देश के सात सौ शत्रु उस में आश्रय पा रहे थे और अधिकाधिक दक्षिण की ओर बढ़ने के मनसूबे बाँध रहे थे।

और भवन के बाहर चारों ओर पतली कीच थी—काली-काली, केवल कहीं-कहीं भवन से आनेवाले प्रकाश के कारण दीप्त···

भवन से दूर पर छोटे छोटे पेड़ों के झुरमुट में क्रिस्टाबेल खड़ी थी। उस के पास ही एक पेड़ से घोड़ा बँधा था। क्रिस्टाबेल एकाग्र दृष्टि से भवन की ओर देख रही थी, किन्तु ध्यान से देखने पर मालूम हो जाता था कि उस की आँखें उधर लगी होने पर भी ध्यान उधर नहीं था।

भवन के अन्दर शायद कोई उत्सव हो रहा था—और इसी लिए कभी-कभी शायद अग्नि की उद्दीप्ति के कारण उस के अन्दर प्रकाश बढ़ जाता था। उसी प्रकाश की एक आध झलक रात्रि के अन्धकार को भेद कर उस झुरमुट तक पहुँच जाती थी, तो उस में क्रिस्टाबेल का वह तना हुआ चेहरा और चमकती हुई आँखें—आँसू-भरी आँखें—स्पष्ट दीख जाती थीं।

क्रिस्टाबेल ने आप-ही-आप कहा, "आज दंड हो चुका होगा···और कल—मैं "

रुक कर वह फिर उस ससंज्ञ तन्द्रा में पड़ गयी।

"मार्टिन · मेरा दुर्भाग्य · "

एकाएक मानो किसी दृढ़ निश्चय से प्रेरित हो कर उस ने अपने शरीर को झटका दिया और भवन पर से आँखें हटा लीं। किन्तु तत्काल ही उस का शरीर जड़ हो गया, मानो कोई चिड़िया साँप की सम्मोहन दृष्टि से निकलने का व्यर्थ प्रयत्न कर के थक गयी हो।

वह फिर भवन की ओर देखने लगी।

"ईसा, ईसा, अगर उस के दिल में इतना साहस होता—अगर मेरे हाथों में इतनी शक्ति···"

"और क्या ?"

"मैं तुम्हारी सहायता क्यो क

"कह दो न, रुक क्यो गये ?"

पहरेदार फिर चुप हो रहा। इ
कायर हूँ, देश का शत्रु हूँ, यही न ?

पहरेदार ने बिना कुछ कहे सि
स्वीकृति देखकर मार्टिन बोला, "मेरे
कहूँ ? अगर कहता हूँ कि मैं कायर न
कायर ऐसा कहा करते है। इस लिए
है और अभिमान भी।"

मार्टिन थोडी दर प्रहरी की ओर
"ले जाओगे ?"

प्रहरी ने धीरे स कहा— 'हाँ, ड्यू

"मैंने लिख रखा है। अभी ले लो, '

यह कह कर मार्टिन ने शीघ्रता से
बढा दिया। सिपाही ने उस अपनी बन्दू

"मैंने तुम्हारा विश्वास किया है—देखना

मार्टिन ने उत्तर नही दिया, एक बा
दृष्टि मे न-जाने क्या था, उस लक्ष्य कर प्र
घूमने लगा।

मार्टिन कोठरी के मध्य मे जा कर
रोशनदान की ओर देखने लगा। एक बार
क्या किया ?' फिर थोडी देर के लिए चुप
कर बोला—"विराट् प्रेम का अन्त भी वि
व्यथा क्यो दिखाऊँ ?"

मार्टिन ऐसी प्रश्न-भरी मुद्रा मे उस रो
उसी से उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा हो।

"कल ही।"

"क्या ? उस ने कोई सफाई नही दी ?"

"नही। जब उस से पूछा गया, तब बोला, 'मैं सैनिक हूँ। सैनिक स्वभावत विश्वास का पात्र होता है। मैं सफाई दे कर विश्वास मोल नही लेना चाहता।'"

"इतनी अकड ? मालूम होता है, कायर के भी कुछ दिल है।"

'अरे, अभी और सुनो! जब दड सुनाया गया, तब जजो ने उस क्रिस्टाबेल की तारीफ भी की। इन दोनो की शादी होने वाली थी। तब मार्टिन बोला, 'हाँ, मेरी ओर से बधाई भी भिजवा दीजियेगा।'"

"फिर ?"

"फिर बोला, 'आप ने मुझे कायर कहा है और प्राणदड दिया है। प्रजातन्त्र के एक सैनिक की हैसियत से मैं दड स्वीकार करता हूँ। पर एक प्रार्थना है कि दड देते समय मुझे कायर की तरह पीठ मे गोली न मारी जाय! मैं कायर नही हूँ!'"

"फिर ?"

"जज ने पूछा, 'इस का सबूत ?' पर बेचारा सबूत क्या देता ? चुप हो गया। जज ने बहुत सोच कर कहा, 'मैं विवश हूँ।' फिर कैदी को ले गये।"

भीड को चीरता हुआ एक घोडा आगे आ रहा था, इन दोनो व्यक्तियो के पीछे-पीछे चल रहा था। उस पर सवार एक स्त्री इस चेष्टा मे थी कि मौका मिलने पर आगे निकल जाय। ये बातें सुन कर वह व्यथित, अर्ध-विक्षिप्त स्वर मे बोली, "अरे, यह सब मैं सुन चुकी हूँ—फिर क्यो दुहराते हो ? बताओ, दड होने मे कितनी देर है ?"

दोनो व्यक्ति चुपचाप एक ओर हट गये और उस की ओर देखने लगे। उस ने अपना प्रश्न दुहराया।

"पन्द्रह-बीस मिनट होंगे—"

"बस ?" कह कर क्रिस्टाबेल ने घोडे को चाबुक मारा। चाबुक से अनभ्यस्त, थके-माँदे किन्तु अभिमानी, घोड़े ने सिर उठा कर फुंफकारा और फिर तिलमिला कर भीड को चीरता हुआ दौडने लगा। किस को धक्का लगता है, कौन गिरता है, अपने अपमान मे वह सब भूल गया।

दोनों व्यक्तियों ने एक-दूसरे की ओर देख कर कहा, "पूरी दानवी है !" और फिर आगे बढ़ने लगे।

9

उस चौक के आसपास तीनों ओर खचाखच भीड़ भरी हुई थी। चौथी ओर, दीवार की छाया मे, एक शहतीर ज़मीन मे गड़ा हुआ खड़ा था, जिस के साथ सैनिक मार्टिन को बाँध रहे थे। उसे शहतीर के साथ सटा कर, मुँह दीवार की ओर कर के खड़ा कर दिया गया था। मार्टिन चुपचाप निष्क्रिय हो कर देखता जाता था, मानो वह इस अभिनय का प्रधान पात्र न हो कर एक दर्शक मात्र हो।

भीड़ इस क्रिया को देखती जाती थी और आलोचना करती जाती थी, "कैसा मरियल-सा खड़ा है—जैसे अफीम खा ली हो !"

"अरे, कायर को हौसला थोड़े ही होता है ?"

"कल तो बड़ी शान से खड़ा था—जज को भी घुड़की देता था !"

"अरे, जब तक मौत सिर पर नहीं आती, तब तक गीदड़ भी घुड़कियाँ दिखाते है। पता तो तब चलता है, जब सामना होता है।"

भीड़ की आलोचना सदा बड़ी पैनी और विषाक्त होती है, पर मार्टिन पर उस का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा। शायद इसी से आलोचना प्रखरतर होती जा रही थी।

थोड़ी ही देर में बाँधने की क्रिया पूरी हो गयी। सैनिक वहाँ से हट गये।

इस शहतीर से पचास कदम की दूरी पर सैनिकों की एक कतार खड़ी थी, और उन से कुछ हट कर एक सैनिक अफसर, जिस के आदेशानुसार सब काम हो रहा था। उस ने एक बार चारों ओर देखा, भीड़ के एक अंश को पीछे हटने का इशारा किया, फिर सावधान हो कर सैनिक-पंक्ति को आदेश देने लगा।

उस के आदेशों से प्रेरित सैनिकों ने बन्दूकों के कुन्दे अपने कन्धों पर टेके, निशाने साधे और तैयार हो कर खड़े हो गये।

अफसर अपनी घड़ी की ओर देखने लगा।

एकाएक चौक से कुछ दूर पर, पक्की सडक पर, घोडे की टाप—सरपट दौड की टाप—सुन पडी।

किसी ने कहा, "वह कैदी का क्षमा-पत्र आ रहा होगा।"

तत्काल ही किसी ने फटकार दिया, "चुप रहो!"

भीड को चीरता हुआ एक घोडा निकला, और सवार स्त्री ने एकाएक लगाम खींची। घोडा अफसर के बिलकुल पास आ कर रुका। स्त्री क्षण-भर मुग्धवत् देखती रही। भीड ने उस की ओर देखा और एक ही स्वर मे—दबे स्वर मे—बोली, "दानवी!"

अफसर ने घडी से आँख हटाते हुए कहा, "एम! (निशाना साधो!)"

क्रिस्टाबेल चौंकी और लडखडाते हुए घोडे पर से कूद कर अफसर की ओर दौडी।

अफसर ने दृढ स्वर मे कहा—"फायर! (दागो!)"

लोगो की आँखें क्रिस्टाबेल से हट कर मार्टिन पर जा जमी—

उस क्षणिक, गम्भीर, औत्सुक्यपूर्ण प्रकम्पित महाशान्ति मे एक स्त्री-स्वर गूँज उठा, "उसे बचाओ—अकलक! अकलक!"

फिर एकाएक बाहर बन्दूको के नाद मे वह स्वर डूब गया—क्रिस्टाबेल लडखडाने लगी—सैनिक मार्टिन की ओर दौडे—किसी ने कहा, "वह देखो!"

लोगो ने देखा, जिन रस्सियो मे मार्टिन बाँधा गया था, वे टूट गयी थी। मार्टिन दीवार की ओर पैर किये औंधे मुँह पडा था। भीड को एकाएक मानो खोयी हुई वाणी मिल गयी।

"यह कब हुआ?"

"उस की चीख सुन कर ही। मैं देख रहा था, वह चौंका, फिर झटका दे कर घूम गया।"

"मैंने भी देखा था। वह खुद भी चिल्लाया था—"

"क्या?"

"'क्राइस्ट'!"

"नही, 'क्रिस्टाबेल'!"

"हाँ-हाँ, 'क्रिस्टाबेल' ही!"

सैनिको ने जब आ कर मार्टिन के शव को उठाया, तब उन के मुंह पर आदर का भाव था। एक ने कहा, "यह देखो, सभी गोलियां छाती मे लगी हैं।"

लोग मार्टिन के शव को देखने और उस की आलोचना करने मे इतने लीन हो गये कि बेचारी क्रिस्टाबेल—हाथ मे प्रजातन्त्र की मोहरवाला एक कागज लिये खडी क्रिस्टाबेल—की ओर किसी का ध्यान ही नही गया। वह एक बडी लम्बी, बडी थकी हुई, बडी उत्सर्गपूर्ण-सी सांस ले कर गिरते-गिरते बोली, "अक्लक!"

द्रोही

•

वह बुद्धिमान् था या मूर्ख, दवैल था या हठी, साहसी था या कायर, हम नही कहते। क्योकि जिसे एक कायर कहता है, दूसरा दवैल, उसी को तीसरा बुद्धिमान् कह देता है, जिसे एक मूर्ख या हठी कहता है, वही किसी अन्य के यहाँ साहसी वीर कह कर सराहा जाता है।

हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि वह द्रोही था, सिर से पैर तक द्रोही था। इस के अतिरिक्त उस के, उस के कर्मों के, उस की मनोगति के विषय मे जो कुछ उस ने स्वय अपने हाथो लिखा था, उसी का सकलन कर के हम पाठको के सामने रख देते है, उसे देख कर वे जो निष्कर्ष निकालना चाहें निकालें, जिस परिणाम पर हम पहुँचे हैं, वह पाठको को मान्य होगा या नही, यह हम नही जानते, इस लिए अपनी सम्मति से हम उन्हे बाधित नही करेंगे।

1

कैसा घोर परिवर्तन है यह! अभी उस दिन हम उस पर्वत-श्रेणी पर भटक रहे थे, चारो ओर मीलो तक हिमाच्छादित पर्वत-शिखर दीख पडते थे, इधर-उधर जाने मे कोई रोक-टोक नही थी। स्वेच्छाचारिता के लिए कितना विशद क्षेत्र था वह! आज भी, प्रात काल को, कितना स्वच्छन्द हो कर मैं यमुना के तट पर बाइसिकल लिये चला जा रहा था, कोई रोक नहीं थी, कोई यह नही कह सकता था कि इधर मत जाओ। और अब? इस छोटी-सी अँधेरी कोठरी मे चारपाई के साथ हथकडी लगाये पडा हूँ! इतनी भी स्वतन्त्रता नही है कि लेटे हुए से उठ कर बैठ जाऊँ!

लोग कहते हैं, आत्मा निराकार है, उसे कोई बाँध नही

सकता। पर जब शरीर बँध जाता है, तो क्यों आत्मा मानो आकाश से गिर कर भूमि पर आ जाती है ? क्यों उसे इतनी व्यथा होती है ?

आदमी का घर जब जलता है, तब उसे दुःख होता है। क्योंकि आग की तपन को आदमी अनुभव कर सकता है। पर आदमी तो साकार है, आत्मा की तरह तो नहीं है ?

कैसी बीभत्स है यह कोठरी ! सामने दरवाज़ा है—उस में सींखचे लगे हुए हैं—कारागार ! उस के आगे दालान है, पर उस के किवाड़ ऐसी जगह हैं कि मैं देख न पाऊँ—बन्धन ! कोठरी के ऊपर छोटा-सा रोशनदान है, पर वह भी ढाँप दिया गया है कि मैं आकाश का एक छोटा-सा टुकड़ा भी न देख पाऊँ ! कैसा विकट बन्धन है यह जिस में शरीर, दृष्टि और आत्मा, तीनों ही बँधे हुए हैं !

कोठरी की दीवारों पर सफ़ेदी तक नहीं की गयी। अलग अलग ईंटें साफ़ दीखती हैं, और उन के बीच में से मिट्टी गिर रही है···फ़र्श भी गीला है और उस में से सीलन की सड़ाँध आ रही है·· छत में खड़खड़ का शब्द कहीं हो रहा है—शायद चूहे कूद रहे हैं···और यह, मृत्यु की छाया की तरह काले चमगादड़ मेरे सिर पर मँडरा रहे हैं, इन के परों के फड़फड़ाने की आवाज़ तक नहीं आती ! किसी भावी अनिष्ट की प्रतिच्छाया की तरह, किसी घोरतम पतन के पूर्व शकुन की तरह, प्रशान्त, भैरव, निःशब्द हो कर ये वृत्ताकार घूम रहे हैं···और यह वृत्त धीरे-धीरे छोटा होता जाता है···

आँखें बन्द कर के सोचता हूँ, भविष्य के क्रोड़ में क्या है जो मुझ से छिपा हुआ है ? बहुत सोचता हूँ, पर एक प्रशस्त अन्धकार के अतिरिक्त कुछ नहीं दीखता। विचार करने लगता हूँ कि मेरा कर्तव्य क्या है, तो कितनी सम्भावनाएँ आगे आ जाती हैं ''इतने कष्ट में पड़ने से क्या लाभ होगा ? वह महान् व्रत धारण किया था···वर्षों जेल में क्यों सड़ता रहूँ ? उस दिन एक प्रतिज्ञा की थी · पुलिस सब-कुछ तो पहले से जानती है, अगर मैं अपने मुँह से कह दूँ तो क्या हर्ज है ? 'बन्धुओं की रक्षा के लिए मृत्यु के मुख में भी—'··· माफ़ी मिल सकती है, उसे क्यों छोड़ूँ ? 'संसार में सब से पतित व्यक्ति वह है जो डर कर कर्तव्य-विमुख—'···हमारे संघ में अनेकों अयोग्य व्यक्ति हैं

उन्हे बचाने के लिए मैं क्यो आग मे पडूँ ? विश्वास की रक्षा कितनी बडी निष्ठा है।'' अगर मैं निकल कर सघ का नये और उच्चतर आदर्श पर निर्माण कर सकूँ, तो क्या एक मरीचिका के लिए जेल जाऊँ ? 'यह वह सग्राम है जिस मे एक चूक भी अक्षम्य होती है, इस मे वे ही हाथ बँटा सकते हैं जो सर्वथा अकलक हो···'

उफ् ? जब स्वतन्त्र था तब तो कभी कर्त्तव्य-पथ अदृश्य नही हुआ था ! यहाँ आ कर क्यो मेरी अन्तर्ज्योति बुझ गयी है ? भविष्य अगर तुम्हारा हृदय चीर कर उस के भीतर देख सकूँ ! क्या करूँ ? क्या करूँ ? क्या करूँ ?···

मैं आँखें बन्द किये पडा हूँ, फिर भी उन चमगादरो की रवहीन उडान की अनुभूति मेरे हृदय मे एक अजीब ग्लानि-मिश्रित भय-सा उत्पन्न कर रही है···वह वृत्त ज्यो-ज्यो छोटा होता जाता है, मेरी अशान्ति बढती जाती है···

पर जिस विकल्प मे मैं पडा हूँ, वह हटता जाता है·· मुझे जो प्रगति की सम्भावनाएँ दीखती हैं, उन की सख्या कम होती जाती है ··

ज्यो-ज्यो उन चमगादरो की उडान का मडल छोटा होता जाता है, त्यो-त्यो मेरी मनोगति का मार्ग भी सकीर्णतर होता जाता है···एक ही कामना मेरे हृदय मे पुकारती है, एक ही सकीर्ण पथ मेरी आँखो के आगे है, एक ही ज्वलन्त प्रश्न मेरे मन मे नाच रहा है · वह कामना उत्तम है या अधम, वह पथ उन्नतिशील है या अवनति की ओर जाता है, इस की विवेचना करने की शक्ति मुझ मे नही है···वह प्रश्न और उस का उत्तर इतने प्रज्वलित, इतने दीप्तिमान् हैं कि उन के आगे निष्ठा, कर्त्तव्य, प्रतिज्ञा, व्रत, बन्धु, सघ, आदर्श, कुछ नही दीखता !

कमला ! कमला ! तुम्हें कैसे पाऊँगा ?···

निष्ठा क्या है ? जिस का हम पालन करें। कर्तव्य क्या है ? जिसके लिए हम कष्ट झेलें। प्रतिज्ञा क्या है ? जिसे हम निभायें ! पर यह सब उस अखड निष्ठा, उस प्रकीर्ण कर्त्तव्य, उस उग्र प्रतिज्ञा के आगे क्या है ? उस व्रत के आगे जिस मे माता पिता, बन्धु-बान्धव, घर-बार, प्रतिष्ठा, कलक, सब भूल जाने पडते हैं ? उस आदर्श के आगे जिस का अनुसरण करने वाला पतित हो कर

भी दिव्य पुरुष होता है ?

जानती हो कमला ! वह क्या है ?

प्रेम !

लोग कहते हैं, जब तक विकल्प रहता है तब तक अशान्ति रहती है, जब आदमी किसी ध्रुव पर पहुँच जाता है तो उसे शान्ति मिल जाती है। फिर क्यों मेरे मन में स्मृतियाँ उठ कर मुझे तंग करती हैं, क्यों भूले हुए चेहरे मेरे आगे हँसते हैं और मुझे कोसते हैं ?

मैंने निर्णय कर लिया है, सब-कुछ भूल कर एक व्रत निभाऊँगा, उस के लिए जो कुछ होगा सह लूंगा ''व्रत का अनुष्ठान पूरा करने में आनन्द होना चाहिए था, फिर क्यों मेरे हृदय के अन्दर-ही-अन्दर यह आग-सी सुलग रही है ?

एक स्मृति आती है'''एक व्यक्ति कठघरे में खड़ा है, सामने सुल्तानी गवाह बयान देने को खड़ा है। जज, वकील, दर्शक सब निःस्तब्ध बैठे हैं—वह व्यक्ति गम्भीर स्वर में कुछ कह रहा है'''

''लोग कहते हैं, हमें अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान नहीं है। आप कहते हैं, हमने षड्यन्त्र किये हैं, बगावत फैलायी है, राज के कर्मचारियों को मारने का प्रयत्न किया है, इस लिए हम दोषी हैं।

''आपने जो अभियोग मुझ पर लगाया है, उस की मुझे परवाह नहीं है। मैं उस के विषय में अपनी सफाई भी नहीं दूँगा। क्यों ? क्योंकि मैं जानता हूँ, यह न्यायालय नहीं है। यह रंगभूमि है, और नाटक का अन्त क्या होगा, यह आप और मैं अच्छी तरह जानते हैं, क्योंकि हम दोनों ही इस अभिनय के पात्र हैं। दर्शकों के मन में शायद कुछ कुतूहल हो—मेरे मन में नहीं है।

''परन्तु जो दूसरा आक्षेप, जो लोगों ने हम पर किया है ''उस का उत्तर देना मेरा कर्त्तव्य है।

''अगर मैं एक दिन के लिए, कालिदास, या रवि ठाकुर, या माइकेल एंजेलो, या शेपन्ना हो सकता, तो मुझे जितना आनन्द, जितना अभिमान होता, उतना एक समूचे राष्ट्र का विधाता हो कर भी नहीं हो सकता। परन्तु उस जीवन का, उस जीवन के सौ वर्षों का, मैं देश की सेवा में बिताये हुए एक

क्षण के लिए प्रसन्नता से उत्सर्ग कर दूँगा, क्योंकि मुझे अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान है, मैं जानता हूँ कि एक दासताबद्ध देश को कवियों और कलाकारों की अपेक्षा योद्धाओं की अधिक आवश्यकता है ··"

मैं आँखों के आगे हाथ रख लेता हूँ ··पर वह व्यक्ति मेरी ओर देख कर कहता है, "क्यों रघुनाथ, तुम तो बहुत बातें बनाते थे·· "

हट जाओ ! मेरे आगे से हट जाओ ! क्यों तुम मुझे जलाने आ रहे हो ? मैं तुम्हारी बात नहीं सुनूँगा, नहीं सुनूँगा !

एक स्त्री—उस का मुख परिचित है—सुधा ! केश बिखरे हुए हैं, मैला आँचल सिर पर से गिरा हुआ है ··कितनी निर्भीक खडी है वह !

"मुझ पर जो अभियोग लगाया गया है, उस में दोषी ठहराये जाने में ही गौरव है···जो गुलाम हो कर भी उस दोष के दोषी नहीं हैं, वे कायर, नपुंसक, नीच हैं ··"

फिर,—"रघुनाथ, तुम यह जान कर भी पतित हो गये···"

उफ् ! ये स्मृतियाँ !···

मैं निर्णय कर चुका हूँ। अब नहीं बदलूँगा। मैंने व्रत धारण किया है, उसे निभाऊँगा।

कितनी आत्मभर्त्सना, कितने व्याघात सहने पड रहे हैं मुझे···पर मैं दृढ रहूँगा ··

तुम तो मेरी सहायता करोगी न, तुम तो मुझे नहीं कोसोगी ?

कमला ! कमला ! केवल तुम्हें पाने के लिए मैं यह सब कर रहा हूँ ··

मैंने बयान दिया है, बहुत बढा चढाकर बातें कही है। अच्छा किया है।

वे मुझ से पूछते, 'फिर तुम्हारे साथियों ने अमुक काम किया। ठीक है न ?"

उन्होंने किया था या नहीं, इस से मुझे क्या ? मेरी बातों से उन की कितनी हानि होगी, इस से मुझे क्या ? वे उदारहृदय नहीं है। नहीं तो रात को, जब मैं सोने लगता हूँ, तब वे क्यों आ कर मुझे सताते हैं ? अब मैं उस अँधेरी कोठरी मे नहीं हूँ, एक बहुत अच्छे कमरे मे विजली के प्रकाश म पलग पर सोता हूँ, फिर भी उन की स्मृतियाँ चैन नहीं लेने देती···वे मुझे तडपाती रहें, और मैं प्रतिशोध न करूँ ? मैं आदमी हूँ, कोई भेड-बकरी नहीं हूँ !

मैं प्रतिशोध करूँगा, भीषण प्रतिशोध ! जितनी घड़ियाँ मैंने छटपटाते हुए काटी हैं, उन्हे भूलूँगा नही !

मैं उत्तर दे देता, "हाँ, ठीक है । उन्होने किया ।"

मैंने जो कुछ किया ,उचित किया । अगर इस के लिए रातें जाग कर काटनी पड़ें, तो काटूँगा ।

ये स्मृतियाँ कब तक रहेंगी ? जब यहाँ से छूट कर तुम्हें पा जाऊँगा, क्या तब भी ये मुझे सतायेंगी कमला ?

कितना धीरे-धीरे चलता है समय !

• इतने दिन हो गये, मैं अपना बयान समाप्त कर चुका, पर जिरह अभी चल रही है । कैसे मर्मभेदी प्रश्न होते है वे !

"तुम जब बनारस से आये, तो कहाँ ठहरे ?"

"बाबू कामताप्रसाद के घर मे ।"

"बाबू कामताप्रसाद उस समय घर मे थे ?"

"नही ।"

"कौन था ?"

"उन का लड़का ।"

"और ?"

"मुझे याद नही है ।"

"याद कर लो, कोई जल्दी नही है । उन की लड़की भी वहाँ थी ?"

"शायद ।"

"उस का नाम क्या है ?"

"मैं नही जानता ।"

"उस का नाम कमला है, ठीक है न ? सोच कर बताओ ।"

कोई उत्तर नही । क्यो वे बार-बार चक्कर काट कर उसी बात पर आते हैं ? क्या अभिप्राय है उन का ?

"उस बाग मे तुम्हे कौन-कौन मिलने आया ?"

"मैं बता चुका हूँ ।"

"उन के सिवा और कोई नही आया ?"

"नही ।"

"कमला ?"

"नहीं।"

"याद कर लो।"

"कह चुका हूँ, नहीं।"

"अच्छा ख़ैर, जाने दो!"

समझ नहीं आता, क्यों वे बार-बार इसी बात पर चक्कर काटते हैं···न जाने क्या अभिप्राय है! क्या चाहते हैं वे मुझ से कहलाना? किस वास्ते?

यह कहला कर कि मैं कमला से प्रेम करता हूँ, क्या वे उसे मुझ से अलग करना चाहते हैं?

अगर चाहते हैं तो उन की इस आशा को फलीभूत न होने देना, कमला!

हमने सीखा था, किसी विशाल आदर्श के लिए झूठ बोला जाय तो उस में कोई हानि नहीं है, इस के विपरीत वह सर्वथा सराहनीय है। तब क्यों लोग मुझे कुत्ते से भी बुरा समझते हैं? जब मैं अदालत में जाता हूँ, तब सब दर्शक मेरी ओर कैसे देखते हैं···कैसी ग्लानि, कितना तिरस्कार, कितनी उपेक्षा उन की दृष्टि में होती है···और उस के साथ ही एक घृणा-मिश्रित कुतूहल, जैसा सड़क के किनारे पड़े मरे हुए कुत्ते को देख कर होता है! जी में आता है, उन सब दर्शकों की इतनी आँखें न हो कर एक ही आँख होती, और मैं उस में एक तपी हुई सलाख घुसेड़ देता!

कितना आह्लाद-जनक होता उन का पीड़ा से छटपटाना, कितना शान्ति प्रद! पर यह आशा कितनी असम्भव है!

होने दो। वे मुझ से घृणा करते हैं, करें। मेरा तिरस्कार करते हैं, करें। वे हैं क्या? मुझे क्या परवाह है उन की?

पर यह, यह क्या है? मैं अपनी आँखों में भी पतित, अनादृत, तिरस्कृत होता जाता हूँ···

क्यों? क्यों?

संसार मुझ पर हँसता है, मैं संसार पर हँसूँगा। वह मेरी उपेक्षा करता है, मैं उस की उपेक्षा करूँगा। इतनी महती शक्ति मुझे आश्रय दे रही है, मेरी

रक्षा कर रही है, फिर मुझे किस बात का डर ? मैं कायर पुरुष नहीं हूँ, विश्वास-घातक नहीं हूँ। जिस शक्ति ने मुझे शरण दी है, उस के प्रति मेरा जो प्रण है, उसे पूर्ण करूँगा।

उन का अधिकार क्या है कि मेरा तिरस्कार करें ? मैंने कोई पाप नहीं किया है। मेरा अपराध क्या है ? यही कि मैंने प्रेम किया है ? प्रेम पुण्य है, धर्म है, अपराध नहीं है। अगर वे प्रेम नहीं करते, तो उन्हें चाहिए, चुल्लू भर पानी में डूब मरें। मुझ पर हँसने का उन्हें क्या अधिकार है ? उन्हें प्रेम की अनुभूति नहीं हुई, उन्होंने प्रेम का तत्त्व नहीं समझा, तो वे मूर्ख हैं, मैं उन की बात की परवाह कर के मूर्ख क्यों बनूँगा ?

मैं अकेला हूँ, अकेले ही इतना बड़ा काम करने का बीड़ा उठाया है। इतने बड़े षड्यन्त्र का, जिस की शाखें देश के न जाने किस कोने तक फैली हुई हैं, मैं अकेला ही स्पष्टीकरण करने लगा हूँ। मैं अकेला हूँ तो क्या हुआ ? एक विराट् सुसगठित शक्ति इस काम मे मेरी सहायता कर रही है और करेगी ! फिर मैं कैसे हारूँगा ? कैसे वे मुझे सता पायेंगे ?

—पर !

जब से मैं बन्दी हुआ हूँ मेरा आत्म-संयम टूट-सा गया है। मैं क्षण-भर भी अपने मनोवेग को थाम नहीं सकता ! बेलगाम घोड़े की तरह वह मुझे जिधर चाहता है, ले कर भाग जाता है। और मैं डर कर उस से चिपट कर बैठा रहता हूँ कि कहीं गिर न पड़ूँ, उसे रोकने का प्रयत्न करने के लिए मेरे हाथों को अवकाश ही नहीं मिलता।

मैं द्रोही हूँ ? कौन कहता है ?

मैंने एक बार, एक अस्थायी जोश मे आ कर, राजद्रोह करने का और करवाने का बीड़ा उठाया था। पर वह तो यौवन की एक उमंग थी, हृदय का एक उद्‌गार था, उमंग आयी और चली गयी, उद्‌गार उठा और मिट गया। उस एक बात के लिए क्या मैं सदा के लिए द्रोही हो जाऊँगा ? और फिर मैं उस का समुचित प्रायश्चित्त भी तो कर रहा हूँ। जो आग मैंने सुलगायी थी, क्या

उसे बुझाने मे मैं सरकार की भरसक सहायता नही कर रहा हूँ ?

देशद्रोह !

नही, यह देशद्रोह नही है। जो बीज मैंने बोया था, उस से अगर पौधा अच्छा नही लगा, तो क्यो न मै उस की जड़ काटूँ, क्या न उसे समूल उखाड़ फेंकूँ और नये वृक्ष के लिए स्थान बनाऊँ ?

नया वृक्ष बोने के लिए मै अयोग्य हो गया हूँ। पर क्या इस डर से मैं वह सड़ा हुआ पौधा न उखाड़ता ? वह होता देशद्रोह ! मैंने जो किया है, ठीक किया है, देश की सच्ची सेवा की है। मै नया पौधा नही लगा पाऊँगा, न सही। पर औरो के प्रयत्न के लिए स्थान तो बना जाऊँगा।

फिर उस दिन जब वकील ने पूछा, "तुम द्रोही हो कि नही ?" तब किस ने मेरे कान म कहा, 'नीच ! कायर ! एक बार तो सच बोल !" किस अज्ञात किन्तु अदम्य प्रेरणा ने मेरे मुँह से कहला दिया, "हाँ, मै द्रोही हूँ, और अगर कोई मुझे प्राणदड देगा तो मै उस उचित दड समझूँगा !"

कुछ नही। वह क्षणिक भावुकता थी, एक अस्थायी उन्माद था।

पर अगर अस्थायी था, तो क्यो वह हर समय मेरे पीछे लगा रहता है ? क्यो रात को जब सिपाही आवाज़ देते हैं, तब मैं नींद से चौक उठता हूँ मानो किसी ने पुकारा हो, 'द्रोही' , जब पवन चलता है तब मुझे उस की सरसर ध्वनि मे सुन पड़ता है, 'द्रोही !' क्यो जब वृक्षा के पत्ते खड़खड़ाते हैं, तो मेरे मन म भावना कहती है, 'द्रोही !' क्यो, जब पक्षी रव करते हैं, तो मुझे मालूम होता है कि वे तिरस्कार-पूर्वक चिल्ला रहे हैं, 'द्रोही ! द्रोही ! द्रोही !'

एक विराट् शक्ति मेरी रक्षा कर रही है, मुझे प्रसन्न रखने की चेष्टा मे अपनी पूरी सामर्थ्य लगा रही है पर यह, यह अबला, उद्भ्रान्ता, रहस्यमयी प्रकृति कितनी महती शक्ति होगी, जो एक ही अनिर्दिष्टपूर्व उपेक्षापूर्ण हँसी से उस की सारी शान धूल मे मिला देती है !

कितना विचित्र तुमुल है यह जिस के बीच मे मैं खड़ा हूँ, कमला !

द्रोही क्यों ?

दुनिया की मेरे प्रति जो भावनाएँ हैं, उन की मैं उपेक्षा करता हूँ, क्या इसी से मैं द्रोही हो गया ? अपने कर्मों के फल की मैं चिन्ता नही करता, क्या यह द्रोह है ? एक बड़े आदर्श के लिए मैंने एक छोटे आदर्श को छोड दिया, क्या यह द्रोह है ?

हमारे देश मे पैंतीस करोड आदमी हैं। अगर वे सब मिल कर थोडा-थोडा भी काम करें, तो देश की बहुत सेवा हो सकती है, फिर क्या वे हम से आशा करते हैं कि हम तो सारी उमर जेलो मे काटें और वे निखट्टुआ की तरह घर बैठ कर गुलछर्रे उडायें ?

देशभक्त ? नही, हमे देशभक्त कहलाने का चाव नही है। देशभक्ति उन्ही को मुबारक हो जो पिकेटिंग कर के दो महीने जेल मे काट आते हैं और फिर आयु-भर उस की याद मे इठलाते फिरते हैं—'अजी जेल की क्या पूछते हो! हमने जो देखा सो हमी जानते हैं!'

मुझ मे यह पाखण्ड, यह झूठा दम्भ नहीं है। मैंने प्रेम के आदर्श के लिए इस देशभक्ति के आदर्श को छोड दिया है, इस बात को मैं मानता हूँ। पर क्या यह द्रोह है ?

हमारे देश मे कितने ही किस्से प्रचलित हैं, जिन मे प्रेम का महत्त्व दिखाया गया है। विदेश मे भी जो लोग घर-बार, राज पाट, सब छोड कर प्रेम का अभिसरण करते है, उन्हे आदर्श गिना जाता है। जनरल बूलांजियर जब फ्रास के मन्त्रित्व को ठुकरा कर एक ऐक्ट्रस के प्रेम के लिए इग्लैंड चले गये, तब किस ने उन्हें द्रोही कहा ? यूनान के प्रिंस कैरोल ने एक नर्तकी के प्रेम म पड कर देश से निर्वासित होना भी स्वीकार किया, तब किस ने उन्हें द्रोही कहा ? वे तो चरित्रहीन स्त्रियो स प्रेम कर के देश के लाडले बने रहे, और मैं – !

वे बडे आदमी थे, देश के विधाता बन सकते थ, और मै एक छोटा सा अप्रसिद्ध व्यक्ति हूँ, क्या इसी लिए उन का प्रेम क्षम्य है और मेरा अक्षम्य ?

भारत का समाज कितना क्षुद्रहृदय है ? किस्से-कहानियो म, बातो म तो कहते है, प्रेम बडा भारी आदर्श है, इस के आगे सब कुछ तुच्छ है ? पर जब वास्तव म कोई बात सामने आती है, तब कितनी जल्दी पचायत बिठा कर बिरादरी से बाहर करने की सूझती है! कितनी कठोरता स नैतिक स्वातन्त्र्य

का दमन किया जाता है।

पर प्रेम प्रेम ही तब है जब उस के पथ मे काँटे हो, उपेक्षा हो, तिरस्कार हो, और हो भयकर विद्वेष !

अति खीन मृनाल के तारहु ते, तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है,
सुई बेह ते द्वार सकी न तहाँ परतीति को टाँडो लदावनो है,
कवि बोधा अनी घनी नेजहु ते चढि तापै न चित्त डिगावनो है,
यह प्रेम को पन्थ कराल महा, तरवार की धार पै धावनो है !

कमला, जब तक तुम उस पथ के ध्रुवस्वरूप खडी हो, मैं समाज की उपेक्षा कर के उस 'तरवार की धार' पर चलने को तैयार हूँ !

मनुष्य जब पतन की ओर अग्रसर होता है तो कितनी जल्दी कितनी दूर पहुँच जाता है !

मैं तो पतित हुआ ही था, साथ ही दूसरो को घसीटने का प्रयत्न करते भी मुझे शर्म न आयी !

उस दिन जब पुलिस वाले मेरे पास आये और बोले, "रघुनाथ, हम ने उस विमलकान्त की खूब खबर ली है, पर वह कुछ बताता ही नहीं। तुम्ही कुछ उपाय बताओ।" तब किस तत्परता से मैं ने कहा था, "मुझे उस के पास ले चलो, मैं ठीक कर लूँगा।"

वे मुझे उस के पास ले गये। मैंने देखा, वह चारपाई पर बैठा हुआ था, दोनो हाथो म पीठ के पीछे हथकडियाँ लगी थी, पैरो मे बेडियाँ पडी हुई थी। कपडे मैले, फटे हुए—बहुत दिनो से हजामत नही बनी थी। बाँहो पर रस्सी के निशान पडे थे, सिर पर पट्टी बँधी हुई थी। आँखें लाल हो रही थी, मानो बहुत देर से सोने का सौभाग्य न प्राप्त हुआ हो···

वह मुझे जानता था, पर मुझे देखकर चौंका नही। चुपचाप मेरी ओर देखता रहा, मानो मुझे पहचानता ही न हो !

मैंने पूछा 'विमल ! तुम तो बहुत कष्ट मे हो ?"

वह बोला, "आप का परिचय क्या है ? मैं तो आप को जानता ही नही !"

मैं ने बात पलट कर कहा, "देखो, विमल, इस मे कोई फायदा नही है।

क्यो अपने को और अपने घरवालो को व्यर्थ दुख देते हो? सच सच बात क्यो नही कह देते? पुलिस तो सब कुछ जानती है, तुम्हें छोड तो देगी नही, फिर क्यों नही उस की बात मान कर उस का फायदा उठाते?"

वह चुपचाप सुन गया, एक शब्द भी नही बोला। मैं ने समझा, मेरी बात असर कर गयी। मैंने फिर कहा, "बयान दे दो, मैं ने स्वय दे दिया है।"

क्षण भर उस ने इस का भी उत्तर नही दिया। फिर एक ही शब्द बोला—एक ही!

"निर्लज्ज!"

मैं जल्दी से उठ कर बाहर निकल गया। पुलिस वाले बहुत रोकते रहे, पर मैं ने अपने ही कमरे म आ कर दम लिया।

निर्लज्ज!

कितनी मेहनत से मैंने एक कवच बनाया था, पर उस के एक ही शब्द ने उसे छिन्न कर दिया।

उस म शान्ति है, धैर्य है, स्थिरता है। मैं चचल हूँ, ओछा हूँ।

वह नव विवाहित था, फिर भी उस का मुख मलिन नही होता फिर भी इतना अत्याचार सह कर वह हँसता है—फिर भी विचलित नही होता!

उस ने क्या प्रेम का तत्व नही जाना? उसे क्या अपनी स्त्री से प्रेम नही है? वह क्या हृदयहीन है?

फिर क्यो उस वह शान्ति इतनी सुलभ है जो मैं पा नही सकता? क्यो प्रेम का विचार उसे दृढतर बनाता है?

क्या मैं ही नीच हूँ? क्या मैं ही अपने-आप को भुलाये हुए हूँ? क्या मेरा ही प्रेम मिथ्या है कुत्सित है, गर्हित है? क्या मेरे ही हृदय मे दुर्वासना प्रेम का अभिनय कर रही है?

कमला, कितनी भयकर कल्पना है यह!

नीच! कायर! लम्पट! नीच!

कितनी घोर आत्म-प्रवचना है, कितना पाखण्ड! कितना निष्फल दम्भ!

मैं ने जो घोर नारकीय कुकर्म किया है, उसे छिपाने के लिए मैं कितनी रेत की दीवारें खड़ी करता हूँ ''किस के लिए ? किस से मैं अपनी नीचता को छिपाना चाहता हूँ ?

ससार से ? वह पहले ही सब कुछ जानता है ! अदालत से ? अभी उस दिन जज ने स्वय कहा था कि मैं द्रोही हूँ ! इन पहरा देने वाले सिपाहियों से ? ये मेरी ओर दया की (या ग्लानि की) दृष्टि से देखते है, और उन अभियुक्तो की मेरे सामने ही प्रशसा करते हैं ! यहाँ का भगी तक तो मेरे कमरे को 'सुल्तानी का कमरा' कहता है !

अपने-आप से ? मेरे अन्दर जो आत्मग्लानि की आग धधक रही है, उस के प्रकाश म कुछ नही छिप सकता !

कमला स ?

कमला'''

उस अन्तर्दीप्ति का प्रज्वलन मेरे काना म कह रहा है—पाखण्डी! प्रेम का ढाग करनेवाले ! यह प्रेम नही है ! यह है वासना, काम पिपासा इन्द्रिय लिप्सा !

कमला, कितना पतित हूँ मैं ! कितना स्वार्थी, द्वेषी, नृशस, अधम !

स्वार्थ, द्वेष, दम्भ के धुएँ से मेरा हृदय काला पड गया है, वह पुरानी अरुणिमा उस के एक कोने मे भी नही रही ! कमला, दुर्वासनाओ मे झुलस कर यह हृदय इतना विद्रूप हो गया है, इतना अन्धकारमय कि इस मे तुम्हारे योग्य स्थान नही रहा !

कैसी प्रतारणा है ! जिस आशा ने मुझे इस विश्वासघात, इस द्रोह के लिए बाध्य किया, वही मुझे छोड कर चली गयी ! एक स्वप्न की आशा म इतनी नीचता की थी (इसे नीचता नही तो क्या कहूँ ?), वह स्वप्न टूट गया—धोबी के कुत्ते की तरह मुझे कही का न छोड कर !

मैं पतन के गहरे गड्ढे मे गिर गया हूँ, पर कमला ! तुम्हारी स्मृति मुझे क्षण भर के लिए आकाश मे पहुँचा देती है ।

केवल क्षण-भर के लिए ! उस के बाद ·

उफ ! कमला !

लोग कहते हैं बच्चा भगवान् का अवतार होता है।

जाने भगवान् है भी या नहीं, लेकिन बच्चे मे कोई दिव्य शक्ति अवश्य होती है।

नही तो, उस बच्चे के सीधे-से प्रश्न मे मुझे शाप की कठोरता का अनुभव क्यो हुआ ?

मैं अपना बयान दे रहा था। जलपान के समय मे थोडी ही देर थी, मैं सोच रहा था, जल्दी समय पूरा हो और मैं इस प्रखर बाण-वर्षा से छुटकारा पाऊँ!

उसी समय कुछ स्त्रियाँ आकर दर्शक श्रेणी मे बैठ गयी। उन के साथ दो-तीन बच्चे भी थे। मैं उन की ओर देखने लगा। शायद किसी की अस्पष्ट प्रतीक्षा मेरे मन मे छिपी थी!

वह उन मे नही थी। मैंने आँखें उधर से हटा ली। पर कान नही हटे!

एक छोटे-से लडके के तीव्र स्वर ने पूछा, "माँ, यह कौन खड़ा है?"

किसी स्त्री कंठ से निकली हुई कम्पित ध्वनि ने उत्तर दिया, "यही है वायदामाफ गवाह।"

"वही जिस ने भइया को और उन सब को फँसाया है?"

मैं सवाल का जवाब देना भूल गया। वही बच्चे का प्रश्न एक भयकर शाप की तरह मेरे कानों मे गूँजने लगा—"वही जिस ने भइया को और उन सबको फँसाया है!" वही! वही, वही, वही!

मैंने चाहा, पूछूँ, 'कौन है तेरा भइया? मैं ने उसे नही फँसाया!' पर मेरा सिर ही ऊपर नहीं उठा।

अदालत उठ गयी। अनियुक्त नारे लगाने लगे। मैं जल्दी से बाहर निकल गया। उस समय मेरे हाथ कितने काँप रहे थे!

मेरे कानो मे घूम-घूम कर वही ध्वनि गूंज रही थी, 'वही, वही, वही!'

अबोध बालक! मुझे शाप न दे! मैंने किसी को नही फँसाया! वे सब अपने कर्मों से फँस गये थे—मै भी तो फँसा हुआ हूँ!

और जिस जंजाल मे मैं फँसा हूँ, उसे कौन सुलझायेगा!

जलपान का समय पूरा हो गया, पर मेरी फिर अदालत मे जाने की हिम्मत नही हुई! मैंने कहला भेजा कि बीमार हूँ, अदालत स्थगित हो गयी।

वही, वही, वही !

मेरे व्रत का क्या यही पुरस्कार है ? भविष्य में मेरा जो सत्कार होगा, क्या यही उस का पूर्वाभास है ?

वही, वही, वही !

कितना कठोर अभिशाप है !

झूठा कौन है ? नीच कौन है ? कायर कौन है ? बन्धुद्वेषी कौन है ?

स्वार्थी कौन है ? कृतघ्न कौन है ? द्रोही कौन है ?

एक छोटे-से बच्चे की उँगली संकेत से कहती है—

वही, वही, वही !

यह क्या है ? अनुताप ?

ये उन्माद के लक्षण है !

मैं पागल हो रहा हूँ, कमला, पागल ! पागल ! पागल !

दबाऊँगा इस को, कुचल डालूँगा इस उन्माद के वेग को !

मनोवृत्तियाँ मुझे पागल बना रही हैं, इन्हे पीस डालूँगा !

मन का सयम करूँगा। अब तक मन मुझे ले कर स्वच्छन्द फिरता था, अब मैं उसे बाँध कर ले जाऊँगा।

पर—!

मन को बाँध लूँगा, पर इन कुवासनाओ को कैसे बाँधूँगा ? और इन्होने पतन के जिस गहरे गह्वर में मुझे धकेल दिया है, उस से कैसे निकल पाऊँगा ?

एक छोटी-सी भूल के लिए कहाँ तक पहुँचना पड़ता है। पर क्या एक बार पतित हो कर उठने का कोई उपाय नही है ? क्या दुर्वासनाओ का दमन ही नहीं हो सकता ? क्या इस नीच कर्म का कोई प्रतीकार नही है, कोई प्रायश्चित्त नही है ?

प्रायश्चित्त…प्रायश्चित्त…

एक मनोविकार के लिए, एक क्षणिक तृप्ति-लालसा के लिए, मैंने कितनी उत्फुल्ल जीवनियों का खण्डन कर दिया, कितने परिवारों की शिखर-मणियाँ तोड डाली ! इस का क्या समुचित प्रायश्चित्त है ? अपना जीवन दे कर भी तो मैं कुछ नहीं कर सकता !

प्रतीकार प्रतीकार···

क्या करूँ ? अब तो सब कुछ कर चुका, अब मेरे हाथ में क्या रह गया है ?···

बयान !

बयान वापस ले सकता हूँ···

पर उस से क्या होगा ? और भी तो द्रोही है, मेरे बयान वापस लेने पर भी वे रह जायेंगे···और सबूत—हमारे अतिरिक्त भी तो कितने ही गवाह हैं, और सबूत भी तो बहुत है···एक मेरे बदल जाने से क्या होगा ? जिन जीवनियों का खण्डन कर चुका, वे तो खण्डित ही रह जायेंगी, जो मणियाँ नष्ट हो गयी वे तो नष्ट ही रहेंगी, जो घर उजड गये वे तो उजडे ही रह जायेंगे, जिन अभागिनियों के सौभाग्य सूर्य अस्त हो गये उन के भाग्य तो फिर जागेंगे नहीं और मुझे अलग दण्ड मिलेगा। तब उस सब उत्पात का क्या फल होगा ? जिस स्वातंत्र्य को मैंने इतने दामों पर मोल लिया है वह भी छिन जायगा और प्रतीकार भी नहीं होगा·· एक क्षणिक भावुकता में पड कर बुलबुले की तरह मेरी चिरसंचित आशाएँ फूट जायेंगी और मैं देखता रह जाऊँगा !···

और तुम्हे, कमला, तुम्हे भी नहीं पा सकूँगा !···

जब संसार की सृष्टि भी नहीं हुई थी, तब भी अनन्त आकाश में महा-माया का राज था। आज विद्या इतनी फैल गयी है, सद्बुद्धि का प्रचार हो रहा है, फिर भी मोह पीछा नहीं छोडता···

मैं निश्चय कर लेता हूँ, वासना का दमन करूँगा, मन को विशुद्ध करूँगा, दुष्कर्मों का प्रायश्चित्त करूँगा, फिर एक छाया, एक छाया की छाया उस नाम की स्मृति, मेरे सारे निश्चयों को बिखेर देती है ! यह है संयम जिस का मुझे

इतना अभिमान था !

मेरा प्रायश्चित्त विफल होगा, मेरा किया हुआ प्रतीकार विडम्बना होगा। पर क्या इसी लिए मैं दूसरी बार कर्त्तव्यच्युत हो जाऊँ ?

न सही प्रायश्चित्त, न सही प्रतीकार। अपनी पाप-वृत्ति के लिए अपने को दंड ही दूँगा।

दूसरों को मैं, इतनी सज़ा दिला रहा हूँ, और वे उसे प्रसन्नता से झेल रहे हैं, फिर मैं ही क्या ऐसा हूँ जो दो तीन साल जेल में नहीं काट सकूँगा ?

पर पर और भी तो दंड मिलेगा यह जो आजीवन मेरी सहायता करने का सरकार का वायदा था, वह नहीं रहेगा जब जेल से बाहर आऊँगा, तब काम कैसे चलेगा ? उलटे सरकार अधिक सतायेगी !

नहीं। जब दंड देना है तो समुचित देना होगा, बाद में जो होगा उस की बात नहीं सोचनी होगी।

कमला, तुम स्त्री हो या आँधी !

विवेक कहता है, 'दंड देना होगा।' हृदय रोता है, 'कमला' ! विवेक कहता है, 'यह प्रेम नहीं है, मोह है।'

कमला, कमला, कमला ! तुम्हें नहीं छोड़ सकूँगा 'प्रेम न सही, आसक्ति सही, मोह सही, वासना सही, पर कितनी सुखद आसक्ति, कितना मनोरम मोह, कितनी मीठी, कितना सुरभित, कितनी प्रचंड वासना है यह !

2

स्वप्न

कैसा भयानक था उस का रूप ! बड़ी-बड़ी लाल आँखें, चौड़ी नाक, वराह की तरह बाहर निकले हुए बड़े-बड़े दाँत और इतना काला शरीर !

मुझे देख कर वह ठठा कर हँसा। सारा आकाश उस के खुले हुए मुख में समा गया जिधर देखता उधर उस का खुला हुआ वीभत्स मुँह

और उस के अन्दर—उस के अन्दर मैं ने देखा—

बहुत-से स्त्री पुरुष-युग्म आश्लेषण कर रहे थे पर पर मैं ने यह भी

देखा, उन को बहुत-म बडे-बडे साँप लिपट-लिपट कर बाँध रहे थे—और धीरे-धीरे अपना बन्धन कसते जाते थे···उन युगल मूर्तियो के मुख पर अनुराग की लालिमा, सौन्दर्य की आभा, तृप्त-लालसा की स्मित धीरे-धीरे मिटती जाती थी और उस के स्थान मे—

क्रूर लोलुपता, भीषण ग्लानि, और दारुण वेदना एक साथ ही अधिकार जमा रही थी···

वह हँसा—कितना घोर अट्टहास था वह ! फिर बोला, "ये भी करते थे ऐसा प्रेम ! अब तुम आओगे, तुम !"

वह मुख मेरी ओर अग्रसर होने लगा···

मैंने बडे जोर से चीख मारी—

स्वप्न !

मेरे पास जो इस्पेक्टर सोया था, जाग पडा और बोला, "क्या हुआ ! क्या हुआ ?" मैं ने लज्जित हो कर कहा, "कुछ नही !" और पडा रहा। वह फिर सो गया।

पर मैं···वह स्वप्न नही भुला सका···

मच्छर मेरे कानो मे भिन्नाते, तो मुझे सुन पडता, 'तुम, तुम तुम !' मैं उठ कर बैठ गया, सारी रात जागते ही काटी !

कमला, क्या प्रेम की यही व्याख्या है ? अगर है तो कितना कुत्सित है यह !

पारिजात के फूलो की तरह नीद अलभ्य हो गयी है ! पर मैं, जिस का मन निकृष्ट विचारो से भरा हुआ है, मैं क्यों पारिजात के फूलो की बात सोचता हूँ ?

रात की—रात की कितनी आँखें हैं ! वे सभी घूर-घूर कर मेरी ओर देखती है, मैं उन से आँख नही मिला सकता। पर जब आँखें बन्द कर लेता हूँ, तो उन बडे-बडे दन्तुर राक्षसो का समूह मुझे देख कर हँसता है !

कहते है, प्रकाश मे डर नही लगता। पर मुझे प्रकाश मे भी जाग्रत् स्वप्न

दीखते हैं—स्मृतियां आ कर चित्रवत् मेरे आगे खडी हो जाती हैं···

दीवार की ओर देखता हूँ, तो दीवार परदे की तरह आंखो के आगे से हट जाती है ··

कृष्णपक्ष की कोई रात है। पवन बिलकुल निश्चल है, कही एक पत्ता तक नही हिलता। पृथ्वी के उत्तप्त उच्छ्वासों की तरह वायुमडल भी गरम और वाष्पमय हो रहा है—

एक जगल। बहुत घने, छोटे-छोटे पेड हैं, कांटे भी बिखरे हुए है। बीच मे एक छोटा-सा खुला हुआ स्थान है, वही अँधेरे मे दो व्यक्ति खडे है। उन के बीच मे एक शरीर जमीन पर पडा है—उस के दोनो हाथ नही है, मुँह का बहुत-सा अश मानो झुलस कर काला पड गया है, और पेट···जहाँ पेट होना चाहिए, वहाँ रक्त का एक कुड बन रहा है!

दोनो व्यक्ति उस शरीर पर झुके हुए हैं। एक शायद रो रहा है···

वह—वह शरीर प्राणहीन नही है, पर उस के मुँह मे व्यथा के शब्द नही निकलते!

वह धीरे-धीरे गुनगुना रहा है···मैं जा रहा हूँ। तुम रोते क्यो हो? मैं अपना काम पूरा नही कर सका। मेरे हाथ नही रहे! तुम क्यो अधीर होते हो? जिस काम को मैं अधूरा छोड चला हूँ, उसे तुम पूरा करना···'

मुख पर एक क्षणिक वेदना की रेखा—फिर एक बहुत हल्की-सी हँसी···

'मेरे काम को भूलना मत!'

सिर से पैर तक एक कम्पन, सिर उठाने का एक क्षीण, विफल प्रयत्न··· फिर शान्ति···

दोनो व्यक्ति एक-दूसरे की ओर देखते हैं। एक कहता है—'चले गये···'

नही देखूँगा उस दीवार की ओर! वह इतनी निश्चल है, मेरा मन उस पर स्थिर नही रहता।

लैम्प पर ये पतगे मँडरा रहे हैं। इन मे चांचल्य है, ये निर्जीव, निःस्पन्द नही हैं।

बन्धुओं को और प्रतिज्ञाओं को भूल कर उस का अनुसरण किया था। मैं लज्जित नहीं हूँ, क्यों होऊँ? तुम भी इन व्यर्थ की बातों को भूल जाओ और मेरे साथ आओ! यही जीवन है!"

चुप रहो, तुम भगोड़े थे, कृतघ्न थे! तुम अपने बन्धुओं को छोड़ गये!

और मैं तो भगोड़ा ही था, अपने साथियों को भूला ही था मैंने उन्हें फँसा कर उन का सत्यानाश कर डाला! फिर भी मैं उस भगोड़ा कहने का साहस करता हूँ—मैं, कृतघ्न कायर, अधम! मैं, जिस के लिए उचित सम्बोधन किसी कोष में नहीं होगा···

उस की ओर देखूँगा, उस दीप्तिमान लैम्प की ओर! क्या फिर भी ये स्मृतियाँ मुझे सतायेंगी?

कैसी शान्त ज्योति है! मेरे मन के जो उद्‌गार उठ कर मुझे हिला देते हैं, उन में यह कम्पायमान भी नहीं होती!

इस की दीप्ति शान्तिमयी है, स्थिर है, किन्तु इस में भव्यता नहीं है, भैरवता नहीं है।

उस में भी महाशान्ति थी, पर कितनी भव्य, कितनी भैरव थी वह दीप्ति!

वह चिता थी, पर श्मशान-भूमि में नहीं थी! एक महापुरुष की चिता थी, पर उस में अगर-चन्दनादि सुगन्धित द्रव्य नहीं थे। वह थी जंगल में बीनी हुई छोटी-छोटी लकड़ियों की चिता, और उस के पास रोने को खड़े थे तीन युवक!

तीनों फौजी ढंग से, एक कतार में, सिर की टोपियाँ उतारे हुए, सावधान खड़े थे। उस प्रज्वलित चिता की लाल लाल, काँपती हुई ज्योति में मैंने देखा, उन के मुँह पर विषाद का भाव था, आँखों में एक विचित्र चमक, पर आँसू, रोना, कहीं नहीं था···

चिता धीरे-धीरे कुछ स्वर कर रही थी, मानो तृप्त हो कर एक निःश्वास ले रही हो। और कोई ध्वनि कहीं नहीं हो रही थी···

एकाएक कहीं दूर पर घोड़ों की टापों का शब्द हुआ। वे तीनों चौंके···

फिर···जल्दी-जल्दी मिट्टी डाल कर उन्होंने वह अधजली चिता बुझा दी !

रात्रि के धुँधले प्रकाश में उन्होंने चिता से वह शरीर उठाया और नदी के किनारे पर ले गये···एक-दो बार ज़ोर से हिला कर उन्होंने—

छप्

नदी के प्रवाह में वह कहीं लुप्त हो गयी···

एक युवक धीरे से बोला—"इतना भी न कर पाये !"

कोई उत्तर नहीं मिला। तीनों अँधेरे में कहीं ओझल हो गये

वनिता चिता से दुर्गन्धमय धुआँ फिर भी आकाश की ओर उठता रहा, मानो भूखी चिता ईश्वर के आगे पुकार करने को अपनी मूक वाणी भेज रही हो !

चन्द्रमा ! कितनी स्निग्ध है उस की ज्योत्स्ना !

निर्निमेष हो कर उस की ओर देखता हूँ मुझे कलंक कहीं नहीं दीखता। न कहीं पर्वत-तुंग और गड्ढे ही दीख पड़ते हैं। दीखता है एक मन्द स्मित मानव-मुख।

वह मुस्कान है, या मेरी दशा पर तिरस्कारपूर्ण हँसी ?

नहीं, उस में तिरस्कार नहीं है, अनुकम्पा है, आश्वासन है। वह मानो मुझे कह रहा है, चंचल मत हो, घबरा मत।

उस दिन जब शशिकान्त हमें दिलासा दे रहे थे, उस दिन उनके मुख पर भी यही भाव था··

हम दुमंज़िले के ऊपर बैठे हुए थे, नीचे पुलिस आ गयी थी। दोनों ओर से गोलियाँ चल रही थीं—उधर से लगातार, हमारी ओर से कभी-कभी मौका देख कर···

हमारा गोलियों का ढेर बड़ी शीघ्रता से छोटा होता जाता। मैं सोच रहा था, 'अभी पाँच मिनट बाद क्या होगा ?'

उन्होंने मुख का भाव देख लिया। बोले, "रघुनाथ, यही तो जीवन का मज़ा है ! इतने दिन भागते फिरे, आज एकाध हाथ दिखा देंगे !"

उन की वाणी मे इतना विश्वास भरा हुआ था, मुझ से उत्तर देते नहीं बना। मैं ने आँख बचा कर गोलियो के ढेर की ओर देखा।

उन से वह भी नही छिप सका ! बोले, "वह क्या देखते हो ? हमारा बल उसमे नही है। हमें चाहिए धैर्य ! वह तो आपत्ति-काल के लिए एक निमित्त मात्र है—हमारी शक्ति है दिल मे !"

मैं लज्जित हो कर धीरे-धीरे—बहुत धीरे-धीरे, अपने रिवाल्वर में गोलियाँ भरने लगा ··

'दिल मे !' मैंने अपने दिल की ओर ध्यान किया, वह बडे जोर से धडक रहा था !

न जाने कैसे, शशिकान्त को कुछ आभास-सा मिल गया। वे खिन्न हो कर बोले, "अभी समय है। मैं इन्हे यहाँ फँसाये रखता हूँ, तुम दोनो पिछली गली से निकल जाओ ! अभी पुलिस उधर नही गयी है।"

मेरे जी मे आया, दौड कर निकल जाऊँ। पर मेरा साथी हिला भी नही। मैं लज्जित हो कर बैठ गया···कितना काँप रहा था मेरा शरीर !

उन्होने फिर पूछा, "जाते क्यो नही ?"

मेरा साथी बोला, "दादा, तुम्हे अकेला छोड कर हम नही जायेंगे।"

वे एक क्षण चुप रहे·· फिर बोले, "ओबे आर्डर्स।"

आज्ञा !

हम दोनो ने अपने रिवाल्वर जेब मे रखे और चुपचाप उठ कर चल दिये। मैंने एक बार मुड कर देखा, पर वे मानो हमे भूल गये थे—शान्त, कुछ मुस्कराते हुए, नीचे की ओर तीव्र दृष्टि से देख रहे थे, जैसे बाज झपटने से पहले अपने शिकार की ओर देखता है···

उस के बाद ?

··· ·· ···

मेरा मन विकृत है, उन विकारो की प्रतिच्छाया मुझे प्रत्येक वस्तु मे दीखती है। चन्द्रमा की ज्योत्स्ना तक मे वही व्याप्त हो रही है !

इस तरह मैं अपनी विच्छिन्न मन शक्ति को और भी निर्बल बना रहा हूँ !

मैं

मैं ने···

कमला ! कमला ! कमला ! क्या कह रही हो तुम ? 'तुमने, तुमने, तुमने मुझे कलंकित कर दिया है ।'

मैंने !

तुम पागल तो नही हो गयीं ? या परिहास तो नही कर रहीं ? पर नहीं, तुम्हारी आँखों में आँसू हैं और बड़े यत्न से दबाये हुए क्रोध के आँसू !

मैं ने तुम्हें कलंकित कर दिया है, मैं ने, जो कि सब निछावर कर के तुम्हारी एकाग्र उपासना कर रहा हूँ ! मै ने, जो कि तुम्हारे आगे इतने नव युवकों के जीवन को तुच्छ समझता हूँ !

कितना असह्य लाञ्छन लगा रही हो मुझ पर तुम, कमला !

तुम ठीक कहती थी, कमला, मैंने तुम्हें कलंकित कर दिया है। मैं तुम से प्रेम करता था ! वह प्रेम ही वासना था, कलुषित, कलंकित, कुत्सित। तुमने मुझे मेरी भूल सुझा दी है।

कमला, मैं दोषी हूँ !

पहले मैंने राजद्रोह किया था फिर अब देशद्रोह कर रहा था पर तुमने, तुमने मुझे सुझा दिया कि मैं मानवता के विरुद्ध भी द्रोह कर रहा हूँ · सच्चाई के साथ ही मैंने मानवता भी खो दी ! अब मैं क्या हूँ ? इन चिउटों की तरह, इन मच्छरों की तरह, जो भिन्नाते है, काटते हैं, पर जिन्हें कर्त्तव्याकर्त्तव्य ज्ञान नही है !

मैं बहुत गिर चुका हूँ, इतना कि शायद अब उठ नही सकूँगा ! पर कमला एक काम अवश्य करूँगा, एक काम जिस से मैं इतना डरता था, एक काम जिस से मेरी सब एकत्रित उमगें टूट कर बिखर जायेंगी। मेरे पास एक ही साधन रह गया है। प्रायश्चित्त का नही, प्रतीकार का नहीं, तुम्हारे मुख पर से वह घोर कलंक का टीका मिटाने का नही, तुम्हारे योग्य बनने का नही, केवल यह दिखा देने का कि मैं प्रायश्चित्त करना चाहता था, तुम्हारे मुख से वह कलंक मिटा कर तुम्हारे योग्य बनना—तुम्हारे योग्य बनने का प्रयत्न

रना—चाहता था ! ससार शायद फिर भी मेरे नाम पर थूकता रहेगा, रहे। अब मैं उस का ध्यान नहीं करूँगा—केवल तुम्हारा, केवल तुम्हारे और तुम्हारे श्रीहीन मुख का !

मैं जीवन मे निरुद्देश्य हो कर बहुत गिर चुका हूँ, पर अब यह खोया हुआ उद्देश्य मुझे फिर वापस मिल गया है।

कल—मैं मिटा दूँगा उस कलक की स्मृति भी··

कल—वापस लूँगा बयान···

कमला, कमला, फिर तो मुझ नीच पर दया करोगी ?

3

मैं खड़ा था, उस गोल कमरे के बीच म अभियुक्त, वकील और जज, सब अपने-अपने स्थान पर बैठे थे। जिरह का आरम्भ होनेवाला था।

नित्य की तरह मेरे हृदय मे कँपकँपी नही थी, मैं चौंक-चौंक कर इधर-उधर नही देखता था · मेरे जीवन मे निश्चय था, वह पहले की तरह उद्देश्यहीन नही रह गया था।

मेरे शरीर मे बिजली दौड गयी·· एक जीवित स्वप्न आया और दर्शको मे बैठ गया—एक बहुत ही मधुर स्वप्न—कमला ! मैंने मन-ही-मन कहा, "कैसा अच्छा सयोग है यह ! आज मैं उस का कलक मिटाने आया था, आज वह स्वय उपस्थित है। वह देखेगी !"

मैंने उस की ओर फिर नही देखा। एक भावना मेरे कानो मे कहने लगी, 'वह कलकिनी है, तुमने उसे कलकित कर दिया था। जब अपना काम कर चुकोगे, तब उधर देखना।'

वकील खडा हुआ ! मेरा दृढ हृदय धक् से हो गया, उस का स्पन्दन मुझे सुन पडने लगा·· किस प्रश्न का क्या उत्तर दूँगा, कैसे वकील चौंक कर उठेंगे और एक नये औत्सुक्य—एक नयी उत्कठा से मेरी ओर देखने लगेंगे···

एक अभियुक्त उठा और बोला, "मेरा एक वक्तव्य है।"

जज बोला, "लिख कर भेज दो !"

"नहीं, मैं ज़बानी कहूँगा।" कह कर वह पढने लगा ··

देर होती गयी, और मेरे हृदय का स्पन्दन बढता गया। दर्शकों की

ओर—दर्शकों में बैठी उस की ओर,—देखने की व्यग्रता भी बढ़ती गयी···इस दुविधा में वह वक्तव्य भी ठीक नहीं सुन पाया···

"विदेशी सरकार ने हमारा जो उपकार किया है, हमने उस की कद्र नहीं की, इसी का उत्तर माँगने के लिए आपने हमें यहाँ बुलाया है। मैं इस प्रश्न का उत्तर नहीं दूँगा। क्यों ? क्यों कि इस का उत्तर हिन्दुस्तान की भूमि के रेणु-मात्र पर लिखा हुआ है। ··

"आप ने हिन्दुस्तान में शराब और अफीम बेच कर हमारी बुद्धि भ्रष्ट की, आप विचित्र कानून बना कर हिन्दुस्तान का सोना खींच कर विलायत ले गये, आपने हमारे श्रमजीवियों को इतना निर्धन किया कि आज एक-एक छोटी कोठरी में चार-चार परिवार, बीस-बीस प्राणी, आयु बिताने को बाध्य हुए, आपने असहायों पर गोलियाँ चलायीं, दंगे करवाये, फिर आप को यह पूछते शर्म नहीं आती कि हम अकृतज्ञ क्यों हैं ! ·

"आप अन्याय पर तुले हुए हैं फिर क्यों न्याय का ढोंग कर के अपनी हँसी करवाते हैं ? जो दंड देना है, आज ही दे डालिये। क्यों व्यर्थ हमारी भूखी प्रजा का रुपया फूँकते हैं ?

"जिस की गवाही पर आप हमें दंड देने चले हैं उस ने पहले सरकार से विश्वासघात किया है, फिर देश से, और फिर सत्य की उपेक्षा कर के न जाने कितने झूठ बकता रहा।

"वह राज-द्रोही है, देश-द्रोही है, धर्म-द्रोही है। उस की साक्षी पर हमें दंड दे कर क्यों आप न्याय का मुँह काला करते हैं ?"

इस से आगे मैं नहीं सुन सका···मुझे बस अपने हृदय की वह धक् ! धक् ! धक् ! ही सुन पड़ने लगी मेरे हाथ-पैर काँपने लगे·

किसी प्रेरणा ने मेरे कान में कहा, 'कमला की ओर देखो ! वह तुम्हें शक्ति प्रदान करेगी !'

किस शैतान की प्रेरणा थी वह ! मेरा निश्चय उस के आगे उड़ गया—मैंने देखा, तृषित, लालसामय आँखों से, उस की ओर !

वह मेरी ओर नहीं देख रही थी। वह देख रही थी उस अभियुक्त की ओर, सुन रही थी उस का वक्तव्य। कितनी तल्लीन हो कर ! उस का प्रत्येक वाक्य सुन कर कैसे खिल उठती थी उस की मुखश्री ! उस खिलने में थी

सन्तुष्टि, उस मे था आनन्द, उस मे था गर्व !

मैं मुग्ध हो कर कितनी ही देर उधर देखता रहा…शायद उसे इस का भास हुआ, उस ने मानो स्वप्न से जाग कर मेरी ओर देखा। क्षण-भर के लिए, फिर आँखें फेर ली।

क्या था उस की आँखो मे ? उपेक्षा, विरक्ति, अनुताप, लज्जा !…

वह शैतान एक विद्रूप हँसी हँसा मेरे कान मे। मैंने सुना—"कौन है वह ? कमला तुम्हारी क्या है, तुम कमला के कौन ?"

कमला ! यह क्या देख रहा हूँ…

जब तुम उधर, उन की ओर देखती हो, तब तुम्हारी आँखो मे यह क्या हो जाता है ?

तुम्हे क्या हो गया है कमला, तुम मुझे भूल गयी…

मेरे जीवन का उद्देश्य…मेरा निश्चय…मेरा प्रण…कहाँ गये ?

मेरे लिए अन्धकार ही अन्धकार है !

कमला, मैं नीच था, पतित था, कायर था, द्रोही था, नरक के कीडे की तरह था, पर तुम्हारे प्रति तो मेरे भाव नही बदले थे ··तुम्हे तो समझना चाहिए था कि किस प्रेरणा ने मुझे इस पतन की ओर प्रेरित किया था… तुम्हे मैं क्या समझा था—तुम भी मुझे समय पर ठुकरा कर चली गयी ··

मैं सब की आँखो मे गिरा हुआ था, पर तुम्हारी आँखो मे तो न गिरने का मैंने पूरा प्रयत्न किया था…और तुम्हें भी तो मैंने इतने ऊँचे सिंहासन पर बिठाया था…इस उपेक्षा मे दो आदर्श टूट गये—उस सिंहासन से तुम च्युत हो गयीं, और मैं…न जाने कहाँ तक गिरता ही जाऊँगा…!

कमला, आज मैं सरकार की इतनी महती शक्ति का तिरस्कार कर के तुम्हारे मुख पर से कलंक मिटाने आया था, पर तुमने मुख फेर लिया ··मेरे हाथ कलुषित थे, पर अगर तुम्हारी आँखो मे भी मैं इतना पतित हो गया हूँ, कमला, तो मेरे जीवन के सभी आधार टूट गये…

मैं पतित था, पर मुझे अपने पतन का ज्ञान तो था…मैं उठना चाहता

था पतन के गह्वर से निकलना चाहता था तुम मेरी सहायता कर सकती थी पर तुमने उपेक्षा की मरा तिरस्कार किया मेरी उस उच्च कामना को ठुकरा दिया

मुझ कठघरे म खड अभी पाँच मिनट भी नही हुए थे कितने समुद्र के समुद्र मेरे आगे से बह गये मुझ ऐसा मालूम हुआ मेरे हृदय की धक ! धक ! से अन्तस्तल म कही बहुत-से बन्धन एक साथ टूट गये मेरे नीचे से धरती खिसकने-सी लगी

मैंने चाहा चिल्लाऊँ कमला कमला तुमने यह क्या किया ! पर जब बोला तो वकील के प्रश्न का उत्तर ही मुह पर आया !

वह प्रश्न पूछता गया मैं उत्तर देता रहा कोई चौंका नही किसी को विस्मय नही हुआ किसी को उत्कठा नही हुई किसी ने उत्सुक हो कर मेरी ओर नही देखा

और कमला ! कमला उसी तरह उसी खिली हुई मुखश्री से उसी गव से उन की ओर देखती रही मेरी ओर उस ने भूल कर भी फिर नही देखा

4

जो एक बार अपनी इच्छा से पतित होता है उस का उत्थान होना असम्भव है। कोई उस का मित्र नही होता कोई उस की सहायता नही करता। मेरे लिए यही जीवन है—यही जिसे एक दिन मैंने इतनी व्यग्रता से अपनाया था और जिस ने आज साँप की तरह मुझे अपने पाश मे बाँध लिया है।

मैं द्रोही हूँ और रहूँगा।

द्रोह मेरे हृदय मे है मेरी अस्थियो मे है मेरी नस नस मे है। मैं द्रोही हूँ।

पहली बार मैंने सरकार स द्रोह किया था किसी की मुखश्री से आकृष्ट हो कर। दूसरी बार मैंने देश से द्रोह किया किसी के शरीर की लालसा से।

तीसरी बार फिर मैंने धर्म से द्रोह किया, किसी के लिए ईर्ष्या कर के।

फिर, अपनी नीचता का परिणाम जब मैं जान पाया, तब मैं प्रायश्चित्त करने गया। पर फल क्या हुआ? प्रायश्चित्त भी नहीं किया और अपनी अन्तरात्मा के प्रति भी द्रोही बन कर लौट आया!

मैं अपना बचाव नहीं करता। मैं अधम हूँ। पर मेरे जीवन के सारे आधार, मेरे उद्देश्य, मेरी आशाएँ, सदाकांक्षाएँ, सब कमला की उपेक्षा ने एक ही झोंके में मिटा दी, और मेरे लिए उत्थान का कोई मार्ग नहीं छोड़ा!

अगर वह मेरी सहायता करती, तो कौन-सा ऐसा काम था जो मैं न कर पाता? वह जिस का मैंने इतनी एकाग्र वृत्ति से ध्यान किया था, वह जो परीक्षा के समय मुझे ठुकरा कर चली गयी—कमला!

पर अब—! अब नहीं। मेरा भाग्य निर्णय हो गया है, मेरा इस प्रवाह के विपरीत चलने की स्पर्धा करना बेवकूफी है। मैं कुछ नहीं करूँगा, बह जाऊँगा!

क्या? मैं द्रोही था, द्रोही हूँ, द्रोही ही रहूँगा!

विपथगा



यह मानवी था या दानवी यह मैं इतने दिन सोच कर भी नही समझ पाया हूँ। कभी कभी तो यह भी विश्वास नही होता कि उस दिन की घटना वास्तविक ही थी स्वप्न नही। किन्तु फिर जब अपने सामने की दीवार पर टँगी हुई वह टूटी तलवार देखता हूँ तो हठात उस की सत्यता मान लनी पडती है। फिर भी अभी तक यह निणय नही कर पाया कि वह मानवी थी या नही •

उस के शरीर म लावण्य की दमक थी मुँह पर सौंदय की आभा थी ओठो पर एक दबी हुई विचारशील मुस्कान थी। किन्तु उस की आखें ! उन मे अनुराग विराग कोध विनय प्रसन्नता करुणा व्यथा कुछ भी नही था। थी केवल एक भीषण तुषारमय अथाह ज्वाला !

मनुष्य की आखो मे ऐसी मृतवत जडता के साथ ही ऐसी जलन हो सकती है यह बात आज भी मेरे गुमान म नही आती। किन्तु आज एक वष बीत जाने पर भी मैं जब कभी उस का ध्यान करता हूँ उस की वे आँखें मेरे सामने आ जाती हैं। उस की आकृति उस का वण उस की बोली मुझे कुछ भी याद नहीं आता केवल वे दो प्रदीप्त बिम्ब दीख पडते हैं रात्रि के अध कार म जिधर आख करता हूँ उधर ही स्फटिक मणि की तरह नीले आकाश म शुक्र तारे की तरह हरित ज्योतिमय उस के वे विस्फारित नेत्र निर्निमेष हो कर मुझ पर अपनी दृष्टि गडाये रहते हैं

मैं भावुक प्रकृति का आदमी नहीं हूँ। पुराने फैशन का एक दम साधारण व्यक्ति हूँ। मरी जीविका का आधार इसी पेरिस शहर के एक स्कूल मे इतिहास क अध्यापक का पद है। मैं सिनमा थियेटर दखने का शौकीन नहीं हूँ न मेरा कविता मे ही

न लगता है। मनोरजन के लिए मैं कभी-कभी देश-विदेश की क्रान्तियों के इतिहास पढ़ लिया करता हूँ। एक-आध बार मैंने इस विषय पर व्याख्यान भी दिये हैं। इस से अधिक कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि यह विदेश है। जब पढ़ने से मन उकता जाता है, तब कभी-कभी पुराने अस्त्र-शस्त्र के सग्रह में लग जाता हूँ। बड़ी मेहनत से मैंने इन का एक सग्रह किया है। जिस कटार से सम्राट् पीटर ने अपनी प्रेमिकाओं की हत्या की थी, उस की मूठ मेरे सग्रह में है, जिस प्याले में कैथराइन ने अपने पुत्र को विष दिया था, उस का एक खड, जिस गोली से एक अज्ञात स्त्री ने आर्क-एजेल के गवर्नर को मारा था, उस का खाली कारतूस, जिस घोड़े पर सवार हो कर नेपोलियन मॉस्को से भागा था, उस की एक नाल, और नेपोलियन की जैकट का एक बटन भी मेरे सग्रह में है। ऐसा सग्रह शायद पेरिस में दूसरा नहीं है—शायद मॉस्को में भी नहीं था ··

पर जो बात मैं कहना चाहता था, उस से भटक गया। हाँ, मैं भावुक प्रकृति का नहीं हूँ। मेरी रुचि इसी सग्रह में, या कभी-कभी क्रान्ति-सम्बन्धी साहित्य तक, परिमित है, और इधर-उधर की बातें मैं नहीं जानता। फिर भी उस दिन की घटना मेरे शान्तिमय जीवन में उसी तरह उथल-पुथल मचा गयी, जिस तरह एक उद्यान में झझावात। उस दिन से न जाने क्यों एक अज्ञात, अस्पष्ट अशान्ति ने मेरे हृदय में घर कर लिया है। जब भी मेरी दृष्टि उस टूटी हुई तलवार पर पड़ती है, एक गम्भीर किन्तु भावातिरेक से कम्पायमान ध्वनि मेरे कानों में गूँज उठती है :

"दीप बुझता है तो धुआँ उठता है। किन्तु जब हमारे विस्तृत देश के भूखे, पीड़ित, अनाश्रित कृषक-कुटुम्ब सड़कों पर भटक-भटककर हेमावृत धरती पर बैठ कर अपने भाग्य को कोसने लगते हैं, जब उनके हृदय में सुरक्षित आशा की अन्तिम दीप्ति बुझ जाती है, तब एक आह तक नहीं उठती। न जाने कब तक वह बुझी हुई राख पड़ी रहती है—पड़ी रहेगी!—किन्तु किसी दिन, सुदूर भविष्य में, किसी घोर झझा से, उस में फिर चिनगारी निकलेगी! उस की ज्वाला—घोरतम, अनवरुद्ध, प्रदीप्त ज्वाला!—किधर फैलेगी, किस को भस्म करेगी, किन नगरों और प्रान्तों का मान-मर्दन करेगी—कौन जाने ?"

मुझे रोमाच हो आता है, मैं मन्त्रमुग्ध की तरह निश्चेष्ट हो कर उस दिन की घटना पर विचार करने लग जाता हूँ···

रात्रि के आठ बज रहे थे। मैं मॉस्को में अपने कमरे में बैठा लैम्प के प्रकाश में धीरे-धीरे कुछ लिख रहा था। पास में एक छोटी मेज़ पर भोजन के जूठे बर्तन पड़े थे। इधर-उधर दीवार पर टँगी या अँगीठी पर रखी हुई मेरे संग्रह की वस्तुएँ थीं।

बाहर वर्षा हो रही थी। छत पर से जो आवाज़ आ रही थी, उस से मैं ने अनुमान किया कि ओले भी पड़ रहे हैं, किन्तु उस जाड़े में उठ कर देखने की सामर्थ्य मुझ में नहीं थी। कभी-कभी लैम्प के फीके प्रकाश पर खीझने के अतिरिक्त मैं बिल्कुल एकाग्र हो कर दूसरे दिन पढ़ने के लिए 'सफल क्रान्ति' पर एक छोटा-सा निबन्ध लिख रहा था।

'सफल क्रान्ति क्या है? असंख्य विफल जीवनियों का, असंख्य निष्फल प्रयत्नों का, असंख्य विस्मृत आहुतियों का, अशान्तिपूर्ण किन्तु शान्तिजनक निष्कर्ष!'

(उन दिनों मैं मॉस्को के एक स्कूल में अध्यापक था। वहीं इतिहास पढ़ाने में और कभी-कभी क्रान्ति-विषयक लेख लिखने में तथा पढ़ने में मेरा समय बीत जाता था। क्रान्ति का अर्थ मैं समझता था या नहीं, यह नहीं कह सकता। आज मैं क्रान्ति के विषय में अपनी अनभिज्ञता को ही कुछ-कुछ जान पाया हूँ!)

एकाएक किसी ने द्वार खटखटाया। मैंने बैठे ही बैठे उत्तर दिया, "आ जाओ!" और लिखने में लगा रहा। द्वार खुला और बन्द हो गया। फिर उसी अविरल जलधारा की आवाज़ आने लगी—कमरे में निःस्तब्धता छा गयी। मैंने कुछ विस्मित हो कर आँख उठायी, और उठाये ही रह गया।

बहुत मोटा-सा ओवरकोट पहने, सिर पर बड़े-बड़े बालों वाली टोपी रखे, गले में लाल रूमाल बाँधे, दरवाजे के पास खड़ी एक स्त्री एकटक मेरी ओर देख रही थी। उस के कपड़े भीगे हुए थे टोपी में कहीं कहीं एक आध ओला फँस गया था। पैरों में उस ने घुटने तक पहुँचने वाले बड़े-बड़े भद्दे रूसी बूट पहन रखे थे, जो कीचड़ में सने हुए थे। ऊपर टोपी और नीचे रूमाल के कारण उस के मुँह का बहुत थोड़ा भाग दीख पड़ता था। इस प्रकार आवृत होने पर भी उस के शरीर में एक लचक, और साथ ही एक खिंचाव का आभास स्पष्ट होता था, मानो कपड़ों में ढँक कर एक तने हुए धनुष की प्रत्यंचा

सामने रख दी गयी हो। आँखें नहीं दीखती थीं, किन्तु उन ओठों की पतली रेखा देखने से भावना होती थी कि उस के पीछे विद्युत् की चपलता के साथ ही वज्र की कठोरता दबी हुई है…

मैं क्षण-भर उसी की ओर देखता रहा, किन्तु वह कुछ बोली नहीं। मैंने ही मौन भंग किया, 'कहिए, क्या आज्ञा है?" कोई उत्तर नहीं मिला। मैंने फिर पूछा, "आप का नाम जान सकता हूँ?"

उस ने धीरे-धीरे कहा, मानो प्रत्येक शब्द में तौल-तौल कर रखा हो, "मैंने सुना था कि क्रान्तिकारियों से आप को सहानुभूति है, और आपने इस विषय पर व्याख्यान भी दिये हैं। इसी सहानुभूति की आशा से आप के पास आयी हूँ।"

मैं काँप गया। मेरी इस सहानुभूति की चर्चा बाहर होती है, और क्रान्तिकारियों तक को इस का ज्ञान है, फिर मुझ में और क्रान्तिकारियों में भेद क्या है? कहीं यह मॉस्को के राजनैतिक विभाग की जासूस तो नहीं है? मेरी नौकरी… शायद साइबेरिया की खानों में आयु-भर…पर अगर यह जासूस होती, तो ऐसी दशा में क्यों आती? ऐसे बात क्यों करती? इस से तो साफ़ सन्देह होने लगता है…जासूस होती तो विश्वास उत्पन्न करने की चेष्टा करती…पर क्या जाने, विश्वास उत्पन्न करने का शायद इस का यही ढंग हो, सँभल कर बात करनी होगी।

मैंने उपेक्षा से कहा, "आप साफ़-साफ़ कहिए, बात क्या है? मैं आप का अभिप्राय नहीं समझा।"

वह बोली, 'मैं क्रान्तिकारिणी हूँ। मुझे अभी कुछ धन की आवश्यकता है। आप दे सकेंगे?"

"किस लिए?"

वह कुछ देर के लिए असमंजस में पड़ गयी, मानो सोच रही हो कि उत्तर देना चाहिए या नहीं। फिर उस ने धीरे-धीरे ओवरकोट के बटन खोले और भीतर से एक तलवार—रक्तरंजित तलवार!—निकाली। इतनी देर में उस ने आँख पल भर भी मुझ पर से नहीं हटायी। मुझे मालूम हो रहा था, मानो वह मेरे अन्तर्तम विचारों को भाँप रही हो। मैं भी मुग्ध हो कर देखता रहा…

वह बोली, "यह देखो! जानते हो, यह किस का रक्त है? कर्नल गोरोस्की का! और उस की लाश उस के घर के बाग में पड़ी हुई है!"

मैं भौंचक हो कर बोला, "है? कब?"

"अभी एक घंटा भी नहीं हुआ। उसी की तलवार इन हाथों ने उसी के हृदय में भोंक दी! तुम पूछोगे, क्यों? शायद तुम्हें नहीं मालूम कि स्त्री कितना भीषण प्रतिशोध करती है!"

"तुम यहाँ क्यों आयी?"

"मुझे धन की जरूरत है। सैनिकों से भागने के लिए।"

"मैं तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता। तुम हत्यारिणी हो!"

वह एकाएक सहम-सी गयी मानो उसे इस उत्तर की आशा न हो। फिर धीरे-धीरे एक फीकी विषादमय हँसी हँस कर बोली, "बस यहीं तक थी तुम्हारी सहानुभूति! इसी क्रान्तिवाद के लिए तुम व्याख्यान देते हो, यही तुम्हारे इतिहासों का निष्कर्ष है!"

"मैं क्रान्तिवादी हूँ पर हत्यारा नहीं हूँ। इस प्रकार की हत्याओं से देश को लाभ नहीं, हानि होगी। सरकार ज्यादा दबाव डालेगी, मार्शल-लॉ जारी होगा, फाँसियाँ होंगी। हमारा क्या लाभ होगा?"

"तुम क्रान्ति को क्या समझते हो, गुड़ियों का खेल?" यह कहती हुई वह मेरी मेज के पास आ कर खड़ी हो गयी। मेज पर पड़े हुए कागज़ों को देख कर बोली, "यह क्या, 'सफल क्रान्ति! असंख्य विफल जीवनियों का विस्मृत आहुतियों का निष्कर्ष!'"

वह ठठा कर हँसी। "सफल क्रान्ति! जानते हो, क्रान्ति के लिए कैसी आहुतियाँ देनी पड़ती हैं?"

मैं कुछ उत्तर न दे सका। मैं उसे वह लेख पढ़ते हुए देख कर झेंप रहा था।

वह फिर बोली, "तुम भी अपने-आप को क्रान्तिवादी कहते हो, हम भी। किन्तु हमारे आदर्शों में कितना भेद है! तुम चाहते हो, स्वातन्त्र्य के नाम पर विश्व जीत कर उस पर शासन करना, और हम!—हम इसी की चेष्टा में लगे हैं कि अपने हृदय इतने विशाल बना सकें कि विश्व उन में समा जाय!"

मैंने किसी षड्यन्त्र में भाग नहीं लिया है—क्रान्तिवाद पर लेक्चर देने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं किया है, फिर भी मैं अपने सिद्धान्तों पर आक्षेप नहीं

सह नका। मैंने तन कर कहा, "तुम झूठ कहती हो। मैं सच्चा साम्यवादी हूँ। मैं चाहता हूँ कि ससार मे साम्य हो, शासक और शासित का भेद मिट जाय। लेकिन इस प्रकार हत्या करने से यह कभी सिद्ध नही होगा। जिसे तुम क्रान्ति कहती हो, उस के लिए अगर यह करना पडता हो, तो मैं उस क्रान्ति का विरोध करूँगा, उसे रोकने का भरसक प्रयत्न करूँगा। इस के लिए अगर प्राण भी—"

'क्रान्ति का विरोध करोगे, उसे रोकोगे तुम? सूर्य का उदय होता है, उस को रोकने की चेष्टा की है? समुद्र मे प्रलय लहरी उठती है, उसे रोका है? ज्वालामुखी मे विस्फोट होता है, धरती काँपने लगती है, उसे रोका है? क्रान्ति सूर्य से भी अधिक दीप्तिमान, प्रलय से भी अधिक भयकर, ज्वाला से भी अधिक उत्तप्त, भूकम्प से भी अधिक विदारक है' 'उसे क्या रोकोगे!"

"शायद न रोक सकूँ। लेकिन मेरा जो कर्त्तव्य है, वह तो पूरा करूँगा।"

"क्या कर्त्तव्य? लेक्चर झाडना?"

"देश मे अपने विचारो का निदर्शन, अहिंसात्मक क्रान्ति का प्रचार।"

"अहिंसात्मक क्रान्ति! जो भूखे, नगे, प्रपीडित हैं, उन को जा कर कहोगे, चुपचाप बिना आह भरे मरते जाओ! रूस की भयकर सर्दी मे वर्फ के नीचे दब जाओ, लेकिन इस बात का ध्यान रखना कि तुम्हारी लोथ किसी भद्रपुरुष के रास्ते मे न आ जाय! रोते हुए बच्चो से कहोगे, माता की छातियो की ओर मत देखो, बाहर जाकर मिट्टी-पत्थर खा कर भूख मिटाओ! और अत्याचारी शासक तुम्हारी ओर देख कर मन-ही-मन हँसेंगे, और तुम्हारी अहिंसा की आड मे निर्धनो का रक्त चूस कर ले जायेंगे! यही है तुम्हारी शान्तिमय क्रान्ति, जिस का तुम्हे इतना अभिमान है।"

'अगर शासक अत्याचार करेंगे, तो उन के विरुद्ध आन्दोलन करना भी तो हमारा धर्म होगा।"

"धर्म? वही धर्म, जिसे तुम एक स्कूल की नौकरी के लिए बेच खाते हो? वही धर्म, जिस के नाम पर तुम स्कूल मे इतिहास पढाते समय इतने झूठ बकते हो?"

मैंने क्रुद्ध होकर कहा, "व्यक्तिगत आक्षेपो से कोई फायदा नही है। ऐसे तो मैं भी पूछ सकता हूँ, तुम्ही ने कौन बडा बलिदान किया है? एक आदमी को मार कर भाग आयी, यहा न?"

मुझे उस पर बड़ा क्रोध आ रहा था। किन्तु जिस तरह वह छाती के बटन खोले, हाथ मे तलवार लिये, दानवी की तरह खड़ी मेरी ओर देख रही थी, उसे देख कर मेरा साहस ही नही पड़ा कि उसे निकाल दूं! मैं प्रश्न पूछ कर उस की ओर देखने लगा। मुझे आशा थी कि वह मुझ पर से दृष्टि हटा लेगी, मेरे प्रश्न का उत्तर देते घबरायेगी, क्रुद्ध होगी। किन्तु यह सब कुछ भी नही हुआ। *वह धीरे से कागज़ हटा कर मेरी मेज़ के एक कोने पर बैठ गयी,* और तलवार की नोक मेरी ओर करती हुई बोली, "मैंने क्या किया है, सुनोगे तुम? मैंने बलिदान कोई बड़ा नही किया, लेकिन देखा बहुत-कुछ है। मेरे पास बहुत समय है—अभी गोरोव्स्की का पता किसी को नहीं लगा होगा। सुनोगे तुम?"

पहले मैंने सोचा, सुन कर क्या करूँगा? अभी लेख लिखना है, कल स्कूल भी जाना होगा, और फिर पुलिस—इसे कह दूं, *चली जाय। लेकिन फिर* एक अदम्य कौतूहल, और अपनी हृदयहीनता पर ग्लानि सी हुई। मैंने उठ कर अँगीठी मे कोयले हिला कर आग तेज़ कर दी, एक और कुर्सी उठा कर आग के पास रख दी, और अपनी जगह बैठ कर बोला, "हां, सुनूंगा। आग के पास उस कुर्सी पर बैठ कर सुनाओ, सर्दी बहुत है।"

वह वही बैठी रही, मानो मेरी बात उस ने सुनी ही न हो। केवल तलवार एक ओर रख कर, कुछ आगे की ओर झुक कर आग की ओर देखने लगी। थोड़ी देर देख कर चौंक कर बोली, "हाँ, सुनो। मैंने घर मे आरामकुर्सी पर बैठ कर यन्त्रालयो मे पिसते हुए श्रमजीवियो के लिए साम्यवाद पर लेख नही लिखे हैं। न मैंने मच पर खड़े होकर कृषको को ज़बानी स्वातन्त्र्य युद्ध की मरीचिका दिखलायी है। मैंने घर-बार, माता पिता, पति तक को छोड़ कर धक्के ही धक्के खाये हैं। सौभाग्य बेच कर अपने विश्वास की रक्षा की है। स्वत्व बचाने के लिए पिता की हत्या की है "और—और अपना स्त्री-रूप बेच कर देश के लिए भिक्षा माँगी है—और आज फिर माँगने निकली हूँ।"

मेरे मुँह से अकस्मात् निकल गया 'किस से?'

इस प्रश्न से मानो उस की विचार शृंखला टूट गयी। तलवार की ओर देखती हुई बोली, 'यह फिर बताऊँगी—वह मेरे अन्तिम—मेरे एकमात्र बलिदान की कहानी है।"

विश्वास और स्वत्व की रक्षा—पिता की हत्या—मुझे कुछ भी समझ नहीं आया।

'मेरे पिता पीटर्सबर्ग में पुलिस-विभाग के सदस्य थे। मेरे पति भी वहाँ राजनैतिक विभाग में काम करते थे। कुटुम्ब में, वंश में, एक मैं ही थी जिस ने क्रान्ति का आह्वान सुना फिर भी, कितने विरोध का सामना करना पड़ा! पहले-पहल जब मैं क्रान्तिदल में आयी, तो लोग मुझ पर सन्देह करने लग गये। न जाने किस अज्ञात शत्रु ने उन से कह दिया, इस का पिता पुलिस में है, पति राजनैतिक विभाग में, इस से विनाश के अतिरिक्त और क्या आशा हो सकती है? मैंने देखा, इतनी कामना, इतनी सदिच्छा होते हुए भी मैं अनादृता, परित्यक्ता-सी हूँ··· मेरे पति को भी मेरी वृत्तियों का पता लगा। फलस्वरूप एक दिन मैं चुपचाप घर से निकल गयी—उन्हें भी नौकरी छिन जाने का डर था! उस के बाद—उस के बाद मेरी परीक्षा का प्रश्न उठा! पति को छोड़ देने पर भी मुझे सदस्य नहीं बनाया गया—परीक्षा देने को कहा गया। कितनी भयकर थी वह!"

क्षण भर आग की ओर देखने के बाद फिर उस ने कहना शुरू किया "मैं और चार और व्यक्ति पिस्तौल ले कर एक दिन सायकाल को निकोलस पार्क में बैठ गये। उस दिन उधर से पीटर्सबर्ग की पुलिस दो बन्दियों को ले कर जाने वाली थी। इसी पर वार कर के बन्दियों को छुड़ाने का काम हमारे सुपुर्द हुआ था। यही मेरी परीक्षा थी!

"हम रात तक वहीं बैठे रहे। नौ बजे के लगभग पुलिस के बूटों की आहट आयी। हम सावधान हो गये। किसी ने पूछा, 'कौन बैठा है?' हमने उत्तर नहीं दिया, गोलियाँ दागनी शुरू कर दी। दो मिनट के अन्दर निर्णय हो गया—हमारे तीन आदमी खेत रहे, पर हमे सफलता प्राप्त हुई। बन्दी मुक्त हो गये। हम चारों शीघ्रता से पार्क से निकल कर अलग हो गये।"

मैं बहुत ध्यान से सुन रहा था। ऐसी कहानी मैंने कभी नहीं सुनी थी—पढ़ी भी नहीं थी···मैंने व्यग्रता से पूछा, "फिर?"

"दूसरे दिन—दूसरे दिन मॉस्को में अखबार में पढ़ा, बन्दियों को ले कर जाने वाले अफसर थे—मेरे पिता!"

उस छोटे-से कमरे में फिर सन्नाटा छा गया। वर्षा अब भी हो रही थी।

मैं निमनस्य-सा हो कर छत पर पड रही बूँदें गिनने की चेष्टा करने लगा।

उस ने पूछा, "और कुछ भी सुनोगे ?"

मैंने सिर झुका कर उत्तर दिया, ' मैंने तुम लोगों पर अन्याय किया है। वास्तव में तुम्हें बहुत उत्सर्ग करना पड़ता है। मैं अभी तक नहीं जान पाया था।"

"हाँ, यह स्वाभाविक है। एक अकेले व्यक्ति की व्यथा, एक आदमी का दुःख हम समझ सकते हैं। एक प्राणी को पीडित देख कर हमारे हृदय में सहानुभूति जगती है—एक हूक-सी उठती है...किन्तु जाति, देश, राष्ट्र! कितना विराट् होता है! इस की व्यथा, इस के दुःख से असंख्य व्यक्ति एक साथ ही पीडित होते हैं—इस में इतनी विशालता, इतनी भव्यता है कि हम यही नहीं समझ पाते कि व्यथा कहाँ हो रही है, हो भी रही है या नहीं।'

"ठीक है। तुम्हें बहुत दुःख झेलने पडते हैं। किन्तु इस प्रकार अकारण दुःख झेलना, चाहे कितनी ही धीरता से झेला जाय, बुद्धिमत्ता तो नहीं है।"

'हमारे दुःख प्रसव-वेदना की तरह हैं, इस के बाद ही क्रान्ति का जन्म होगा। इस के बिना क्रान्ति की चेष्टा करना, क्रान्ति से फल-प्राप्ति की आशा करना विडम्बना-मात्र है।"

"लेकिन हर आन्दोलन किसी निर्धारित पथ पर ही चलता है ऐसे तो नहीं बढ़ता ?"

"क्रान्ति आन्दोलन नहीं है।"

"सुधार करने के लिए भी तो कोई आदर्श सामने रखना होता है ?"

"क्रान्ति सुधार नहीं है।"

"न सही। परिवर्तन ही सही। लेकिन परिवर्तन का भी तो ध्येय होता है।"

'क्रान्ति परिवर्तन भी नहीं है।"

मैंने सोचा, पूछूं, तो फिर क्रान्ति है क्या ? किन्तु मैं बिना पूछे उस के मुख की ओर देखने लग गया। वह स्वयं बोली, "क्रान्ति आन्दोलन, सुधार, परिवर्तन कुछ भी नहीं है, क्रान्ति है विश्वासों का, रूढ़ियों का, शासन की और विचार की प्रणालियों का घातक, विनाशकारी, भयंकर विस्फोट! इस का न आदर्श है, न ध्येय, न धुर। क्रान्ति विपथगा है, विध्वंसिनी है, विदग्ध-

कारिणी है !"

"ये तो सब बातें है। कवियो वाला शब्द-विन्यास है। ऐसी क्रान्ति से हमे मिलेगा क्या ?"

वह हँसने लगी। "क्रान्ति से क्या मिलेगा ? कुछ नही। जो कुछ है, शायद वह भी भस्म हो जायेगा। पर इस से यह नहीं सिद्ध होता कि क्रान्ति का विरोध करना चाहिए। हमे इस बात का ध्यान भी नही करना चाहिए कि हमे क्रान्ति कर के क्या मिलेगा।"

"क्यों ?"

"कोढ का रोगी जब डाक्टर के पास जाता है, तो यही कहता है कि मेरा रोग छुडा दो। यह नही पूछता कि इस रोग को दूर कर के इसके बदले मुझे क्या दोगे ! क्रान्ति एक भयकर औषध है, यह कडवी है, पीडाजनक है, जलाने वाली है, किन्तु है औषध। रोग को मार अवश्य भगाती है। किन्तु इस के बाद, स्वास्थ्य-प्राप्ति के लिए, जिस पथ्य की आवश्यकता है, वह इस में खोजने पर निराशा ही होगी, इस के लिए क्रान्ति को दोष देना मूर्खता है।"

मैं निरुत्तर हो गया। चुपचाप उस के मुख की ओर देखने लगा। थोडी देर बाद बोला, 'एक बात पूछूँ ?"

"क्या ?"

'तुम्हारा नाम क्या है ?"

"क्यों ?"

"यो ही। कुतूहल है।"

"पिता ने जो नाम दिया था, वह उस दिन छूट गया, जिस दिन विवाह हुआ। पति ने जो नाम दिया था उसे मैं आज भूल गयी हूँ। अब मेरा नाम मेरिया इवानोवना है।"

कुछ देर हम फिर चुप रहे। मैंने तलवार की ओर देखते हुए पूछा, "यह—यह कैसे हुआ ?"

उस के उन विचित्र नील नेत्रो की सुषुप्त ज्वाला फिर जाग उठी। वह अपने हाथों की ओर देखती हुई बोली, "वह बहुत बीभत्स कहानी है।" फिर आप-ही-आप, "नहीं, रक्त नहीं लगा है।"

कुतूहल होते हुए भी मैंने आग्रह नहीं किया। इतनी देर मे मैं कुछ-कुछ

समझने लगा था कि इस स्त्री (या दानवी ?) से अनुनय-विनय करना व्यर्थ है, इस पर उस का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। मैं चुपचाप इसी आशा मे बैठा रहा कि शायद वह स्वयं ही कुछ कह दे। मुझे निराश भी नहीं होना पड़ा।

वह आग की ओर देखती हुई धीरे-धीरे बोली, "तो सुनो! आज जो-कुछ मैं कह रही हूँ, वह मैंने कभी किसी से नहीं कहा। शायद अब किसी से कहूँगी भी नहीं। जब मैं तुम्हारा पता पूछ कर यहाँ आयी, तब मुझे ज़रा भी खयाल नहीं था कि तुम से कुछ भी बात करूँगी। केवल धन माँग कर चले जाने की इच्छा से आयी थी। अब—मेरा खयाल बदल गया है। मुझे धन नहीं चाहिए। मैं—"

"क्यों ?"

"मैं अपना काम कर के मॉस्को से भाग जाना चाहती थी। किन्तु अब नहीं भागूँगी।

"और क्या करोगी ?"

"अभी एक काम बाकी है। एक बार और भिक्षा माँगनी है। उस के बाद—"

वह एकाएक रुक गयी। फिर तलवार की धार पर तर्जनी फेरती हुई आप-ही-आप बोली, "कितनी तीक्ष्ण धार है यह!"

मैंने साहस कर के पूछा, "भिक्षा की बात तुमने पहले भी कही थी, और बलिदान की भी। मैं कुछ समझ नहीं पाया था।"

'अब कहने लगी हूँ, तो सब-कुछ कहूँगी। अब लज्जा के लिए स्थान नहीं रह गया है। स्त्रीत्व तो पहले ही खो दिया था, आज मानवता भी चली गयी! और फिर—आज के बाद—सब-कुछ एक हो जायेगा। पर तुम चुप-चाप सुनते जाओ, बीच मे रोकना नहीं।"

मैं प्रतीक्षा मे बैठ रहा। वह इस तरह निरीह हो कर कहानी कहने लगी, मानो स्वप्न मे कह रही हो—मानो मशीन से ध्वनि निकल रही हो।

"तुमने माइकेल क्रेस्की का नाम सुना है ?"

"वही जो पीटर्सबर्ग मे पुलिस के तीन अफसरो को मार कर लापता हो गये थे ?"

"हाँ, वही। वह हमारी संस्था के प्रधान थे।" यह कह कर उस ने मेरी

ओर देखा। मैं कुछ नहीं बोला, किन्तु मेरे मुख पर विस्मय का भाव उस ने स्पष्ट देखा होगा। वह फिर कहने लगी, "वह कल यहीं मास्को मे गिरफ्तार हो गये हैं।"

क्षण-भर नि स्तब्धता रही।

'पर उन को गिरफ्तार कर के ले जाने पर भी पुलिस को यह नही पता लगा कि वह कौन है। वह इसी सन्देह पर गिरफ्तार किये गये थे कि शायद क्रान्तिकारी हो। मुझे इस बात की खबर मिली, तो मैंने निश्चय किया कि जा कर पता लगाऊँ। मैं यह साधारण गँवार स्त्री की पोशाक पहन कर पुलिस विभाग के दफ्तर मे गयी। वहाँ जा कर मैंने अपना परिचय यही दिया कि मैं उन की बहिन हूँ, गाँव से उन्हे लेने आयी हूँ। तब तक पुलिस को उन पर कोई सन्देह नही हुआ था। लेकिन इधर-उधर से—पीटर्सबर्ग से भी—पूछ-ताछ हो रही थी।

पहले तो मैंने सोचा कि पीटर्सबर्ग से अपने साथियों को बुला भेजूँ, उन से मिल कर उन्हें छुड़ाने का प्रयत्न करूँ। लेकिन इस के लिए समय नही था—न जाने कब उन्हे पीटर्सबर्ग से उत्तर आ जाय! मैं अकेली सिवाय अनुनय-विनय के कुछ नही कर सकती थी। उफ! अपनी अशक्तता पर कितना क्रोध आता था! मैं दाँत पीस कर रह गयी। जब तक ऐसे समय मे अपनी असमर्थता, निस्सहायता का अनुभव नही होता, तब तक क्रान्ति की आवश्यकता भी पूरी तरह से नही समझ आ सकती।"

मेरी ओर देख और मुझे ध्यान से सुनता पा कर वह बोली :

'फिर—फिर मैंने सोचा, जो कुछ मैं अकेले कर सकती हूँ, वह करना ही होगा! अगर गिड़गिड़ाने से उन्हें छुड़ा सकूँ तो यह करना होगा, चाहे बाद मे मुझे फाँसी पर भी लटकना पड़े! मैंने निश्चय कर लिया—मेरी हिचकिचाहट दूर हो गयी। कल ही शाम को मैं जनरल कोल्पिन के बँगले पर गयी। उस समय वहाँ कर्नल गोरोव्स्की भी मौजूद था। पहले तो मुझे अन्दर जाना ही नही मिला, दरबान ने जो कुछ मेरे पास था, तलाशी में निकाल कर रख लिया। बहुत गिड़गिड़ा कर मैं अन्दर जा पायी।

'पहले जनरल कोल्पिन ने मुझे देखकर डाँट दिया। फिर न जाने क्या सोच कर बोला, 'क्यों, क्या बात है?' मैंने अपनी गढ़ी हुई कहानी वह सुनायी

कि मेरा भाई निर्दोष था, पुलिस ने यों ही उसे पकड़ लिया। जनरल साहब बहुत बड़े आदमी है, सब कुछ उन के हाथ मे है, जिसे चाहे उसे छोड सकते हैं···मैं उस के आगे रोयी भी, उस के पैर भी पकड़े—उस के, जिस की मैं जबान खीच लेती।

"वह चुपचाप सुनता रहा। जब मैं कह चुकी तब भी कुछ नहीं बोला।, थोडी देर बाद उस ने आँख से गोरोव्स्की को इशारा किया। कुछ कानाफूसी हुई। गोरोव्स्की ने मुझे कहा, 'इधर आओ, तुम से कुछ बात करनी है।' मैं उसके साथ दूसरे कमरे मे चली गयी। वहाँ जा कर वह बोला, 'देखो, अभी सब-कुछ हमारे हाथ मे है, पर कल के बाद नही रहेगा। हमे उसे अदालत मे ले जाना होगा। फिर—'

"यह कह कर वह चुप हो गया। मैंने कहा, 'आप मालिक है, जैसा कहेगे मैं करूँगी।' वह बोला, 'जनरल साहब तुम्हारे भाई पर दया करने को तैयार है—एक शर्त पर।' मैंने उत्सुक हो कर पूछा, 'क्या ?' वह मेरे बहुत पास आ गया। फिर धीरे-धीरे बोला, 'मेरिया इवानोव्ना, तुम अपूर्व सुन्दरी हो' "

वह बोलते बोलते चुप हो गयी। मैंने सिर उठा कर उस की ओर देखा, उस की आँखें विचित्र ज्योति से चमक रह थी। वह एकाएक मेज पर स उठ कर मेरे सामने खड़ी हो गयी। बोली, "जानते हो, उस की क्या शर्त थी ? जानते हो ? ऐसी शर्त तुम्हे स्वप्न मे भी न सूझेगी···यही एक शर्त थी यही एकमात्र बलिदान था, जिस के लिए मैं तैयार हो कर नही गयी थी · '

वह फिर चुप हो गयी। दोनों हाथो से अपनी कमीज का कालर और गले का रूमाल पकड कर कुछ देर मेरी ओर देखती रही। फिर एकाएक झटका दे कर कमीज और रूमाल फाडती हुई बोली, "देखो, अध्यापक! ऐसा सौन्दर्य तुमने कभी देखा है ?"

उस का मुख, जो कि रूमाल और टोपी से ढका हुआ था अब एकदम स्पष्ट दीख रहा था। उस के नीचे उस का गला और वक्ष खुला हुआ था · उस का वह अपूर्व लावण्य, वह प्रस्फुटित सौन्दय, अधरा पर दबी हुई विषाद-युक्त मुस्कान, हेमवर्ण कठ और वक्ष · ऐसा अनुपम सौन्दर्य सचमुच मैंने पहले नही देखा था· मेरे शरीर मे बिजली दौड गयी—फिर मैने दृष्टि फेर ली···

किन्तु उस की वह आँखें···विस्फारित, निर्निमेष उन का वह तुषार-

कणों की तरह शीतल प्रदीपन·· उन मे विराग, क्रोध, करुणा, व्यथा की अनुपस्थिति···वह शुक्रतारे की हरित ज्योति···।

"यह है बलि ! यह स्त्री का रूप है माइकेल ब्रेस्की की मुक्ति का मूल्य !"

मैंने चाहा, कुछ कहूँ, चिल्लाऊँ, पर बहुत चेष्टा करने पर भी आवाज़ नही निकली।

उस ने, उस नर-पिशाच गोरोव्स्की ने, मेरे पास आ कर कहा, 'मेरिया इवानोव्ना, तुम अपूर्व सुन्दरी हो—तुम्हारे लिए अपने भाई को छुड़ा लेना साधारण-सी बात है'···मुझ पर मानो बिजली गिरी। क्षण-भर मुझे इस शर्त का पूरा अभिप्राय भी न समझ आया। फिर समुद्र की लहरों की तरह मेरे हृदय मे क्रोध उमड आया। मेरा मुख लाल हो गया। मैंने कहा, 'पापी ! कुत्ते !' और तीव्र गति से बाहर निकल गयी। किन्तु पीछे उस की हँसी और ये शब्द सुनायी पडे—'कल शाम तक प्रतीक्षा है, उस के बाद—'

"बाहर ठडी हवा मे आ कर मेरी सुध कुछ ठिकाने आयी। मैं शान्त हो कर सोचने लगी, मेरा कर्तव्य क्या है ? माइकेल ब्रेस्की का गौरव अधिक है या · उन्हें मर जाने दूँ ? कभी नही ! छुडाऊँ तो कैसे ? इसी आशा मे बैठ रहूँ कि शायद पुलिस को पता न लगे ? प्रतारणा ! कही वे उन्हे पहचान गये तो · ! पीटर्सबर्ग मे किसी को बुलाऊँ ? पर उस के लिए समय कहाँ है ! अकेली क्या करूँगी ? वह शर्त···!

"प्रधान हमारा कार्य देश, राष्ट्र ! इस के विरुद्ध क्या ? एक स्त्री का सतीत्व ··! मैंने निर्णय कर लिया। शायद मुझ से गलती हुई; शायद इस निर्णय के लिए ससार, मेरे अपने क्रान्तिवादी बन्धु, मेरे नाम पर थूकेंगे, शायद मुझे नरक की यातना भोगनी पडेगी···पर जो यातना मैंने निर्णय करने मे सही है, उस मे अधिक नरक मे भी क्या होगा ?"

वह फिर ठहर गयी। अब की बार मुझ से नही रहा गया। मैंने अत्यन्त व्यग्रता से पूछा, "क्या निर्णय किया है ?"

"अभी यही से जनरल कोल्पिन के घर जाऊँगी। पर सुनो, अभी मेरी कहानी समाप्त नहीं हुई। आज छ बजे मैं कर्नल गोरोव्स्की के घर गयी। मेरे आते ही वह हँस कर बोला, 'मेरिया, तुम जितनी सुन्दर हो, उतनी ही बुद्धिमती भी हो। इज्जत तो बार-बार बिगड कर भी बन जाती है, भाई

बार-बार नही मिलते !' मैंने सिर झुकाकर कहा, 'हाँ, आप साहब से कहला भेजें कि मुझे उनकी शर्तें मंजूर है।'

"वह उस समय वर्दी उतार कर रख रहा था। बोला, 'तुम यहीं ठहरो, मैं टेलीफोन पर कहे देता हूँ।' वह कोने में टेलीफोन पर बात करने लगा। उस की पीठ मेरी ओर थी। मुझे एकाएक कुछ सूझा···मैंने म्यान में से उस की तलवार निकाल ली—दबे-पाँव जा कर उस के पीछे खड़ी हो गयी। टेलीफोन पर बातचीत हो चुकी—गोरोव्स्की उसे बन्द कर के घूमने को ही था कि मैंने तलवार उस की पीठ में भोंक दी। उस ने आह तक नही की—अनाज की बोरी की तरह भूमि पर बैठ गया। फिर मैंने उस की लोथ उठा कर खिड़की से बाहर डाल दी—और भाग निकली!"

मैंने पूछा, "तुम्हारे इन हाथों में इतनी शक्ति!"

वह हँस पड़ी, बोली, "मैं क्रान्तिकारिणी हूँ—यह देखो!"

उस ने तलवार उठाई, एक हाथ से मूठ और दूसरे से नोक थाम कर बोली, "यह देखो!" देखते-देखते उस ने उसे चपटी ओर से घुटने पर मारा—तलवार दो टूक हो गयी। उस ने वे दोनों टुकड़े मेरी मेज पर रख दिये।

मैंने पूछा, "अब—अब क्या करोगी?"

"अब कोल्पिन के यहाँ जाऊँगी। फ़ेस्की को छुड़ाऊँगी। उस के बाद? उस के बाद—"

उस ने अपनी जेब में हाथ डाल कर एक छोटा-सा रिवाल्वर निकाला। "यह भी गोरोव्स्की के यहाँ से मिल गया।"

"पर—इस का क्या करोगी?"

"प्रयोग!" कह कर उस ने उस छिपा लिया।

इस के बाद शायद चार-पाँच मिनट फिर कोई न बोला। मैंने उस की सारी कहानी का मन-ही-मन सिंहावलोकन किया। उस में कितनी बीभत्सता, कितनी करुणा थी! और उस का दोष क्या था? केवल इतना ही कि वह क्रान्तिकारिणी थी! एकाएक मुझे एक बात याद आ गयी। मैंने पूछा, "तुमने कहा था कि तुमने पहले भी भिक्षा माँगी थी—इसी प्रकार की। वह क्या बात थी, बताओगी?"

वह अब तक खड़ी थी, अब फिर मेज पर बैठ गयी। बोली, "वह पुरानी

बात है। उन दिनों की, जब मैं पीटर्सबर्ग से भागी थी। अकेली नहीं, साथ में एक लड़की भी थी—तुमने पॉलिना का नाम सुना है?"

'हाँ, सुना तो है। इस समय याद नहीं आ रहा कि कहाँ।"

"वह नोव्गोरोड् में पकड़ी गयी थी—वेश्याओं की गली में—और गोली से उड़ा दी गयी थी।"

"हाँ, मुझे याद आ गया। उस के बाद बहुत शोर भी मचा था कि यह क्यों हुआ, लेकिन कुछ पता नहीं लगा।"

"हाँ। उस दिन मैं भी नोव्गोरोड में थी—उसी घर में! हम दोनों वहाँ रहती थीं। एक वेश्या के यहाँ ही। वहाँ, नित्य-प्रति रात को लोग आते थे, हमारे शरीरों को देखते थे, गन्दे संकेत करते थे, और हम बैठी सब-कुछ देखा करती थीं। वहाँ, जब चूसे हुए नीबू की तरह बीमारियों से घुले हुए वे पूँजी-पति साफ़-साफ़ कपड़े पहन कर इठलाते हुए आते थे—उफ्! जिस ने वह नहीं देखा, वह पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का दूरव्यापी परिणाम नहीं समझ सकता! धन के आधिक्य से ही कितनी बुराइयाँ समाज में आ जाती हैं—इस को जानने के लिए वह देखना ज़रूरी है!

"फिर वे आसपास की कोठरियों में चले जाते थे···किसी-किसी में अँधेरा हो जाता था ··फिर ·"

थोड़ी देर वह चुप रही। फिर बोली, "कभी-कभी उन में एक-आध नव-युवक भी आता था—शान्त, सुन्दर, सुडौल···उन के आने पर वह घर और उस में रहने वाले—कितने विद्रूप, कितने बीभत्स मालूम होने लगते थे···किन्तु शायद अगर वे न आते, तो हमारी वहीं मृत्यु हो जाती—इतना ग्लानिमय दृश्य था वह!

"यही थे हमारे सहायक, हमारे सहकारी···हमें पीटर्सबर्ग से जो ऐलान बाँटने के लिए आते थे, वे हम इन्हें दे देती थीं—ये उन्हें बाँट आते थे। नोव्-गोरोड् में हमने अपनी संस्था की शाखा इसी तरह बनायी। फिर नोव्गोरोड् से आर्कएंजेल, फिर जेरोस्लावल, फिर पीटर्सबर्ग और फिर वापस नोव्गो-रोड्···आर्कएंजेल में तीन गवर्नरों की हत्या हुई; जेरोस्लावल में राजकर्म-चारियों के घर जला दिये गये, नोव्गोरोड् में पुलिस के कई अफ़सर मारे गये। फिर—पॉलिना पकड़ी गयी, और मैं मॉस्को में आ गयी···"

पर वह पकडी कैसे गयी ?

वे मुहाने जिन म रहते थ रात ही को खुलते थे दिन म वे वैसे ही पड रहते थ जैसे विस्फोट के बाद ज्वालामुखी का फटा हुआ शिखर पर उस दिन जरूरी काम था—पालिता मोटा-सा कोट पहन मुह ढक कर बाहर निकली। उस की जेब म कुछ पत्र थे और एक पिस्तौल और पत्र पहुँचाने जा रही थी। इसी समय—

घडी म टन ! टन ! ग्यारह बज गये। वह चौंक कर उठी और बोली बहुत दर हो गयी—अब मैं जाती हूँ।

कहाँ ?

कोल्पिन के यहाँ—आज तम भिक्षा मागने।

उस ने शीघ्रता स अपने कोट के बटन बन्द किये और उठ खडी हुई। मैं भी खडा हो गया।

मैंने रुक रुक कर कहा स्वातन्त्र्य युद्ध मे बहुत सिरो की बलि देनी पडती है। मानो मैं अपने आप को ही समझा रहा होऊँ।

वह बोली ऐसे स्वातन्त्र्य युद्ध म सिर अधिक टूटते है या हृदय—कौन कह सकता है ?

मैं चुप हो कर खडा रहा वह कुछ हसी फिर बोली जीवन कैसा विचित्र है जानते हो अध्यापक ? मैं आयी थी धन ले कर विलुप्त हो जाने और चली हू स्मृति स्वरूप वह बो कर—वह अशान्ति का बीज !"

जिधर उस ने सकेत किया था मैं उधर देखता ही रह गया। लैम्प और आग के प्रकाश मे लाल लाल चमक रही थी—उस टूटी हुई तलवार की मूठ !

सहसा किवाड खुल कर बन्द हो गया। मेरा स्वप्न टूट गया—मैंने आँख उठा कर देखा।

वर्षा अब भी हो रही थी—ओले भी पड रह थे। किन्तु वह—वह वहा नही थी। था अकेला मैं—और वह अशान्ति का बीज !

वह बीज कैसे प्रस्फुटित हुआ यह फिर कहूँगा। अभी उस दिन की घटना पूरी कहनी है।

वह चली गयी। पर मैं फिर अपना लेख नही लिख सका एक बार मैंने कागजो की ओर देखा सफल क्रान्ति ! दो शब्द मेरी ओर देख कर हँस रहे

१···विस्मृत आहुतियों का शान्ति-जनक निष्कर्ष !' प्रवंचना ! मैंने वे कागज़ फाड़ कर आग में डाल दिये। फिर भी शान्ति नहीं मिली। मैं सोचने लगा, इस के बाद वह क्या करेगी ? कोल्पिन के घर में···माइकेल ग्रेस्की तो शायद मुक्त हो जायेंगे · किन्तु उस के बाद ?

उस उद्धार के फल-स्वरूप आनन्द, उल्लास, गौरव—कहाँ होंगे ? वहाँ होगी व्यथा, प्रज्वलन, पशुता का ताण्डव ! जहाँ स्वतन्त्रता का उद्दाम आह्वान होना चाहिए, वहाँ क्या होगा ?—एक स्त्री-हृदय के टूटने की धीमी आवाज़ !

मैंने जा कर लैम्प बुझा दिया। कमरे में अँधेरा छा गया। केवल कहीं-कहीं अँगीठी की आग से लाल-लाल प्रकाश पड़ने लगा, और उस में कुर्सी की टाँगों की छाया एक विचित्र नृत्य करने लगी ! मैं उसे देखते-देखते फिर सोचने लगा—इसी समय कोल्पिन के घर में न जाने क्या हो रहा होगा ··मेरिया वहाँ पहुँच गयी होगी · शायद अब तक ग्रेस्की मॉस्को की किसी गली में छिपने के लिए चल पड़े हों · वह क्या सोचते होंगे कि उन का उद्धार कैसे हुआ ? मेरिया की बात उन्हें मालूम होगी ? शायद वहाँ उन का मिलन हो जाय—किन्तु कोल्पिन क्यों होने देगा ? मेरिया के बलिदान की बात शायद कोई न जान पायेगा—किसी को भी मालूम नहीं होगा···असीम समुद्र में बहते हुए एकाएक बुझ जाने वाले दीप की तरह उस की कथा वहीं समाप्त हो जायेगी—और मैं उस का नाम तक नहीं जान पाऊँगा ! कैसी विडम्बना है यह !

घड़ी में बारह बजे। मैं चौंका एक अत्यन्त बीभत्स दृश्य मेरी आँखों के आगे नाच गया। कोल्पिन और मेरिया···उस दृश्य के विचार को भी मैं नहीं सह सका ! मैंने उठ कर किवाड़ खोल दिये और दरवाज़े के बीच में खड़ा हो कर वर्षा को देखने लगा। कभी कभी एक-आध ओला मेरे ऊपर पड़ जाता था, किन्तु मुझे उस का ध्यान भी नहीं हुआ। मैं आँखें फाड़ कर रात्रि के अन्धकार में वर्षा की बूँदें देखने की चेष्टा कर रहा था ··

पूर्व में जब धुँधला-सा प्रकाश हो गया, तब मेरा वह जाग्रत स्वप्न टूटा। तब मुझे ज्ञान हुआ कि मेरे हाथ-पैर सर्दी से संज्ञा-शून्य हो गये हैं। मैंने मानो वर्षा से कहा, 'वहाँ जो कुछ होना था, अब तक हो चुका होगा।' फिर मैं किवाड़ बन्द कर अन्दर आ कर लेट गया और अपने ठिठुरे हुए अंगों को गर्मी

पहुँचाने के लिए कम्बल लपेट कर पड रहा'''

उस दिन की घटना यहीं समाप्त होती है, पर उस के बाद एक-दो घटनाएँ और हुईं, जिन का इस से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह भी यहीं कहूँगा।

इस के दूसरे दिन मैंने पढ़ा, 'कल रात को जनरल कोल्पिन और कर्नल गोरोव्स्की दोनों अपने घरों में मारे गये। जनरल कोल्पिन की हत्या एक स्त्री ने रिवाल्वर से की। उन को मारने के बाद उस ने उसी रिवाल्वर से आत्मघात कर लिया। कर्नल गोरोव्स्की घर में तलवार से मरे पाये गये। कहा जाता है कि उन की अपनी तलवार और रिवाल्वर दोनों गायब हैं। जिस रिवाल्वर से जनरल कोल्पिन की हत्या की गयी, उस पर गोरोव्स्की का नाम लिखा हुआ है इस से अनुमान किया जाता है कि गोरोव्स्की और कोल्पिन की घातक यही स्त्री है। पुलिस ज़ोरों से अनुसन्धान कर रही है, लेकिन अभी इस में रहस्य का कुछ पता नहीं लगा है।"

क्रेस्की का कहीं नाम भी नहीं था।

यह रहस्य आज भी नहीं खुला। हाँ, इस के कुछ दिन बाद मैंने सुना कि माइकेल क्रेस्की पीटर्सबर्ग के पास पुलिस से लड़ते हुए मारे गये

वह रहस्य दबा ही रह गया। शायद माइकेल क्रेस्की को स्वयं भी कभी यह नहीं ज्ञात हुआ कि वे मॉस्को से उस दिन आधी रात के समय क्या एकाएक छोड़ दिये गये

किन्तु अशान्ति का जो बीज मेरे हृदय में बोया था वह नहीं दब सका। *जिस दिन मैंने सुना कि माइकेल क्रेस्की मारे गये*, उस दिन मेरी धमनियों में रूसी रक्त खौल उठा क्रेस्की के कारण नहीं, किन्तु मेरिया के शब्दों की स्मृति के कारण। मैंने अपने स्कूल में एक व्याख्यान दिया जिस में जीवन में पहली बार विशुद्ध हृदय से मैंने क्रान्ति का समर्थन किया था

इस के बाद मुझे रूस से निर्वासित कर दिया गया, क्योंकि क्रान्ति के पोषकों के लिए रूस में स्थान नहीं था।

आज मैं पेरिस में रहता हूँ। मॉस्को की तरह अब भी मैं अध्यापन का काम कर रहा हूँ, किन्तु अब उसमें मेरी रुचि नहीं है। आज भी मैं क्रान्ति-विषयक पुस्तकों का अध्ययन करता हूँ, किन्तु अब पढ़ते समय मेरा ध्यान अपनी अनभिज्ञता की ओर ही रहता है। आज भी मेरा वह संग्रह उसी भाँति

पडा है, किन्तु अब उस की सब से अमूल्य वस्तु है वह टूटी हुई तलवार। हाँ, अब मैंने व्याख्यान देना छोड दिया है—अब एक विचित्र विषादमय अशान्ति, एक विक्षोभमय ग्लानि, मेरे हृदय मे घर किये रहती है…

ज्वालामुखी से आग निकलती है और बुझ जाती है, किन्तु जमे हुए लावा के काले-काले पत्थर पडे रह जाते हैं। आँधी आती है और चली जाती है, किन्तु वृक्षों की टूटी हुई शाखें सूखती रहती है। नदी मे पानी चढता है और उतर जाता है, किन्तु उस के प्रवाह से एकत्रित घास-फूस, लकडी, किनारे पर सडती रह जाती है। वह टूटी तलवार भी उस के आवागमन का स्मृति-चिह्न है। जब भी इस की ओर देखता हूँ, दो धधकते हुए, निर्निमेष वृत्त मेरे आगे आ जाते हैं, मैं सहसा पूछ बैठता हूँ, "मेरिया इवानोव्ना, तुम मानवी थी या दानवी, या स्वर्ग-भ्रष्टा विपथगा देवी ?"

'एक घंटे में—'

•

प्रभाकर जब अपने बड़े कोट के नीचे भरा हुआ 45 बोर का रिवाल्वर लगा कर, जेब मे पड़े हुए गोलियों के बटुए को हाथ से छू कर, एक बार शीशे मे अपना प्रतिबिम्ब देख कर चलने लगा, तब रजनी ने शीशे में उस के प्रतिबिम्ब की ओर उन्मुख हो कर कहा, "कब लौट आओगे ?"

प्रभाकर ने शीशे मे पडते हुए रजनी के प्रतिबिम्ब की ओर दृष्टिपात कर के कहा, "अभी घंटे-भर मे चला आऊँगा। क्यों, भूख बहुत लगी है क्या ?"

रजनी ने कहा, "नही, वैसे ही—" कह कर चुप हो गयी।

प्रभाकर ने धीरे से पुकारा, "रजनी !" और एक बार शीशे की ओर मुस्करा कर खटाखट सीढ़ियों से नीचे उतर गया।

रजनी दीर्घ नि श्वास छोड कर उठी और किवाड की साँकल लगा कर फिर अपने स्थान पर बैठ गयी।

उस के सामने दो पुस्तकें खुली पडी थीं। एक हैरल्ड लास्की की कम्युनिज्म और दूसरी भवभूति का उत्तररामचरित। प्रभाकर के चले जाने के बाद उस ने पहली पुस्तक बन्द कर दी, और उत्तररामचरित के श्लोक धीरे-धीरे गुनगुनाने लगी।

किन्तु उस का मन नही लगा। थोडी ही देर मे उस का ध्यान फिर उस दर्पण की ओर चला गया, और वह उस म अपना गम्भीर, कुछ करुण, और कुछ चिन्तित मुख देखती हुई न जाने किस विचार मे लीन हो गयी।

प्रभाकर और रजनी का विवाह हुए दो वर्ष से अधिक हो गया था। किन्तु विवाह-सुख किसे कहते हैं, यह उसे कभी नही ज्ञात हुआ। उसे तो अभी तक यही अनुभव होता रहा कि एक

सिपाही का जीवन कितना कठोर हो सकता है।

रजनी अच्छे और धनी घर की बेटी थी, इस लिए उस की 'ट्रेनिंग' भी वैसी ही थी और उस के विचार भी वैसे ही। पति के घर मे आ कर उस ने देखा कि जिन सिद्धान्तो को वह अब तक अटल समझती आयी थी, उन का यहाँ जरा भी मान नहीं था। यहाँ राजा की शक्तिमत्ता मे, सरकार की निष्पक्षता मे, धन की सत्ता मे, कुछ भी श्रद्धा नही थी—यहाँ निर्धनो और अछूतो की ही पूछ होती थी, यहाँ मजदूर और किसान ही सब से बडी शक्ति गिने जाते थे। पहले तो रजनी को इस से बडा आघात पहुँचा। वह लडकियो के एक कालेज की पढी हुई थी, और उस के मन मे वही अहम्मन्यता का भाव था जो कि प्राय ऐसे कालेजो की लडकियो मे होता है। घर की सस्कृति से यह भाव नष्ट नही पुष्ट ही हो गया था। यहाँ आ कर जब उस ने ये रग-ढग देखे, तब पहले तो उस के मन में साधारण विरोध-भाव उत्पन्न हुआ। किन्तु पति से तर्क करने पर जब वह बार-बार हारने लगी, तब उस का भाव एक दृढ विद्रोह मे परिणत हो गया। वह प्रत्येक बात मे पति के मन का खडन करती और अपने मत की पुष्टि के लिए कालेज मे पढी हुई किताबो से सन्दर्भ दिखाया करती। प्रभाकर उन सब बातो को सहज ही सह लेता और हँसी-हँसी मे रजनी के तर्कों का खडन कर देता। रजनी जब अप्रतिभ हो कर चुप हो जाती तब प्रभाकर उस के पास आ कर धीरे से एक चपत लगा कर कहता, "रजनी, अभी तुम बहुत बदलोगी—बहुत! तुम्हारे घर वालो ने तो तुम्हारा अचार डाले रखा था—कभी बाहर की हवा भी नही लगने दी!" इस से रजनी का क्षोभ बहुत-कुछ मिट जाता था, किन्तु पूर्णतया नही। वह चुप हो कर चली जाती थी।

प्रभाकर के माता-पिता मर चुके थे। वह एक छोटे-से घर मे अकेला ही रहता था। वह लाहौर के एक कालेज मे लेक्चरर था, और ग्वाल-मडी मे किराये के एक छोटे-से मकान मे रहता था। प्रातःकाल उठ कर वह कालेज के लिए अपने नोट तैयार करता, फिर कुछ राजनीति की पुस्तकें पढ़ता, और नौ बजे कालेज चल देता। उस के बाद रात तक रजनी को उस के दर्शन नही होते। कभी-कभी लौटने पर रजनी उस से पूछती, "इतनी देर तक कहाँ रहते हो?" तो वह हँस कर उत्तर देता, "आज विद्यार्थियों की एक सभा मे लेक्चर देने चला गया, इस लिए देर हो गयी।" या "आज अमुक मिल के मजदूरों ने

बुलाया था"—कभी-कभी रजनी क्षुब्ध हो कर निश्चय करती कि आज वे आयेंगे तो उन से बोलूँगी नहीं, किन्तु जब दिन-भर का थका-माँदा प्रभाकर बग़ल में मोटी-मोटी किताबों का गट्ठर दबाये घर आता और सीढ़ियों के ऊपर आ कर रजनी को देखते ही उस की मुखश्री खिल उठती और वह उल्लास-भरे स्वर में पुकारता, "रजनी !" तब वह किसी तरह भी नहीं रुकती थी··· बल्कि प्रायश्चित्तस्वरूप दूसरे दिन सवेरे जब प्रभाकर राजनीति और अर्थनीति की किताबें ले कर पढ़ने बैठता, तब वह चुपचाप उस के पास आ कर बैठ जाती, कोई किताब सामने खोल कर रख लेती और गम्भीर मुखमुद्रा बना कर उस की ओर देखा करती। बीच-बीच में जब वह कनखियों से पति की ओर देखती, तब प्रभाकर ठठाकर हँस पड़ता था, और रजनी भी विवश हो कर मुस्करा देती थी। प्रभाकर कहता, "रजनी, तुम भी इन्हें पढ़ डालो, बहुत-सी नयी बातें जान जाओगी।"

रजनी कभी भूल कर भी इन किताबों में रुचि नहीं दिखाती थी। वह कहती, "उँह, इन को पढ़ कर क्या होगा ? कालेज में थोड़ा पढ़ आयी थी, उसी से रोज़ आपस में लड़ाई हो जाती है !" फिर शीघ्र ही दोनों किसी निगूढ़ विषय पर बहस करने लग जाते···

किन्तु जब प्रभाकर कालेज चला जाता, तब रजनी उन्हीं पुस्तकों को निकालकर बड़े ध्यान से पढ़ती थी। केवल इस बात का ध्यान रखती थी कि पति के आने से पहले उस का स्वाध्याय समाप्त हो जाये।

धीरे-धीरे उस का विचार-क्षेत्र भी विस्तृत होता जा रहा था। उसे बहुत सी बातें समझ में आने लगी थीं जो कि कालेज में और घर में उस से छिपा कर रखी जाती थीं और जिन्हें सुनना भी वह पहले पाप समझती थी। साथ-ही-साथ उस के पुराने विश्वास भी बहुत-से मिटते जाते थे। ज्यों-ज्यों उस को अपनी पुरानी भूलों का ज्ञान होता जाता था, त्यों-त्यों उस की अहम्मन्यता भी मिटती जाती थी। किन्तु इतने दिनों की लड़ाइयों और इतने दिनों से किये गये मान को याद करके वह अपने पति से इस बात को छिपाती थी कि उस का मन कितना परिवर्तित हो गया है।

एक दिन सन्ध्या के समय वह अपने कोठे के घर पर बैठी—नीचे की दूकानों में जलती हुई गैस-लैम्पों और उन के प्रकाश में जगमगाते हुए फलों

की क्तारा की ओर देख रही थी। प्रभाकर अभी तक नहीं लौटा था।

धीरे-धीरे रात हो गयी। लेकिन प्रभाकर नहीं आया। रजनी की चिन्ता बढ़ने लगी। वह एक किताब ले कर वहीं बैठ गयी और पढ़ने लगी।

लगभग ग्यारह बजे प्रभाकर ने दरवाज़ा खटखटाया और कोमल स्वर में पुकारा, 'रजनी!"

रजनी चौंक कर उठी और नीचे जा कर प्रभाकर को लिवा लायी। दोनों चुपचाप अपने पढ़ने के कमरे में जा कर खड़े हो गये, कुछ बोले नहीं। प्रभाकर ने धीरे-धीरे कोट उतारा और कुरसी पर बैठ गया।

रजनी क्षण-भर उस की ओर देखती रही। फिर बोली, "खाना नहीं खाओगे?"

"आज खा आया हूँ।"

'कहाँ?"

प्रभाकर बिना कुछ उत्तर दिये मुस्करा दिया। रजनी ने कहा, "अच्छा, चल कर मुँह हाथ तो धो लो, बिल्कुल गर्द से सने हो।"

प्रभाकर ने कहा, "तुम चलो, सोओ, मैं अभी आया।"

रजनी को जान पड़ा, अवश्य ही कोई असाधारण बात हुई है। स्नेह से बोली, 'दिन-भर कहाँ रहे?"

प्रभाकर ने प्रश्न टालते हुए कहा, "कितना थक गया हूँ!"

रजनी ने आ कर उस का हाथ पकड़ लिया और बोली, "उठो, चलो, यहाँ बैठे रहने की ज़रूरत नहीं है।" कह कर वह धीरे-धीरे प्रभाकर को खींचने लगी। प्रभाकर उठ खड़ा हुआ और कोट को उठा कर कंधे पर रखने लगा।

रजनी बोली, "इसे यहीं पड़ा रहने दो न, कल सँभाल लूँगी!" कह कर उस ने कोट खींच लिया।

कोट ज़मीन पर गिर पड़ा। किसी ठोस वस्तु के गिरने का 'ठक्' शब्द हुआ। रजनी ने कहा, "यह क्या है?" और प्रभाकर के रोकते-रोकते कोट की जेब में हाथ डाल दिया।

प्रभाकर कहने को हुआ, "कुछ नहीं है।" किन्तु रजनी के मुख की ओर देख कर चुप रह गया।

रजनी का मुख फीका पड़ गया था, किन्तु बड़े यत्न से उस ने अपने को

वश मे किया और कोट उठा कर अपने कमरे की ओर चल पडी। प्रभाकर भी सिर झुका कर उस के पीछे पीछे चला।

कमरे मे पहुँच कर रजनी ने कोट की जेब मे से दो पिस्तौलें और कुछ गोलियाँ निकाली, और उन्हे ले जा कर अपने कपडो म छिपा दिया। फिर प्रभाकर के पास आ कर बोली, "ये तुम क्यो लाय ?"

प्रभाकर ने सहमा कोई उत्तर नही दिया। फिर बोला, "मैं क्रान्तिकारी दल मे सम्मिलित हो गया हूँ।"

रजनी क्षण-भर स्थिर दृष्टि से प्रभाकर की ओर देख कर बोली, "तुम्हे अपने अलावा और किसी का भी ध्यान है ?"

प्रभाकर फिर भी चुप रहा।

रजनी ने कहा, "जाओ। इस वक्त मैं कुछ बात नही करना चाहती !"

प्रभाकर चला गया।

इस के बाद सप्ताह-भर रजनी पति से नही बोली। प्रभाकर को भी उस स बोलने का साहस नही हुआ। वह स्वय खाना पका कर खाता और कालेज चला जाता। बीच-बीच मे वह कभी-कभी रजनी की ओर करुण और स्नेह-भरी दृष्टि से देख लेता था, किन्तु बोलता कुछ नही था। रजनी कभी इशारे से भी उसके स्नेह का उत्तर या स्वीकृति नही देती थी।

आठवें दिन फिर प्रभाकर बहुत देर तक नही आया। लगभग बारह बजे रात को उस ने आ कर किवाड खटखटाये, किन्तु रजनी को पुकारा नही। ऊपर आ कर वह अपने कमरे म खडा हो कर इधर-उधर से पुस्तकें, कागज, कुछ कपडे इत्यादि समेट कर जमीन पर रखने लगा।

रजनी चुपचाप खडी देखती रही।

प्रभाकर जब अपना काम कर चुका, तब एक अँगडाई ले कर खडा हो कर बोला "रजनी, अब भी नही बोलोगी ?"

उस के स्वर म न जाने क्या था, रजनी को ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह विदा माँग रहा हो। उस ने कहा, "अब भी क्या ?"

प्रभाकर बोला, "रजनी, मैं इतने दिन तक तुम से कहने का साहस नही कर सका ..."

रजनी बोली, "ऊपर चलो, वहाँ बात करेंगे !" कह कर प्रभाकर को सोने

के कमरे में ले गयी और किवाड बन्द कर लिये।

प्रभाकर ने बिना भूमिका के कहा, "रजनी, मुझे घर छोड कर भागना पड़ेगा···मेरे नाम वारंट निकल गया है···"

आज इस घटना को छ मास बीत गये। इन छ महीनो में रजनी ने कितने परिवर्तन देखे थे···

आज दिवाली थी, किन्तु रजनी के घर दीया नहीं जला था। दिन-भर उस ने खाना भी नही खाया था। इस से पहली रात किसी ने प्रभाकर को बाजार मे देखा था और पहचान कर पीछा किया था, इसी लिए प्रभाकर को चक्कर काट कर आना पडा था और आज दिन-भर वह घर से बाहर नही निकला था। किन्तु शाम तक भूखी रहने के बाद जब रजनी ने कहा, "कितनी फीकी दिवाली रहेगी!" तब एकाएक प्रभाकर बोला, "मैं बाहर जाता हूँ।"

"क्यों?"

"काम है।"

क्या काम है, रजनी समझ गयी। उसे खेद भी हुआ कि उस ने ऐसी बात क्यो कही। वह बोली, "अब बैठे रहो, यही से दूसरो की दीवाली देख लेंगे। तुमने तो दूसरो को सुखी करने का व्रत लिया है न!"

प्रभाकर ने रजनी के मुख की ओर ऐसे देखा मानो कुछ पूछ रहा हो, 'इसमे कुछ व्यंग्य तो नहीं है?' किन्तु रजनी के मुख पर स्नेह का भाव देख कर उसे कुछ चोट पहुँची। वह बोला, "नहीं रजनी, हमे अपनी दीवाली भी अवश्य मनानी होगी। मैं मिठाई-विठाई लिये आता हूँ, तुम बैठो।"

रजनी चुप होकर बैठ गयी। प्रभाकर रिवाल्वर इत्यादि से लैस हो कर चल दिया। रजनी अपनी पढ़ाई छोड कर सामने पडे हुए दर्पण में मुँह देखती हुई न जाने क्या-क्या सोचने लगी।

उसे अपने विवाहित जीवन की घटनाएँ याद आने लगी, और उन घटनाओं की कटुता या प्रियता के अनुसार उस के मुख पर आलोक और छाया का एक चपल नृत्य होने लगा। किन्तु आलोक क्षणिक और छाया स्थायी होती थी। बीच-बीच मे वह पास टँगी हुई घड़ी की ओर देख लेती थी।

आध घंटे में अधिक हो गया। रजनी की विचार-तरंग शान्त नहीं हुई।

इसी समय घर से कुछ ही दूर पर धड़ाके का शब्द हुआ—'ठाँय ! ठाँय ! ठाँय !' फिर कुछ रुक कर दो बार और—'ठाँय ! ठाँय !' रजनी चौंक कर उठ खड़ी हुई। लपक कर उस ने सीढ़ियों का निचला किवाड़ बन्द कर लिया। इस अनैच्छिक क्रिया के बाद वह फिर अपने कमरे के मध्य में आ कर खड़ी हो गयी। उस का मन अनियन्त्रित हो कर दौड़ने लगा।···

यह ठाँय-ठाँय क्यों ? कहीं वही तो नहीं हुआ जिस की आशंका थी··· अब क्या होगा ? पुलिस घर पर आ जायगी···

इसी बीच फिर चार-पाँच बार लगातार धड़ाके हुए, फिर कुछ देर के बाद एक, फिर एक और···फिर शान्ति···

अगर वे बन्दी हो गये—या आहत, या···रजनी की कल्पना-भूमि पर पड़े हुए खून से लथपथ एक शरीर के चित्र के सामने आ कर एकाएक रुक गयी···

उसने प्रबल मानसिक यत्न से अपना मन उधर से हटा लिया और अपने कर्तव्य पर विचार करने लगी। अब मुझे क्या करना होगा ?

रजनी को सहसा उस रात की याद आ गयी, जब उस ने प्रभाकर के साथ घर छोड़ा था।

सप्ताह भर के मौन के बाद जब एक दिन प्रभाकर ने आ कर कहा, 'रजनी, मुझे घर छोड़ कर भागना पड़ेगा, मेरे नाम वारंट निकल गया है', तब रजनी चकित हो कर रह गई थी। बहुत देर चुप रह कर बोली थी, "और मैं ?"

प्रभाकर जानता था कि यह प्रश्न जरूर होगा, किन्तु उस के पास इस का कोई उत्तर नहीं था। वह थोड़ी देर चुप रह कर बोला, "अभी तो तुम घर पर चली जाओ, फिर कुछ दिनों म मैं प्रबन्ध कर दूँगा।"

रजनी ने कहा, "एक बात कहती हूँ, ध्यान से सुनो। मुझे साथ ले चलोगे ?"

अत्यन्त विस्मित हो कर प्रभाकर बोला, "तुम्हें, रजनी ?"

हाँ, मुझे। मैं तुम्हारी मदद नहीं करूँगी, कर भी नहीं सकती। लेकिन तुम्हारे काम म दखल भी न दूँगी। चाहे जैसे जीवन व्यतीत करना पड़े, तुम्हें उलहना नहीं दूँगी। तुम इतना भी विश्वास कर लो कि तुम्हारी जो बातें

जान जाऊँगी वे किसी से कहूँगी नही। इस के अलावा और क्या करना होगा, बता दो। देखूँ, कर सकती हूँ कि नही।"

प्रभाकर गम्भीर हो कर बोला, "रजनी, यह कोई साधारण निर्णय नहीं है। लेकिन अगर तुम इतना करने को तैयार हो तो मैं तुम्हारा कहना टाल नही सकता। सच बात कहता हूँ कि मुझे तुम से इतनी भी आशा नही थी। इतना भी कुछ कम नही है। लेकिन तुम्हें बहुत कष्ट होगा।"

रजनी ने मानो बात अनसुनी कर के कहा, "एक बात समझ लो। मैं साथ रहूँगी, और गूँगी बहरी हो कर रहूँगी। इतनी बात तुम्हारे फायदे की है। लेकिन मैं तुम से सहमत नही हूँ, तुम्हारे आदर्शों मे किसी प्रकार की सहायता नही करूँगी। मुझ से इस प्रकार की कोई आशा न रखो। कभी अगर तुम्हे अपने काम मे मेरी मदद की आवश्यकता पडी और मैंने इनकार कर दिया, तो यह न कहना कि मैंने धोखा दिया और निष्क्रिय पडी रही। यह शर्त मानते हो ?'

प्रभाकर ने कुछ सोच कर कहा, "अच्छी बात है, मानता हूँ।"

"तो चलो!"

निर्णय कर चुकने के बाद रजनी ने किसी प्रकार की देरी नही की। एक घटे के अन्दर-अन्दर दोनो घर छोड कर एक विराट् शून्य की ओर चल पडे थे।···

आज ठाँय-ठाँय सुनकर उसे एकाएक इन बातो की याद आ गयी। उस ने मन-ही-मन कहा, 'मैं कुछ भी करने को बाध्य नही हूँ। क्यो न यही बैठी रहूँ ? मुझे क्या मतलब ?'

इस निर्णय पर उस का गतिशील मन नही रुक सका। वह फिर सोचने लगी, "अगर मैं पकडी गयी तब क्या होगा ?" उस की कल्पना मे अखबारो की खबरें नाचने लगी—'अमृतसर मे गोली चल गयी', 'एक क्रान्तिकारी बन्दी (या हत !)' 'वीर या (शायद वीरगति !) क्रान्तिकारी की पत्नी घर मे गिरफ्तार ···'

रजनी ने धीरे से कहा, 'और अभी यहाँ पर एक रिवाल्वर और कई गोलियाँ पडी हैं···!'

फिर वह सोचने लगी···

उस का घर एक छोटी-सी गली में था। पहली मंज़िल की सीढ़ियों के दोनों ओर दो कमरे थे, और दूसरी मंज़िल पर एक। सीढ़ियों पर एक दरवाज़ा नीचे था, एक पहली मंज़िल पर, और दूसरी मंज़िल की छत में लोहे के सीख़चों का एक दरवाज़ा था। छत में ही एक छोटा सा चौकोर सूराख़ था, जिस में झाँकने से सीढ़ियों के दरवाज़े और सीढ़ियों में ऊपर आता हुआ कोई भी व्यक्ति दीख पड़ता था।

रजनी ये सब बातें एक ही क्षण में सोच गयी। फिर किसी अनवर्य प्रेरणा से वह दूसरे कमरे में गयी और बक्स खोल कर टटोलने लगी। उस ने रिवाल्वर निकाला और चुपचाप भर लिया। बाकी गोलियाँ निकाल कर आँचल में डाल लीं।

निचला दरवाज़ा ही वह पहले बन्द कर आयी थी। अब उस ने पहली मंज़िल पर भी साँकल चढ़ा दी और दौड़ कर छत पर चली गयी। वहाँ उस ने लोहे का चौखट बन्द कर दिया और सूराख़ के पास रिवाल्वर ले कर बैठ गयी।

फिर एकाएक उस के मुँह से निकल गया, 'यह मैं क्या करने लगी हूँ?...'

यह भाव बहुत देर नहीं रहा। क्षण भर बाद उस ने रिवाल्वर की नली सूराख़ से निकाल दी और चौकन्नी हो कर बैठ गयी।

अभी दो मिनट भी न बीते थे कि किसी ने किवाड़ खटखटाया। रजनी और सँभल कर बैठ गयी और सूराख़ से नीचे देखने लगी। उस ने कोई उत्तर नहीं दिया, इसी प्रतीक्षा में बैठी रही कि पुलिस वाले किवाड़ तोड़ें या और कुछ आयोजन करें।

किवाड़ बड़े ज़ोर से खटखटाये जाने लगे। रजनी ने फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया। उस की नसें इतनी तन गयी थीं कि शायद वह उत्तर देना चाहती तो आवाज़ भी नहीं निकलती··

एकाएक रजनी चौंकी। यह तो पुलिस वालों का स्वर नहीं था—यह तो उस का चिर-परिचित स्वर था—

"कल्याणी, किवाड़ खोलो!"

रजनी उठ कर नीचे पहुँची तो उस की टाँगें लड़खड़ा रही थीं·· पर वह

ीचे चली गयी। दाहिने हाथ मे थामे हुए रिवाल्वर को पीछे छिपा कर उस ने किवाड खोला, और बोली, "आ गये ?"

प्रभाकर ने देखा, उस की आवाज भर्रायी हुई है। उस ने किवाड बन्द कर लिये और ऊपर आ कर पूछा, "क्या है रजनी ? स्वर्ण-मन्दिर मे तो खूब धूम है, आतिशबाजी छूट रही है। मै तुम्हे नही ले जा सका, लेकिन मिठाइयाँ ले आया हूँ।"

रजनी ने विमूढ-सी होकर प्रभाकर की ओर देखा, और बोली, "आतिशबाजी।" कहते कहते उस ने हाथ का रिवाल्वर भूमि पर बिछी हुई दरी पर रख दिया और स्वय बैठ गयी।

प्रभाकर ने एकाएक उस के पास बैठ कर स्नेह से पूछा, "यह क्या है, रजनी ?"

रजनी ने धीरे से अपना सिर प्रभाकर के कन्धे पर टेक लिया और धीरे-धीरे रोने लगी।

प्रभाकर उसके सिर पर हाथ रख कर चुपचाप बैठा रहा।

थोडी देर बाद जब रजनी उठ बैठी तो प्रभाकर ने पूछा, "क्यो ?"

रजनी बोली, "दीवाली मनानी है। दिये जलाऊँगी।"

प्रभाकर ने कृतज्ञता-पूर्वक कोमलता से उस का हाथ दबाते हुए कहा, "और मैं भी अपनी गृह-लक्ष्मी की पूजा करूँगा।"

मिलन

•

ससार मे कितनी ही विचित्र घटनाएँ होती हैं, जिन्हे देख-सुन कर हम सोचने लगते हैं, यह क्यो हुई ? इस का क्या अभिप्राय था ? यदि यह किसी की आन्तरिक प्रेरणा से हुई, तो उस प्रेरणा की जड कहाँ थी ? यदि किसी बाह्य प्रेरणा से, तो उस प्रेरणा का आधार कौन था ? और अगर इस घटना मे दैव का हाथ है तो इस घटना के ऐसे स्थान पर, ऐसे समय मे, इस प्रकार होने मे क्या अभिप्राय था, क्या गूढ तत्त्व था ?

जब हमारे मन मे ऐसे प्रश्न उठने लगते हैं, तब पहले-पहल हमे इस बात का आभास होता है कि ससार मे एक ऐसी महती शक्ति है जिस का परिमाण, जिस का तत्त्व हम नही जान पाते, जिस मे लचक है, पर साथ ही कठोरता भी, जिस मे दया है, पर साथ ही एक घोर परिहास भी। इस शक्ति को कोई आत्मा कहता है, कोई भावी, कोई इसे आन्तरिक प्रेरणा समझता है और कोई बाह्य, कोई इसे ऐहिक समझता है और कोई नैसर्गिक। किसी की राय मे इस शक्ति का प्रवाह उन्मत्त, पथहीन, अनवरुद्ध है, किसी की राय म इस का सचालन सयमित है।

सभी को इस के प्रवाह म एक अनियन्त्रित उन्माद दीखता है, और इस के उन्माद मे एक नियन्त्रित प्रवाह। और इस प्रवाह को, को, इस उन्माद को, इस विचित्र असयमित नियन्त्रण को कोई नही समझ पाता, सभी अन्वेषक मानो एक दीवार से टकरा कर रुक जाते है।

मैं बहुत दिनो से इस शक्ति का प्रभाव देख रहा हूँ। कभी-कभी उसे समझने की चेष्टा भी कर लेता हूँ, पर प्राय उस के विचित्र विन्यास को देखने म ही मेरा समय बीत जाता है।

सन् 1905 म यहाँ जो विस्फोट हुआ—उसे उत्पात कहना चाहिए, या दगा, या विप्लव, या क्रान्ति, -इस का निर्णय नही

कर सका, इस लिए विस्फोट ही कहता हूँ—उस मे भी मैंने इसी शक्ति का आभास पाया था। लोग जब उस की अवश्यम्भाविता की बात करते, तो मैं सोचा करता, यह अवश्यम्भाविता उसी शक्ति के प्रवाह का नामान्तर नही तो क्या है ? फिर इसी बडी क्रान्ति मे, जिस में एक साथ ही सारा रूस धधक उठा, और उस प्रज्वलन की लपेट मे सदियो से पूजित राजवश और रास्पुटिन-जैसे शक्तिशाली व्यक्ति भस्म हो गये, इस मे भी क्या था ? जिस पीडा, व्यथा, अशान्ति म, जिस अमित दैन्य और अमित भूख मे, इस घोर क्रान्ति का अकुर था, वे भी क्या थी ? उसी शक्ति का घोरतम प्रमत्त अट्टहास !

पर जिस घटना मे मैंने इस शक्ति की झलक सब मे स्पष्ट देखी थी, वह न सन् 1905 का विस्फोट था, न सन् 1917 की क्रान्ति, वह थी एक बहुत छोटी-सी घटना, बहुत ही साधारण, जिस का इन दोनो से थोडा थोडा सम्बन्ध था—वह था दो मित्रो का विच्छेद और पुर्नमिलन।

उन दोनो को पहले-पहल मैंने सन् 1903 मे स्कूल मे देखा। मैं जब नार्मल स्कूल मे अध्यापक-श्रेणी मे पढता था, तब वे दोनो आठवी मे आ कर दाखिल हुए थे। उन दिनो भी उन मे आपस मे काफी घनिष्ठता थी। वे अपने गाँव से एक साथ ही आते, स्कूल मे सब से अलग एक साथ बैठते, बोलते, खाते; फिर एक साथ ही स्कूल से वापस चले जाते। उन के गाँव से और भी लडके उस स्कूल मे आते थे; पर उनका एक समूह अलग लौटता था, और वे दोनो अलग।

इन की मैत्री सब को स्वाभाविक जँचती हो, सो बात नही थी। उन के शरीर के गठन मे, बोलचाल मे, रुचि मे, स्वभाव मे बहुत अन्तर था। देखने वाला उन मे साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक देख पाता था। सर्जियस कद मे लम्बा-चौडा और गौर वर्ण का था, उस के बाल फीके सुनहरे और आँखें हल्के नीले रग की थी। उसके ओठ पतले थे और प्राय दबे हुए रहते थे। जब वह चलता, तो उस की चाल मे लापरवाही झलकती थी। दिमीत्री कद मे छोटा था, पर उस का शरीर खूब गठा हुआ था। जब वह चलता था, तो मालूम होता था कि फौजी कवायद करता रहा है। उसके बाल गाढे भूरे रग के थे और उस की आँखें छोटी परन्तु काली और खूब चमकती हुई थी। मुँह पर उस के प्राय एक हल्की-सी हँसी रहती थी। [illegible]
भर कम थी, और वह सर्जियस

पाठियों से हँस-बोल लेता था। सर्जियस जब कुछ कहता, तो इस ढग से, मानो उसे इस बात की आशा नहीं है कि कोई उस का विरोध करेगा; दिमीत्री बात करता तो पहले विरोध के लिए चौकन्ना हो कर। पढने मे सर्जियस की रुचि साहित्य की ओर थी, दिमीत्री की इतिहास की ओर। सर्जियस स्कूल के ड्रामेटिक क्लब मे भाग लेता था, दिमीत्री प्राय डिबेटिंग सोसाइटियो मे बोला करता था।

फिर भी न जाने क्यो, उन मे इतनी घनिष्टता थी, न-जाने कौन-सी प्रेरणा उन्हे एक-दूसरे की ओर आकर्षित करती थी। कुछ दिनो मे मैं उन से मिलने लगा, पर आयु के भेद के कारण वे दोनों ही मुझसे कुछ झेंपते थे। दो वर्ष उन से मिलते रहने पर भी मैं उस घनिष्ठता मे भागी नहीं हुआ, केवल उन की उस विचित्र मैत्री का निकट-दर्शक ही हो पाया।

जब सन् 1905 का विस्फोट हुआ, तब मैंने नार्मल की परीक्षा पास ही की थी। सर्जियस की आयु उस समय शायद अठारह वर्ष की थी और दिमीत्री की सत्रह। वे दोनों स्कूल की अन्तिम परीक्षा पास करने वाले थे। हमें आशा थी कि वे भी नार्मल मे अध्यापक-श्रेणी म दाखिल होंगे, क्योंकि दोनों ही तीक्ष्ण बुद्धि थे। पर जिस दिन ज़ार की घोषणा वहाँ पहुँची कि रूस म प्रजा-प्रतिनिधियों की व्यवस्थापिका सभा ड्यूमा बनायी जायेगी और उस के उपलक्ष्य म हमारे स्कूल मे उत्सव के लिए छुट्टी हुई, उस दिन वे दोनों स्कूल नहीं आये—उत्सव मे भी नही आये। न जाने क्यो, उन के न आने से मेरा मन नही लगा। शाम को उत्सव समाप्त होने से पहले ही मैंने अपना ओवरकोट पहना और उन के गाँव की ओर चल दिया।

वहाँ पहुँच कर मुझे उन का पता पूछना नहीं पडा। गाँव के बाहर ही एक गिरे हुए पेड के तने पर दोनो बैठे बातें कर रहे थे मैं ने पुकारा, "दिमी!" तो दोनों उठ खडे हुए।

मैंने पूछा, "दिमी, तुम दोनों आज उत्सव मे क्यो नहीं आये?"

उस ने उत्तर दिया, अब हम स्कूल नहीं जायेंगे।"

मुझे दुःख भी हुआ और विस्मय भी। मैंने पूछा, "क्यो?"

वह बोला, "हम लोग अब गुलामी से छूट गये हैं, अब हमे इस गाँव मे बँधे रहना नहीं पड़ेगा। हम दोनों पीटर्सबर्ग जा कर नौकरी ढूँढेंगे और कुछ कमा कर घर भेजेंगे।"

मैं थोडी देर चुप रहा—सोचता रहा कि अगर गाँवो की प्रतिभा शहरो मे जाने लगेगी, तो फिर हम नये स्वातन्त्र्य का फायदा ही क्या हुआ !

"अच्छा दिमी, तुम पीटर्सबर्ग मे करोगे क्या !"

"यह तो अभी नही सोचा—अभी तो इतना ही निर्णय किया है कि कुछ करूँगा जरूर।"

"और तुम, सर्जी ?"

"मैं तो ज़ार की सेना मे कर्नल होऊँगा।"

मैं कुछ हँसा। फिर मैंने पूछा, "ज़ार की घोषणा से तुम्हे व्यक्तिगत लाभ तो हुआ है, पर देश पर क्या असर होगा, कभी सोचा है ?"

दिमीत्री बोला, "मैं तो समझता हूँ, इतना लडाई-झगडा करने पर भी हमे कुछ नही मिला। यह जो सीमित स्वातन्त्र्य हमे मिला है, आज से कही पहले मिलना चाहिए था। बल्कि मुझे अचम्भा होता है कि हम इतने दिन बँधे कैसे रहे ! जब हम सब बराबर है—"

सर्जियस बीच मे बात काट कर बोला, "यह धारणा गलत है। आदमी कभी बराबर नही होते। जिस को हम स्वातन्त्र्य कहते हैं, वह होता ही नही। एक का ज़ार और दूसरे का मजदूर होना स्वाभाविक है। यह भी स्वाभाविक है कि शासक थोडे हो और शासित बहुत, क्योकि धन की तरह शक्ति का स्वभाव है कि एक ही केन्द्र पर संचित होती रहो है। शक्ति एक केन्द्र मे बिखर कर नष्ट होती रहे, यह प्रकृति के विरुद्ध बात है।"

दिमीत्री ने उत्तर दिया, "और जिधर प्रकृति हमे घसीटे, उधर ही हम सद्द घोडे की तरह दुम दबाये चलते जायें, यह मानवता के विरुद्ध है। हम मनुष्य तभी है, जब हम प्रकृति की प्रेरणाओ को दबा कर अपने आदर्श को ऊपर रखें। जब हम आदर्श स्थापित करते हैं, तब यह सोच कर नही करते कि प्रकृति हम उस का अनुसरण करने देगी या नही। पहले आदर्श स्थापित होता है, फिर यदि प्रकृति उस मे रुकावट डाले, तो उस मे भी लडना पडता है। क्यों, मास्टर निकोलाई ?"

मैं उत्तर दिये बिना सर्जियस की ओर देखने लगा। वह बोला, "यह खोखला आदर्शवाद है। वास्तव मे ऐसा कहाँ होता है ? हम आदर्श सामने रखते है, और बडी ऐंठ से उस का अनुसरण करते हैं; पर जब प्रकृति सामने

आती है, तो कौन उस म लडता है ? लोग दुबक कर आदर्श बदल लेते हैं। माल्थुस ने जब अपने सिद्धान्तो का प्रचार किया तब लोग चिल्लाने लगे, आदमी बहुत बढ रहे हैं, इनके रोकने के लिए सयम चाहिए। प्रकृति चिल्लायी, यह नही होना ! फिर किस ने किया सयम ? लोग सन्तान निग्रह के रासायनिक तरीके ढूंढने लग गये। प्रकृति के विरुद्ध हम कभी सफल नही हो सकते।"

दिमीत्री कुछ हँस कर बोला, "यही तो ! तुम क्या समझते हो सयम प्रकृति के प्रतिकूल है ? यह जिसे तुम सन्तान-निग्रह कहते हो, यही तो प्रकृति के विरुद्ध है। सयम तो पशु भी करते है। अगर मान भी लें कि विषय तृप्ति ही प्रकृति का नियम है, तो क्या हम इस का विरोध नही करते ? जैसे—"

वह कुछ शर्मा कर रुक गया। मैंने कहा, "क्यो दिमी, रुक क्या गये ?"

वह बोला, "एक उदाहरण देने लगा था, वह कुछ भद्दा है, इस लिए रुक गया।"

मुझे कुछ कौतूहल हुआ। मैंने कहा, "अगर लागू हो तो दे दो कोई हर्ज नहीं है।"

वह कहने लगा, 'अपने ही आत्मीया के प्रति हमारे हृदय मे वासनाएँ क्यो नही जागती ?" उन के प्रति क्यों हमारे मन मे आदर का भाव रहता है, क्यो पवित्र विचार होते हैं ? यह तो प्रकृति का नियम नही है ? पशुओ म तो कोई ऐसा भेद-भाव नही होता ? यह प्रकृति पर आदर्श की जीत नही, तो और क्या है ?"

सर्जियस कुछ सोच मे पड गया। मैंने देखा, इन दोनो की विचार-शैली अभी पकी नही थी, परिष्कृत नही हुई थी। फिर भी यह मैं जान गया कि दोनो सामाजिक और राजनैतिक समस्याओ का अध्ययन अच्छी तरह कर रहे हैं। यह भी समझने मे देर नही लगी कि दोनो की वृत्तियाँ उन्हे किधर-किधर प्रेरित करेंगी। मैंने दोनो के कन्धो पर हाथ रख कर हँसते हुए कहा, "तुम लोग प्रसग से कितनी दूर निकल गये !"

दिमीत्री बोला, "फायदे की बात सोचते ही सिद्धान्त सामने आ जाते हैं, क्योकि मैं फायदा उस को समझता हूँ, जिस से आदर्श का पोषण हो। सर्जी का मत मुझ स भिन्न है।" यह कह कर उस ने सर्जियस की ओर देखा।

उस ने कहा—हाँ, मैं आदर्श उस को गिनता हूँ, जो लाभप्रद हो।"

मैंने दोनों की पीठ ठोक कर कहा, "तुम दोनों फिलास्फर हो गये हो! चलो, ज़रा घूमने चलें।"

वे मेरे साथ हो लिये।

जब हम लौटे, तब अँधेरा हो रहा था। जब हम गाँव के छोर पर पहुँचे, अलग होने का समय आया, तो मैंने पूछा, "अच्छा, तो फिर कब मिलोगे?"

दिमीत्री हँस कर बोला, "पहले का तो पता नहीं, हाँ, 1920 मे आज के दिन अवश्य मिलेंगे।"

मैं ने विस्मित हो कर पूछा, "कैसे, दिमी?"

वह सर्जियस की ओर देख कर बोला, "हम दोनों ने एक षड्यन्त्र रचा है। आज से पूरे पन्द्रह साल बाद हम स्कूल के बड़े खम्भे के नीचे मिलेंगे। चाहे कहीं हों, कितना ही काम छोड़ कर आना पड़े, आवेंगे अवश्य। और शायद अपने-अपने अनुभव एक-दूसरे को सुनायेंगे।"

"किस समय?"

"रात को आठ बजे।"

"अच्छा, अगर मैं आ सका, तो शायद मैं भी आ जाऊँ।"

कुछ देर तक हम चुप रहे। फिर सर्जियस बोला, "अच्छा, मास्टर निकोलाई, अब पन्द्रह वर्ष के लिए विदा दीजिए।" यह कह कर उस ने रूसी ढंग से सिर से ऊपर हाथ उठा कर सलाम किया।

मैंने कहा, "ऐसे नहीं, सर्जो!" और उस से हाथ मिलाये। फिर वह कुछ हट कर खड़ा हो गया। मैंने दिमीत्री से हाथ मिलाये। वह हँसता हुआ बोला, "मास्टर निकोलाई, इस षड्यन्त्र को भूलना मत।"

मैंने कहा, "मैं नहीं भूलूँगा।"

क्षण-भर में वे आँखों से ओझल हो गये। मैं भी अँधेरे में सेनों में से हो कर धीरे-धीरे अपने स्कूल की ओर चल पड़ा।...

इस के बाद...मैं फिर अध्ययन और अध्यापन के फेर में पड़ गया। आँधियाँ आयीं और चली गयीं, उत्पात खड़े हुए और बैठ गये; विस्फोट हुए और बुझ गये। पर हमारे स्कूल के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं हुआ...हाँ, मुझ में जो-कुछ भावुकता थी, धीरे-धीरे मिट गयी; जो कविता थी, वह अनुभव की दृढ़

शृंखला मे घुट कर मर गयी—और दिमीत्री और सर्जियस भी धीरे धीरे भूल गय उन क षडयन्त्र की और अपनी प्रतिज्ञा की स्मृति भी बुझ गयी।

पर मन 1917 की क्रान्ति जब आयी तब हमारा छोटा-सा शहर भी उस म बच नही सका। स्कूल टूट गया सब अध्यापक और वहुत से छात्र लाल झडे क नीच जा खडे हुए। मै भी उस क्रान्ति की लपेट म—या उस अज्ञात शक्ति क प्रवाह म—आ गया और एक साधारण सिपाही की वर्दी पहन कर उस झडे की छाया मे लडने लगा। फिर फिर मैंने वहुत कुछ देखा—जीवन कितना वीभत्स हो सकता है भूख की व्यथा कैसी होती है सारी-सारी रात जाग कर रेत की बोरियो के मोर्चे पर गिरती हुई बर्फ मे बैठ कर पहरा देने म क्या मजा है बर्फ से भी शीतल बन्दूक की नली ठिठुरे हुए हाथो म पकड कर बारह घंटे खडे रहने पर प्राणिमात्र के प्रति कैसी जलन हृदय मे होती है, लहू म सनी हुई वर्दी शरीर म पाच पाँच दिन अलग न कर सकने मे आत्म बल पर कैसा प्रभाव पडता है—इन सब बातो का अनुभव सन 1917 के तीन ही महीनो म हो गया उस क बाद सुना क्रान्ति समाप्त हो गयी। हम लौट आये। आ कर देखा जहा स्कूल था वहाँ एक होटल खुला हुआ है! स्कूल वहाँ स उठ कर एक नये भवन म चला गया था।

जीवन म थोडा सा वैचित्र्य आ गया। पर हम धीरे धीरे फिर शृंखलाओ म बद्ध होन लगे। हाँ इस बार इस बन्धन की गति कुछ कम हो गयी क्योकि देश म अशान्ति छायी हुई थी एक क्रान्ति की राख मे दूसरी क्रान्ति की आग सुलग रही थी

इधर उधर से विचित्र समाचार आने लगे। साम्यवादी फौज का एक अश जा कर साम्राज्यवादियो के दल म मिल गया और घर ही म युद्ध होने लग गया।

फिर एक दिन सुना नयी क्रान्ति होने वाली है। बर्फ पडनी आरम्भ ही हुई थी कि नयी क्रान्ति हो भी गयी—उस को दस दिन भी नही लगे।

फिर देश म कुछ शान्ति हुई और मेरा जीवन पुराने ढाँचे म अच्छी तरह बैठ गया।

शान्ति तो हो गयी, पर साम्राज्यवादियो के उत्पात बन्द नही हुए। मास्को म काव म और विशेषत पीट्रोग्राड मे—पीटर्सबर्ग अब पीट्रोग्राड हो

गया था—उन की गुप्त समितियाँ आतंक फैलाने लगीं। सोवियत ने उन के प्रति घोर दमन-नीति का अनुसरण किया।

होते-होते सन् 1920 आया···हमें फिर सन् 1905 की घोषणा के उपलक्ष्य में छुट्टी मिली···

इस बार स्कूल का उत्सव नहीं हुआ। सब अपने-अपने घरों को चले गये। और मैं—सारा दिन बाजार में घूमता रहा, शाम को थका-माँदा उसी होटल पर पहुँचा, जहाँ किसी दिन हमारा स्कूल होता था। मैंने दरवाज़े के पास ही एक मेज पर बैठ कर रोटी, भूने हुए आलू, सिरका और एक गिलास पानी—बीयर उन दिनों दुर्लभ थी!—मँगाया और धीरे-धीरे खाने लगा। खाते-खाते सोच रहा था, जिन दिनों यहाँ स्कूल था, उन दिनों की और आज की मनोवृत्ति में कितना अन्तर है। उन दिनों आशावाद कितना सुखमय था—और आज जीवन कितना नीरस हो गया है! मैं सोचता जाता और होटल के बाहर लगे उस बड़े गैस-लैम्प की ओर देखता जाता। उस पर जब पतंगे जल-जल कर गिरते, तो मुझे एक विचित्र शान्ति का अनुभव होता। शायद अपने जीवन की नीरसता के लिए सान्त्वना मिलती थी!

एकाएक मैं चौंका। उस लैम्प के नीचे ओवरकोट और टोप पहने एक व्यक्ति आ कर खड़ा हो गया। उस के शरीर का गठन, उस की चाल परिचित मालूम होती थी। मेरे मस्तिष्क में स्मृतियाँ चक्कर खाने लगीं···पर उस की याद न आयी। फिर—

सर्जियस! स्मृति की एक बड़ी-सी लहर आयी—सर्जियस, दिमीत्री, वह षड्यन्त्र और अपनी प्रतिज्ञा—सभी किसी अँधेरी गुफा से निकल कर सतह पर आ गये···

पहले मेरी इच्छा हुई, उसे बुलाऊँ। फिर मैंने सोचा, मैं तो दर्शक ही था, उन का मिलन देख लूँ, फिर जाऊँगा। मैं वहीं बैठा देखने लगा, भूख की ओर मेरा ध्यान नहीं रहा। शायद मैं दो-एक आलू बिना छीले ही खा गया···

अँधेरे में से एकाएक गैस के प्रकाश में एक और व्यक्ति आया—गठा हुआ, चुस्त, सोवियत की फौजी वर्दी पहने हुए दिमीत्री!

क्षण-भर दोनों खड़े रहे। फिर सर्जियस ने धीरे से कुछ दबते हुए कहा, "दिमीत्री प्त्रोविच?"

दिमीत्री के मुख पर आनन्द की रेखा दौड़ गयी। वह बोला—"मर्जी ! सर्जी !" और लपक कर उस के गले में लिपट गया।

फिर धीरे-धीरे कुछ बातें हुईं। मैं नहीं सुन पाया। उन के बाद मैंने देखा, दोनों होटल की ओर आ रहे हैं। मैं पीछे हटकर अँधेरे में हो गया।

वे आ कर एक मेज पर बैठे और कहवा मँगा कर पीते-पीते बातें करने लगे।

"कहो मर्जी, कैसे रहे ?"

"बड़े मज़े में। कर्नल तो नहीं हो पाया, कप्तान हो गया था। उसके बाद हमारी सेना ही छिन्न-भिन्न हो गयी।"

"अब क्या करते हो ?"

सर्जियस कुछ रुक कर बोला, "अब तो कुछ नहीं कर रहा हूँ। हाँ, थोड़े, दिनों में कहीं नौकरी कर लेने की आशा है। पर तुम कहो।"

"मैंने बहुत धक्के खाये। यहाँ स आ कर कुछ दिन तो कुली का ही काम किया। फिर मज़दूरों की मिलिशिया में भर्ती हो गया। फिर क्रान्ति आयी तो उस में भी भाग लिया। अब—अब मैं सेना का लेफ्टिनेंट हूँ।"

दिमीत्री ने जेब से सिगरेट-केस निकाल कर सर्जियस की ओर बढ़ाया। सर्जियस ने कहा—"इस वक्त इच्छा नहीं है।"

दिमीत्री जेब टटोलने लगा। फिरबोला, ' मर्जी, तुम्हारे पास दियासलाई है ?"

सर्जियस ने ओवरकोट के बटन खोले और अन्दर से दियासलाई की डिबिया निकाली।

मैंने देखा, दिमीत्री चौंका। और फिर अनिमेष हो कर सर्जी के गले की ओर देखने लगा। मैंने भी उस की ओर देखा, सर्जियस के ओवरकोट के अन्दर गले म एक सफ़ेद और नीली धारियों वाला रेशमी रूमाल बँधा हुआ था

दिमीत्री ने दियासलाई लेने के लिए हाथ बढ़ाया, तो उस का हाथ काँप रहा था।

सर्जियस ने भी यह देखा, और चिन्तित हो कर बोला, "दिमीत्री, तुम बीमार तो नहीं हो ?"

दिमीत्री ने कहा, "नहीं, मेरे कुछ सरकारी कागज बाहर गिर गए हैं। तुम बैठो, मैं अभी आया।" कह कर वह सर्र स बाहर चला गया।

मैं कुछ देर सर्जियस की ओर देखता रहा, फिर उठ कर उस के पास चला गया।

"सर्जियस, मुझे पहचानते हो ?"

उस ने मेरी ओर ध्यान से देखा। फिर खड़ा हो कर बोला, "मास्टर निकोलाई, आप यहाँ कहाँ ?"

मैं झूठ कई बार बोला हूँ। पर सर्जियस से मैं पहली बार झूठ बोला। मैंने कहा, "षड्यन्त्र में अपना भाग पूरा करने आया था।"

वह हँसा। फिर हम दोनों बैठ गये। मैंने कहा, "मैं तुम्हारी बातें सुन रहा था। तुम जो कह रहे थे, आजकल कुछ नहीं कर रहे हो, तो सेना में भर्ती क्यों नहीं हो जाते ? पहले कप्तान तो रह ही चुके हो, अब—"

वह खिलखिला कर हँस पड़ा। मैं कुछ अप्रतिभ-सा हो कर चुप हो गया। फिर वह कहने लगा—"मास्टर निकोलाई, इस सेना में—"

सीढ़ियों पर किसी के पैर की आहट आयी। मैंने समझा, दिमीत्री आ रहा है। उस को स्तम्भित करने के लिए मैंने पुकारा, "दिमी !"

वह दिमी नहीं था।

एक सार्जेंट के साथ पाँच-छः सिपाही भीतर घुस आये। सार्जेंट ने सर्जियस के कन्धे पर हाथ रख कर कहा, "सर्जियस मार्टिनोवस्की, भूतपूर्व कप्तान, अब साम्राज्यवादी गुप्त-समिति के सदस्य, मैं तुम्हें गिरफ्तार करता हूँ !" वह सब ऐसे कह गया, मानो रटा हुआ पाठ पढ़ रहा हो। सर्जियस ने एक तीव्र दृष्टि से मेरे मुख की ओर देखा, उस पर दुःख और विस्मय के भाव स्पष्ट देख-कर गुनगुनाया, "दिमी ! दिमीत्री पित्रोविच !"

एक फीकी हँसी हँस कर उस ने दोनों हाथ आगे बढ़ा दिये—हथकड़ियाँ लग गयीं···

सर्जियस खड़ा हो गया। बोला, "मास्टर निकोलाई, यदि आप को दिमी कहीं मिले, तो—उसको मेरी याद दिला दीजिएगा।"

मैं कुछ उत्तर न दे सका। वे उसे ले गये ··

मैं सोचने लगा, पन्द्रह साल बाद न-जाने कहाँ से वह आया था—एक स्मृति के लिए ! और अब—

एक व्यक्ति आ कर मेरे सामने बैठ गया। वह युवक था; पर उस के मुख

पर झुर्रियाँ पड़ गयी थी, अपनी टोपी नीचे खींच कर उस ने अपनी आँखों पर छाया कर रखी थी। क्षण-भर मैंने उसे पहचाना नही; फिर मैंने कहा, "दिमी!"

उस ने मेरी ओर देख कर कहा, "मास्टर निकोलाई!" उस की आवाज में न आनन्द था, न विस्मय। मैं ने देखा, उस की आँखें छिपे हुए आँसुओं से चमक रही थी।

मैंने कहा "सर्जियस तो गया!"

उस ने उदास भाव से उत्तर दिया, "हाँ।"

हम दोनो चुप हो गये। फिर वह आप-ही-आप बोला, "अनुमान तो मैंने पहले भी किया था, पर जब मैंने उस के गले में वह चिह्न—वह नीली और सफेद धारियोवाला रूमाल—देखा, तो मेरा कर्तव्य स्पष्ट हो गया। पर मैं स्वयं कुछ नही कर सका—बीस वर्षों से सचित स्मृति ने साहस तोड़ दिया।"

मैंने कहा, "दिमी, दिमी! क्या कह रहे हो तुम!"

वह उठ खड़ा हुआ। अपनी फौजी जैकेट का तीसरा बटन खोल कर उस ने अन्दर की ओर सकेत किया। वहाँ एक छोटा-सा पीतल का बैज था उस पर तीन अक्षर लिखे हुए थे···

'जी० पी० यू०', फौजी जासूस···

मैं भौचक हो कर उस के मुख की ओर देखने लगा। वह बोला, "मित्र-घात बुरा है या देशद्रोह, मैं नहीं जानता!" फिर एकदम होटल से बाहर निकल गया और अन्धकार मे ओझल हो गया।

इस के बाद जो दिमीत्री ने सर्जियस को बचाने का विफल प्रयत्न किया, जो कोर्ट-मार्शल के आज्ञानुसार सर्जियस गोली से उड़ा दिया गया, और उस के बाद ही दिमीत्री अपने पद से इस्तीफा देकर विदेश चला गया, यह सब इस प्रसग की बात नही है।

इस घटना की व्याख्या विभिन्न प्रकृतियो के लोग विभिन्न तौर से करेंगे। दिमीत्री के कर्म को कोई विश्वासघात कह कर सर्वथा अक्षम्य समझेगा, कोई उसे विश्वासघात कह कर क्षमा कर देगा, क्योकि राष्ट्र के आगे एक आदमी का व्यक्तित्व क्या है? कोई शायद उस के काम को एक कठोर कर्तव्य का समुचित पालन मान कर सर्वथा उस की सराहना भी करे···पर उस की मनोगति

के, उस के कर्म के औचित्य का निर्णय करने वाले हम कौन हैं, इस पर शायद कोई विचार नही करेगा···

मैं ने जो कुछ देखा है, उस से मैं इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ कि मानव-हृदय की वृत्तियों का विवेचन करना हमारी शक्ति मे बाहर है। दिमीत्री का कर्म अच्छा था या बुरा, मैंने इस प्रश्न पर कभी ध्यान नही दिया। मैं तो यही मोचता हूँ, कितनी महती शक्ति है वह, जो इन दोनो को न-जाने कहाँ कहाँ से खीच कर इस अनुष्ठान की पूर्ति के लिए ले आयी ! वर्षो म सिक्त उस मैत्री की इस पराकाष्ठा मे, वर्षो से संचित उस महती आकांक्षा के आकस्मिक विफलीकरण म मुझे उसी नियन्त्रित शक्ति का प्रवाह दीखता है ··या यों कहूँ कि उसी शक्ति का अनियन्त्रित, विकट, उन्मत्त अट्टहास ··!

विवेक से बढ़ कर

•

Whence shall arise the shout of love, if it be not from the summit of sacrifice ?—*Victor Hugo*

आँधी तीन दिन से बन्द नहीं हुई थी। उस मरुस्थल से तीन दिन से पवन कभी क्रुद्ध साँप की तरह फुफकारता हुआ, कभी किसी प्रोषितपतिका की तरह साँय-साँय रोता हुआ बहा जा रहा था। उस मरु में उस का प्रवाह ऐसा अनवरुद्ध था कि तीन दिनों से लगातार पड़ रही बर्फ का एक टुकड़ा भी उस के आगे नहीं टिक पाया था। केवल उस लम्बी-सी नीची इमारत के कोने में, जहाँ पवन की चोट नहीं पहुँच पाती थी, बर्फ के मैले ढेर जम गये थे, और उन में मैला पानी बहा जा रहा था…

काली-सी मरुभूमि, काला-सा आकाश, और बीच में उड़ती हुई बर्फ की चादर में लिपटी हुई वह काली-सी इमारत "भूमि और *आकाश को देख कर उस स्थान की निर्जनता का अनुभव पूरी* तरह नहीं हो सकता था, किन्तु उस के मध्य में, उस इमारत के भीतर से आनेवाले क्षीण प्रकाश को देख कर एकाएक असीम सूनेपन की संज्ञा जाग्रत हो उठती थी।

वह इमारत थी रूस की साइबेरियन सीमा का एक पुलिस थाना। उस समय उस के अन्दर भी एक विचित्र तूफ़ान मचा हुआ था—किन्तु उस की भयंकरता को वही समझ सकता है, जिस ने महीनों आधे-पेट भोजन पर बिताये हैं, जिस ने भूख, प्यास और सर्दी में अपने प्रियजनों को मरते देखा है, जिस ने धनिकों की अनाचारिता देखी है, जिस ने राजशक्ति की कोपदृष्टि सही है, और जिस ने यह सब कुछ देख-सुन और सह कर भी अपने पीड़ित बन्धुओं के लिए लड़ मरने का अपना निश्चय नहीं छोड़ा •

थाने के एक सिरे पर एक कोठरी के अन्दर एक युवक बन्द था। उस ने चमड़े का एक कोट पहना हुआ था, और मोटे-मोटे

बूट, किन्तु उस के दाहिने पर मे एक लोहे की जंजीर पडी हुई थी जिस का दूसरा छोर दरवाजे के सीखचो से बँधा हुआ था। वह कोठरी के एक कोने मे भूमि पर ही बैठा हुआ था और विमनस्क-सा हो कर बाहर गरजते हुए तूफान की ओर देख रहा था। कभी-कभी बर्फ के छोटे-छोटे टुकडे अन्दर आ जाते और कभी-कभी पवन के झोंके से छत से टँगे हुए चरबी के लैम्प की शिखा काँप जाती थी।

उस के सामने एक पुलिस का अफसर बैठा था। वह कुछ सोच रहा था, किन्तु फिर भी कभी-कभी चौंक कर बाहर की ओर देख लेता, और कभी अपने बन्दी के मुख की ओर···

एकाएक वह बोला, "देखो एण्टन, मैं तुम्हे एक रहस्य की बात बतलाता हूँ। तुम जरा आगे सरक आओ।"

बन्दी ने उपेक्षा स उत्तर दिया, "रहस्य की बात यही होगी न कि मैं बयान दे दूँ तो मुझे छोड दोगे ?"

पुलिस-अफसर ने धैर्य से कहा, "नही। तुम अभी युवा हो, इस लिए प्रत्येक सरकारी नौकर को देश-द्रोही ही समझते हो। तुम्हारा विचार गलत है।" यह कह कर वह स्वय आगे सरक आया और बोला, "एण्टन, तुम प्योत्र वासिलीव को जानते हो ?"

एण्टन ने कुछ मुस्करा कर कहा, "इतना कच्चा नही हूँ।"

"तुम्हे ऐसे विश्वास नही होगा। सुनो, मैं तुम्हारी बहुत-सी बातें जानता हूँ। तुम प्योत्र वासिलीव के दल म थे, और तुम्हारे साथ ही मैक्सिम और लियोन भी थे। ठीक है न ?"

बन्दी ने फिर कोई उत्तर नही दिया।

"तुम, मैक्सिम और लियोन फिल्विस्क नगर मे गवर्नर की हत्या करने के लिए भेजे गये थे और तुम्ही ने यह कार्य किया भी। उस के बाद तुम रूस की ओर वापस जाते हुए पकडे गए। ठीक है न ?"

फिर भी कोई उत्तर नही मिला।

"तुम समझते होगे, ये बातें शायद मैक्सिम या लियोन ने मुझे बता दी हो। सुनो, एक बात और कहता हूँ। यह उन दोनो को नही मालूम है। वासिलीव ने एक बार पहले भी तुम्हें इधर भेजा था, और तुम क्रुस्कोव नाम

से गये थे। क्यो ?"

अबकी बार एण्टन ने विस्मित स्वर से कहा, "तो फिर क्या चाहते हो ?"

पुलिस-अफसर हँसा। बोला, "अब शायद तुम मेरी बात सुनने को उद्यत होगे। सुनो ! मैं वासिलीव का मित्र हूँ। मुझे तुम से बहुत-कुछ सहानुभूति है—पर इस बात को अभी जाने दो। मैं इस समय तुम्हारी सहायता करना चाहता हूँ। शायद थोडी-बहुत सहायता कर भी सकता हूँ।"

बन्दी ने उत्सुक हो कर पूछा, "क्या ?"

"तुम तीन आदमी पकडे गये हो। मैं जानता हूँ कि उस हत्या मे तुम तीनो का हाथ था। लेकिन फिलिक्स्क के थाने मे जो रिपोर्ट है, उस मे दो ही आक्रमणकारियों के देखे जाने की बात लिखी है।"

"तो फिर ?"

पुलिस अफसर ने एक भेद-भरी दृष्टि से बन्दी की ओर देखते हुए फिर कहा, "तुम लोग तीन हो।"

बन्दी क्षण-भर उस की ओर देखता रहा। शायद पुलिस-अफसर का आशय कुछ कुछ उस की समझ मे आ गया। उस ने व्यग्रता दिखाते हुए पूछा, "तो क्या किया जा सकता है ?"

"मैं तुम से सहानुभूति रखता हूँ। अगर मेरा वश होता, तो मैं तुम तीनो को छोड देता। लेकिन वैसा करने से मैं स्वयं पकडा जाऊगा और तुम भी कही नही जा सकोगे। ठीक है न ?"

"हाँ।"

"अपने आदर्शों की पूर्ति के लिए जो बात सब से लाभप्रद हो, वही हमे करनी चाहिए। तुम तीनो को नही छोड सकूँगा। इसी लिए पूछता हूँ, तुम मे से किस का मूल्य सब से अधिक है ?"

एण्टन ने हँस कर कहा, "हम तीनो ही पाँच-पाँच हज़ार रूबल के है !"

पुलिस अफसर भी कुछ हँसा। फिर बोला, "वह बात नही। किस का छूट जाना सब से अधिक लाभप्रद होगा, यही जानना चाहता हूँ।"

"जान कर क्या होगा ?"

"उस से आगे जो कुछ करना होगा, वह मेरे वश मे है। तुम केवल इतना बता दो, किसे निर्दोष लिख दूँ ?"

एण्टन चुपचाप बाहर आँधी की ओर देखता रहा। कई क्षण बीत गये। पुलिस-अफसर ने कहा, "मैं उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।"

एण्टन मानो चौंका। फिर बोला, "मुझे सोच लेने दो—यह काम बहुत कठिन है।"

पुलिस-अफसर ने कहा, "अच्छा। मैं आधी रात बीते फिर आऊँगा। तब तक—" यह कह कर वह घूमा, और किवाड के पास जा कर बोला, "सिपाही!"

दूर सिपाही के आने का ठप्! ठप्! स्वर सुन पडा। ताला खडका, फिर दरवाज़ा कुछ खुल गया।

एण्टन ने अफसर से पूछा,"आप का नाम क्या है, बताने की कृपा करेंगे?'

'हाँ हाँ! मेरा नाम आन्द्रेइ मार्टिनोव है।" कह कर वह बाहर चला गया। ताला बन्द हो गया।

2

इस कोठरी मे और एण्टन की कोठरी मे कोई विशेष भेद नही था। अगर कोई भेद था तो इतना ही कि इस कोठरी का मुख पवन के वेग से बचा हुआ था। एक युवक उस मे धीरे-धीरे टहल रहा था। जब वह चलता तो उस के पैरो मे पडी हुई जजीर झनझना उठती थी, पर वह फिर भी ऐसे टहलता जाता था, मानो उसे ध्यान ही न हो।

एकाएक उस ने रुक कर, अपने सामने खडे हुए पुलिस-अफसर की ओर देख कर पूछा, "पर मार्टिनोव साहब, आपका विश्वास कैसे किया जा सकता है?"

मार्टिनोव ने कहा, "मैं यह जानता ही था कि मैं आसानी से विश्वास नही दिला सकूँगा। लेकिन शायद मेरे पास इस का भी एक साधन है। तुम वासिलीव की हस्तलिपि पहचानते हो?"

"कहिए?"

"अगर मैं अपने नाम लिखा हुआ वासिलीव का पत्र तुम्हें दिखाऊँ, तो विश्वास करोगे?"

"अगर-मगर की बात क्या करते हैं? जो दिखाना है दिखाइए, फिर बात होगी।"

मार्टिनोव हँसा। फिर बोला, "क्रान्तिकारी स्वभावत ही टेढे होते हैं, सीधा जवाब क्यो देने लगे ? खैर, यह देखो।" कह कर उस ने जेब मे से एक पत्र निकाला। उम मे दो ही तीन मतरें लिखी हुई थी।

मैक्सिम ने पत्र अपने हाथ मे ले लिया और पढा। "बन्धु मार्टिनोव, हमारे एक मित्र ऋुस्कोव आप के प्रान्त मे से हो कर फिलिकिस्क जा रहे हैं। आशा है आप उन से मिल पायेंगे। अगर न भी मिल सकें, तो ऐसा प्रबन्ध कर दीजिएगा कि उन्हे यात्रा मे कष्ट न होने पावे। कृतज्ञ हूँगा।"

मैक्सिम ने पत्र पढ कर जिज्ञासा-भरी दृष्टि से मार्टिनोव की ओर देखा। मार्टिनोव बोला, "नीचे का नाम मैंने काट दिया था। लेकिन लिपि तो पहचानते हो न ?"

मैक्सिम ने धीरे से कहा, "हाँ।"

थोडी देर दोनो चुप रहे। फिर मार्टिनोव बोला, "तो अब मुझे बता सकोगे ?"

"आप ने और दोनो से भी पूछा है ?"

"तुम्हे अपना मत व्यक्त करने मे उन की राय से नही बाध्य होना चाहिए, इस लिए यह मत पूछो ! तुम किसे सब से मूल्यवान समझते हो यही बता दो।"

मैक्सिम चुप रहा। मार्टिनोव मानो अपने आप मे ही बोला, "और फिर सब को विश्वास दिलाना भी तो असम्भव है !"

मैक्सिम ने कहा, "हाँ, यह बात तो है। अच्छा।"

"तुम्हे शायद सोचने का समय चाहिए ? मुझे कोई जल्दी नही है।"

"हाँ। कब तक समय दे सकते हैं ?"

"आधी रात तक---अभी तीन घण्टे है।" कह कर मार्टिनोव बाहर चला गया। मैक्सिम ने टहलना बन्द कर दिया और धीरे-धीरे भूमि पर बैठ गया। बहुत देर तक उस कोठरी मे कोई शब्द नही हुआ, केवल किसी अशान्त, चिर-दुखित प्रेत के सिसकने की तरह पवन का वह साँय-साँय ही बार-बार गूँजता और कुछ शान्त हो कर फिर गूँज उठता···

3

एण्टन की कोठरी मे अँधेरा था, चर्बी का लैम्प बहुत धीमा जल रहा था।

वह कोठरी में खडा हुआ दीख नही पडता था, इस लिए सिपाही दरवाज़े के पास ही खडा था, इधर-उधर घूमता नही था। कभी-कभी वह दरवाज़े पर आ कर पुकारता, 'कैदी, सब ठीक है न?' और फिर बिना उत्तर पाये ही कुछ परे हट कर खडा हो जाता था। उस की शिक्षा यही तक थी कि कैदी को पुकारते रहना चाहिए, यह बात नही कि उस से कोई उत्तर भी प्राप्त करना चाहिए।

कभी-कभी जब बिजली चमकती, तो सारा आकाश जल उठता और उस मरु की निर्जनता आँखो के आगे उभर-सी आती।

उस के प्रकाश मे दीख पडता था, एण्टन अपनी कोठरी के सीखचे दोनो हाथो से पकडे उन्ही से मुँह बाहर निकाले खडा था। विक्षिप्त की भाँति वह एक पैर की एडी बार-बार उठा कर पटकता था, जिस से पैर की जजीर झनझना उठती थी। कभी-कभी वह बिल्कुल ही निश्चल हो जाता, किन्तु फिर अधिक उद्वेग से एडी पटकने लगता था और जजीर की झनझन पवन की साँय-साँय को डुबा देती थी ··

एण्टन का बाह्य रूप देख कर यह नही जान पडता था कि वह क्या सोच रहा है। उस की वह स्थिर दृष्टि, दबे हुए ओठ, और शरीर के उत्क्षेप यही कहते थे कि उस की आत्मा किसी विचित्र भाव के फेर मे पड कर, उद्भ्रान्त हो कर बहुत दूर चला गया है और कठोर, अभेद्य बन्धनो म पड कर छटपटा रहा है किन्तु वह भाव क्या था, और वे बन्धन क्या थे, यह कहने का शायद उस के पास कोई साधन ही नहीं था। क्रान्तिकारी विचार स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य के लिए लडते हैं, किन्तु इस म ही उन्हें न-जान कितने विचारो का दमन करना पडता है, कितनी अभिव्यक्ति चेष्टाओ को नष्ट कर देना होता है!

ये भाव · एण्टन के विशाल हृदय मे उठते और दोनो से किसी एक चट्टान मे टकरा कर नष्ट हो जाते—मैक्सिम और लियोन

वे भाव एण्टन के व्यक्तित्व के इतने अन्तरतम प्रश थे कि शायद एण्टन स्वय उन्हें न समझ सकता। उस ने इतनी बातें, ऐसी बातें, पहले कभी नही · सोची थीं किन्तु उसे पहले कभी ऐसा अवसर भी तो नहीं आया था—मैक्सिम और लियोन की तुलना करने का उन ने कभी प्रयत्न नही किया था···

यदि एण्टन उन भावो को लिख कर, उन्हें सामने रख कर, अपने मन को

समझने की चेष्टा करता—

4

बहुत दिनों की बात थी। वसन्त के आगमन से उस गांव के आसपास के बागों में सेब के पेड़ फूलों से लद गये थे, यद्यपि उनमें पत्ते नहीं थे। इन्हीं पेड़ों की छाया में, झरने के किनारे थोड़ी-सी घास से हरी भूमि पर दो लड़के बैठे हुए थे—एण्टन और मैक्सिम···

मैक्सिम एक छोटी-सी किताब हाथ में लिये पढ़ रहा था। एण्टन उस की ओर देखता और घास की पत्ती दाँतों से कुतरता चुपचाप बैठा था।

मैक्सिम ने पढ़ना स्थगित कर के कहा, "एण्टन!"

"क्या है?"

"इस किताब में दो सिपाहियों की जो कहानी है, वह तुमने पढ़ी है?"

"हाँ। पिछले साल पढ़ी थी।"

"मैं भी सिपाही बनूँगा। और फिर बहुत बड़ी फौज ले कर लड़ाई में जाऊँगा। तुम भी चलोगे न?"

"मैं बहुत फौज लेकर नहीं लड़ूँगा। अकेला ही जार के पास जाऊँगा, और उस से काम माँगूँगा।"

"जैसे इस किताब में सिपाहियों ने किया था?"

"हाँ। लेकिन किताब में दो सिपाही थे।"

मैक्सिम ने कुछ सोच कर कहा, "तो मैं भी चलूँगा। लेकिन कहानी की तरह अगर कभी लड़ाई में मुझे चोट लग गयी तो?"

"तो मैं अकेला ही शत्रु को मार दूँगा और तुम्हें उठा कर पीट्रोग्रेड में ले आऊँगा।"

"और अगर तुम भी घायल हो गये तो?"

"तो क्या? तुम्हें तो उठा कर बचा ही लाऊँगा चाहे फिर मर ही क्यों न जाना पड़े।"

मैक्सिम मानो सन्तुष्ट हो गया। वह फिर अपनी किताब पढ़ने लग गया···

कालेज में अभी छुट्टी हुई थी। लड़के निकल कर अपने-अपने घरों की

महीने हो गये थे। कई कारणों से लियोन को घर छोड कर छिप कर रहना पडता था, क्योकि उसके वारण्ट जारी हो चुके थे। वह कालेज तो छोड ही चुका था, अब नगर छोड कर जाने को बाध्य हुआ था।

तीनो मित्र एक छोटे बगीचे मे बैठे हुए थे। लियोन ने अपने जाने की बात सुना कर पूछा, "मैक्सिम, तुम अब क्या करोगे ?"

"मैं तो तुम्हारे साथ जाऊँगा।"

"नही, तुम यही रहो। एण्टन की सहायता करते रहना। उसे तुम्हारी मदद की बहुत जरूरत रहेगी। और तुम अभी तक सुरक्षित हो, क्यो मेरे साथ जाओगे ? जब तक सुरक्षित रह कर काम कर सको, करो, व्यर्थ अपनी शक्ति कम कर देने से क्या लाभ ? हाँ, अगर तुम्हारे भी वारण्ट निकले होते, तब दूसरी बात थी। क्यो, एण्टन ! तुम इसे अपने साथ रखोगे ?"

एण्टन ने दूसरी ओर देखते हुए कहा, "जो काम मैक्सिम मेरे साथ करता है, उसे मैं दूने उत्साह से करता हूँ।"

मैक्सिम फिर लियोन की ओर उन्मुख हो कर बोला, "एक और बात भी है। घर पर मेरा रहना असम्भव हो रहा है।"

एण्टन ने आग्रह से कहा, "तो फिर मेरे पास आ जाना। मेरे स्टूडियो मे बडे आराम से रह सकोगे।"

मैक्सिम ने उत्तर नही दिया। किन्तु उस का मौन स्वीकृति सूचक नही था।

एण्टन ने फिर कहा, "अब पहले की-सी हालत नही है। मैं अपनी चीजो से काफी कुछ कमा लेता हूँ। और मेरी माँ भी प्रसन्न होगी। अगर हमारी हालत खराब भी होती, तो भी "मैक्सिम, तुम आ जाओगे न ?"

मैक्सिम ने कुछ हठ के साथ कहा, "मैं तो लियोन के साथ जाऊँगा। नही तो वह भी यही रह जाय।"

एण्टन चुप हो गया। लियोन ने कुछ हँस कर कहा, 'मैक्स, तुम बडे जिद्दी हो।"

मैक्सिम ने समझ लिया कि लियोन उसे साथ ले जायगा। उस के मुख पर प्रसन्नता झलक गयी।

सन्ध्या के बुझते हुए प्रकाश मे वोल्गा-तटस्थ जारेव नगर के आसपास की दलदल के प्रदेश में बीच से लथपथ दो युवक भागे जा रहे थे · उन दोनो के हाथ मे बन्दूकें थी, किन्तु उन के मुख पर शिकारी का हिंसा-भाव नही था बल्कि शिकार का त्रस्त, वेदना-पूर्ण भाव ··

उन के पीछे कुछ दूर पर मशालें लिये हुए अनेक सैनिक आ रहे थे, बीच-बीच मे कोई रुक कर बन्दूक से फ़ायर करता और फिर आगे बढा चला आता ·

एकाएक भागते हुए दो व्यक्तियो मे से एक लडखडा कर गिरा । गिरते हुए बोला, "एण्टन ! तुम निकल जाओ ! मैं तो · "

दूसरा व्यक्ति रुका और बोला, "मैक्सिम !"

कोई उत्तर नही मिला । एण्टन ने हाथ से बन्दूक फेंक दी और पीठ पर मैक्सिम को उठा कर दौडने लगा । एक बार अस्पष्ट स्वर मे बोला, "मैक्सिम, तुम्हें छोड कर कैसे · " और फिर उन्मत्त, बेरोक, मशीन की तरह दौडता गया । उस के शरीर मे मानो कोई दैवी शक्ति आ गयी थी, उस की आँखो मे दैवी तेज धधक रहा था, और शायद उस के अन्तस्तल मे ·

दलदल धीरे-धीरे पक्की धरती का रूप धारण कर रही थी । थोडी देर मे एण्टन बिलकुल सूखी ज़मीन पर पहुँच गया । उस ने घूम कर देखा, सैनिकों की मशालें कहीं नही दीख पडती थीं । वह फिर आगे बढने लगा, और थोडी देर मे एक छोटे-से हरियाली-भरे और सुरक्षित स्थान मे पहुँच गया । यहाँ उस ने मैक्सिम को भूमि पर लिटा दिया और धीरे-धीरे उस का शरीर टटोलने लगा । गोली मैक्सिम की टाँग मे लगी थी । एण्टन ने अपना कोट उतारा, फिर कमीज़, और उस के चिथडे करके पट्टियाँ बनायी । इन से उसने घाव को बाँध दिया । फिर कोट की जेब मे उस ने एक छोटा-सा फ्लास्क निकाला और मैक्सिम का मुख खोल कर उससे लगा दिया ।

मैक्सिम को इतना भी होश नही था कि फ्लास्क से ब्राडी का एक घूँट भर ले । किन्तु ब्राडी धीरे-धीरे उस के गले के नीचे उतर गयी । उस का शरीर कुछ काँपा, फिर उस ने बहुत क्षीण स्वर मे पुकारा, "लियोन !"

एण्टन बडी व्यग्रता से उस के मुख की ओर देख रहा था । मैक्सिम की पुकार सुन कर उस ने एक लम्बी साँस ली; और चुप हो रहा ।

मैक्सिम ने फिर पुकारा, "लियोन, कहाँ हो ?"

एण्टन ने धीरे से कहा, "मैक्सिम, यह मैं हूँ एण्टन ।"

मैक्सिम ने आँखें खोली। बोला, "लियोन कहाँ गया ?"

"लियोन पहले ही बचकर निकल गया था, अब तक तो जारेब पहुँच गया होगा। तुम्हारी चोट कैसी है ?"

मैक्सिम कुछ नही बोला। बहुत देर तक दोनो चुप रहे। फिर एण्टन ही बोला, "मैक्सिम !"

"क्या है ?"

"लियोन तो बच गया है, तुम उदास क्यो होते हो ?"

"लियोन निकल गया होगा, मुझे इसी की खुशी है। अब तुम क्या करोगे, एण्टन ?"

एण्टन ने सहसा उत्तर नही दिया। फिर बोला, "मैक्सिम, तुम्हारी चोट कैसी है ?"

"इतनी बुरी नही है। पर चल नही सकता।"

"तो कोई चिन्ता नही है। मैं तुम्हे उठा कर चलूँगा।"

"कहाँ ?"

"बहिन हिल्डा के गाँव।"

"बीस मील—मुझे उठा कर !"

एण्टन ने कुछ मुस्करा कर कहा, "चार मील तो अभी उठा कर लाया हूँ—दलदल मे। और फिर अब तो बन्दूको का बोझ भी नही है।"

"क्यो, वे क्या हुई ?"

"तुम्हे उठाना था, इस लिए मैंने वही फेंक दी। साथ ले तो आता, लेकिन तुम्हे उठाये निशाना तो लगा नही सकता था। इस लिए व्यर्थ था। लेकिन अभी रिवाल्वर तो है ही, कोई चिन्ता नही है।"

मैक्सिम थोडी देर चुप रहा। फिर बोला, "एण्टन, अगर तुम को सैनिक पकड लेते तो ?"

एण्टन बोला, "तो क्या तुम्हे पकडवा देता और खुद भाग निकलता ? मैक्स, तुम अभी बहुत-सी बातें नही जानते हो·· " कह कर उस ने मुँह फेर लिया।

बहुत देर तक फिर कोई नहीं बोला। फिर मैक्सिम ने मानो डरते-डरते कहा, "एण्टन, मुझे तुम्हारे प्रति कितना कृतज्ञ होना चाहिए···" कहते-कहते वह एण्टन के शरीर में एक कम्पन का अनुभव करके एकाएक रुक गया।

एण्टन ने व्यथा विकृत, भर्रायी हुई आवाज में कहा, "मैक्स ! मैक्स !" फिर बहुत धीमी आवाज में, जिसे मैक्स ने नहीं सुना, "होना चाहिए—बस, इतना ही !"

एण्टन ने बदले हुए स्वर में कहा, "मैक्स, उठो, अब चलें। नहीं तो मेरा शरीर अकड़ जायगा।"

उस ने मैक्स को फिर कन्धे पर उठाया और चल पड़ा।

किन्तु अब उसकी चाल में वह दैवी उग्रता नहीं थी।

एण्टन ने धीरे-धीरे कोठरी के सीखचों से सिर हटाया और क्षितिज पर के क्षीण आलोक को देखने लगा। धीरे-धीरे बोला, "लियोन, तुम हमारे नेता हो, मुझ से अधिक समझदार, अधिक अनुभवी, और तुम्हारे पास साधन भी बहुत हैं। लेकिन मैक्सिम भी बहुत काम कर सकता है—"

फिर एकाएक सिसक कर, "मैक्स—मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूँ"।

एण्टन दरवाज़े से हट कर टहलने लगा। ज़ंजीर फिर मुखरित हो उठी। "लियोन, मैं स्वार्थी नहीं हूँ! तुम क्या समझोगे? और वासिलीव? अगर तुम फाँसी लग गये, तो भी वासिलीव क्या समझेगा—कि मैं स्वार्थी था? पर मैक्स, तुम्हें कितनी खुशी होगी—लेकिन मेरे प्रति न जाने क्या ··तुम क्या कहोगे कि मैं अपने प्रति भी सच्चा नहीं हो सका?"

थोड़ी देर तक ज़ंजीर के स्वर के अतिरिक्त शान्ति रही। फिर एण्टन कोठरी के बीच में खड़ा हो कर बोला, "मैक्सिम, तुम गलत समझोगे·· मैक्स!" और फिर वहीं भूमि पर बैठ गया।

5

मैक्सिम आप ही आप बोला, "लियोन, अगर तुम बच जाओगे तो कितना अच्छा होगा!"

वह उस समय से उसी प्रकार कोठरी के मध्य में भूमि पर बैठा हुआ

था। किन्तु जो तूफ़ान एण्टन के अन्दर झकझोर कर रहा था, उस की शायद मैक्सिम को कल्पना भी नहीं हो सकती थी। उस के युवा हृदय में विकल्प के लिए इतना स्थान नहीं था। उस के आगे यह समस्या नहीं थी कि कौन-सा प्रेम बड़ा होता है, और कौन-सा छोड़ा जा सकता है। उसे यह नहीं देखना था कि आदर्श की रक्षा के लिए प्रिय की हत्या करनी होगी, या प्रिय की रक्षा करके स्वार्थी कहलाना पड़ेगा। एण्टन की स्थिति असम्भव थी। अगर वह मैक्सिम की रक्षा करता, तो लियोन क्या समझता? यही कि एण्टन ने औचित्य पर विचार नहीं किया, केवल अपने प्रेम पर ही? और वासिलीव··· किन्तु मैक्सिम को छोड़ देना—जो कि काम में लियोन से कम नहीं था, और इस के अतिरिक्त···

मैक्सिम ने इतनी दूर विचार नहीं किया था। उस के मन में वार-बार यही भावना उठती—एण्टन की अपेक्षा लियोन ने अधिक काम किया है। भविष्य में भी शायद लियोन ही अधिक काम करेगा। एण्टन बहुत लगन से काम करता था, पर एण्टन का परिचय उतना नहीं था जितना लियोन का। और वासिलीव भी एण्टन की सहायता नहीं कर सकता—वह देश छोड़ कर स्विटज़रलैण्ड जा रहा था—रूस में उस का रहना असम्भव हो गया था।

इस के अतिरिक्त··· किन्तु वह बात जब भी मैक्सिम के आगे आती, तो वह अपना ध्यान उस पर से हटाने की चेष्टा करता था। कभी-कभी वह बोल उठता, "नहीं, लियोन, इस लिए नहीं। केवल तुम्हारी ज़रूरत देख कर ही मैं सोचता हूँ। तुम्हारे प्रति मेरे जो भाव है, उन्हें निर्णय-कार्य में नहीं आने दूँगा!" पर फिर भी, वार-वार उस का मन कहता, 'लियोन तुम्हारा प्रिय है, उस को बचा लो!"

"एण्टन मुझे बहुत चाहता है। पर मैं क्या कर सकता हूँ? कृतज्ञता को क्या करूँ—आदर्श को कैसे भुलाऊँ?"

एक अव्यक्त कुतूहल मैक्सिम के हृदय में उमड़ रहा था। 'मार्टिनोव ने एण्टन से पूछा है? लियोन से पूछा है? वह किस का नाम बतायेगा? नहीं! मेरा?···! और एण्टन? वह शायद मेरा ही नाम बताये···'

'मेरे लिए सोचना इतना कठिन नहीं है! लियोन!'

वह अव्यक्त कुतूहल मैक्सिम के मन में घूम रहा था, किन्तु वह उद्विग्न

नहीं हो रहा था। वह कोठरी मे लेट गया, और थोडी ही देर म सो गया।

6

थाने के अन्दर कहीं घंटा बजा। एण्टन चौंका, और गिनने लगा—एक, दो, तीन, चार ... ग्यारह, बारह। वह उठा और टहलने लगा। उस के हाथ मे जो कागज पेंसिल थे, वे उस ने अपने कोट की जेब मे डाल दिये।

दरवाजा खुला। मार्टिनोव अन्दर आया और बोला, "कहो, एण्टन!"

एण्टन चुपचाप उस की ओर देखता रहा। मार्टिनोव फिर बोला, "एण्टन, निर्णय कर लिया?"

'हाँ।"

"क्या?"

'आप लियोन को छोड दें!" कह कर एण्टन ने मुँह दीवार की ओर फेर लिया।

मार्टिनोव ने पूछा, "एण्टन, तुमने यह निर्णय किस आधार पर किया, यह पूछ सकता हूँ?"

एण्टन ने कोई उत्तर नहीं दिया। मार्टिनोव थोडी देर उसकी ओर देखता रहा, फिर बोला, "यह जेब मे क्या है?"

एण्टन फिर भी कुछ नहीं बोला। मार्टिनोव ने धीरे से कागज उस की जेब म निकाल लिया और लैम्प के पास जा कर देखने लगा।

वह मैक्सिम का एक छोटा-सा चित्र था।

मार्टिनोव ने कोमल स्वर मे कहा, "एण्टन, मालूम होता है, तुमने यह निश्चय सहज ही नहीं किया।"

एण्टन ने धीरे से कहा, "शायद! पर यह अनिवार्य था।"

'यह चित्र—इसे मैं ले जाऊँ? यह एक चिह्न रह जायगा—तुम्हारा और मैक्सिम का।"

एण्टन ने भर्राई हुई आवाज मे कहा, "अच्छा।"

मार्टिनोव ने विस्मित किन्तु कोमल स्वर मे कहा, "एण्टन! यह तुम्हें शोभा नहीं देता! अच्छा, मैं जाता हूँ। ईश्वर तुम्हें शान्ति दे!" वह फिर धीरे धीरे बाहर चला गया।

जब दरवाज़ा बन्द हो गया, तब एण्टन अपने स्थान से हिला। उस ने लैम्प बुझा दिया और फिर चुपचाप नीचे लेट गया। उस के बाद उस के मन में कितने तूफान उठ कर बैठ गये—यह पता नहीं…

7

"मैक्सिम! मैक्सिम! उठो!"

मैक्सिम उठ बैठा। मार्टिनोव ने पूछा, "मैक्सिम, क्या सोचा?"

"मैंने सोच लिया है। लियोन को छोड़ दो।"

मार्टिनोव ने पूछा, "तुम ने एण्टन और लियोन की तुलना किस आधार पर की, यह बताओगे।"

"क्यों?"

'ऐसे ही। मैं पुलिस-अफसर हूँ न, मनोविज्ञान का अध्ययन करता रहता हूँ। इस के अतिरिक्त सहानुभूति होने के कारण—"

"लियोन ज़्यादा काम का आदमी है।"

मार्टिनोव ने स्थिर दृष्टि से मैक्सिम की ओर देखते हुए कहा, 'तुम जानते हो, एण्टन का क्या मत है?"

मैक्सिम ने औत्सुक्य दिखाते हुए पूछा, "क्या?"

"अब मैं तुम्हारा निर्णय सुन चुका हूँ, अब बताने में कोई हानि नहीं है। लेकिन मुझे इस की बहुत खुशी है कि तुम्हारी राय उससे मिलती है।"

मैक्सिम ने चौंक कर कहा, "क्या?"

"उस ने भी यही कहा था।"

मैक्सिम की आकृति बदल गयी। वह बहुत देर तक चुप रहा। फिर अपने आप से ही बोला, "सच…"

मार्टिनोव ने पूछा, 'मैक्सिम, क्या सोचने लग गये?'

"कुछ नहीं"

"एण्टन ने तुम्हारा एक चित्र बनाया है—यह देखो।" कह कर मार्टिनोव ने मैक्सिम की ओर बढ़ा दिया। मैक्सिम उसकी ओर देखता रहा, किन्तु उसे लेने के लिए उस ने हाथ आगे नहीं बढ़ाया। कुछ देख कर उस ने एक लम्बी साँस ली और बोला, 'झूठ! एण्टन, तुमने बहुत झूठ बोला था!"

मार्टिनोव ने चित्र हटा लिया और बोला, "क्या है, मैक्सिम ?"

"कुछ नहीं। इस वक्त आप चले जावें। मैं सोचना चाहता हूँ !"

मार्टिनोव धीरे-धीरे बाहर चला गया। उसे जाते देख मैक्सिम ने पुकार कर कहा, "सुनो, मार्टिनोव, एक बात पूछता हूँ।"

मार्टिनोव लौटा और बोला, "क्या ?"

"लियोन से भी पूछा था ?"

"क्यों ?"

"उस ने क्या राय दी थी ?"

"तुम दोनों की राय मिलती है, इस लिए लियोन की राय का महत्त्व नहीं है। इस के अतिरिक्त ··पूछ कर क्या करोगे ?"

"मैं—जानना चाहता था·· अच्छा, शायद जानने से दुःख ही हो—जाने दो···" कह कर मैक्सिम ने मुँह फेर लिया।

मार्टिनोव एक लम्बी साँस ले कर बाहर चला गया।

होगा ?"

"सन बजे···सिपाही तैयार हो रहे हैं !" फिर कुछ रुक कर "एण्टन, मेरे वश के बाहर की बात है···लियोन को ही बचा सका हूँ···"

"कुछ नहीं, चिन्ता नहीं है। मालूम होता है, मैक्सिम ने भी लियोन का नाम बताया होगा ?"

"हाँ।"

"मैं पहले ही से जानता था।"

मार्टिनोव ने ध्यान से एण्टन की ओर देख कर चाहा, उस के भाव पहचान ले। किन्तु एण्टन के चेहरे पर निरीह शान्ति का जो परदा था, उसे मार्टिनोव नहीं भेद सका।

फिर उस ने पूछा, "एण्टन, तुमने मैक्सिम का नाम क्यों नहीं लिया ?"

एण्टन ने अन्यमनस्क-सा हो कर उत्तर दिया, "किसी के मन में यह भाव उत्पन्न होने से कि रूस का एक भी क्रांतिवादी स्वार्थी है, यही अच्छा है कि हम अपने अभिन्नतम मित्र का बलिदान कर दें।"

मार्टिनोव ने कहा, "मैं नहीं समझा !"

"विवेक से बढ़ कर भी कोई प्रेरणा होती है।"

एण्टन ने इस से अधिक समझा कर कहने की जरूरत नहीं समझी। मार्टिनोव चला गया। एण्टन धीरे से बोला, "मैक्सि, तुम से क्या आशा करूँ··"

9

सूर्योदय हो रहा था। वायु बन्द हो गयी थी, किन्तु थोड़े बादल छाये थे, और धुनी हुई रुई की तरह कोमल बर्फ गिर रही थी।

थाने के पीछे, एक पर्णहीन वृक्ष के नीचे तख्तों से बँधे हुए दो व्यक्ति खड़े थे—एण्टन और मैक्सिम। उन से बीस कदम की दूरी पर आठ सिपाही बन्दूकें लिये खड़े थे और उन से कुछ दूरी पर एक सार्जेण्ट। मार्टिनोव वहाँ नहीं था। वह एक बार आ कर, करुणा-भरी दृष्टि से दोनों की ओर देख कर चला गया था।

सिपाहियों ने बन्दूकें तानी हुई थीं। मैक्सिम उन बन्दूकों की ओर देख रहा था। उस का मुख देखने से मालूम होता था कि उस ने बड़े यत्न से आँखों

को उधर फेर रखा है, मानो वह और किसी ओर देखने से डर रहा हो···

एण्टन मैक्सिम की ओर देख रहा था। उस की दृष्टि में न जाने क्या-क्या भाव छिपे हुए थे—स्नेह, व्यथा, आशा, प्रेरणा···निराशा···

उस ने पुकारा, "मैक्सिम, बोलते क्यों नहीं ?"

मैक्सिम ने उत्तर नहीं दिया। एण्टन ने फिर जल्दी-जल्दी भर्राये हुए स्वर में कहा, "मैक्सिम, मैक्सिम, तुम अन्याय कर रहे हो ! मैं अधिक नहीं कह सकता हूँ—मैंने यही देखा है कि जो चीज़ अधिक प्रिय होती है, उस की आहुति देने से उतना कष्ट नहीं होता जितना···"

मैक्सिम के मुख पर विद्रूप भाव देख कर एण्टन चुप हो गया। फिर एक विषादपूर्ण हँसी हँस कर धीरे-धीरे बोला, "तुम—कोई भी—ठीक समझेगा, ऐसी मैंने आशा भी नहीं की थी।"

सिपाहियों में कुछ जाग्रति आयी। मैक्सिम और एण्टन ने प्रतीक्षा-पूर्ण नेत्रों से उन की ओर देखा, फिर एक साथ ही बोल उठे, "रूस ! क्रान्ति चिर-जीवी हो।"

होगा ?"

"सत बजे···सिपाही तैयार हो रहे हैं !" फिर कुछ रुक कर वश के बाहर की बात है···लियोन को ही बचा सकता हूँ··"

"कुछ नही, चिन्ता नही है। मालूम होता है, मैक्सिम ने भी नाम बनाया होगा ?"

'हाँ।

"मैं पहले ही से जानता था।"

मार्टिनोव ने ध्यान से एण्टन की ओर देख कर चाहा, उस पहचान ले। किन्तु एण्टन के चेहरे पर निरीह शान्ति का जो परदा *मार्टिनोव नहीं भेद सका।*

फिर उस ने पूछा, "एण्टन, तुमने मैक्सिम का नाम क्यो नही ि

एण्टन ने अन्यमनस्क सा हो कर उत्तर दिया, 'किसी के मन म उत्पन्न होने स कि रूस का एक भी क्रातिवादी स्वार्थी है, यही अच्छ हम अपन अभिन्नतम मित्र का बलिदान कर दें।"

मार्टिनोव ने कहा, "मैं नही समझा !"

'विवेक स बढ कर भी कोई प्रेरणा होती है।"

एण्टन ने इस से अधिक समझा कर कहने की जरूरत नही सम मार्टिनोव चला गया। एण्टन धीरे से बोला, "मैक्सि, तुम से क्या आशा

9

सूर्योदय हो रहा था। वायु बन्द हो गयी थी, किन्तु थोडे। और धुनी हुई रुई की तरह कोमल वर्फ गिर रही थी।

थाने के पीछे, एक पर्णहीन वृक्ष के नीचे तख्तो से बँधे हुए द थे—एण्टन और मैक्सिम। उन से बीस कदम की दूरी पर आठ ि, *लिय खडे थे और उन से कुछ दूरी पर एक सार्जेण्ट।* मार्टिनोव व वह एक बार आ कर, करुणा भरी दृष्टि से दोनों की ओर दे गया था।

सिपाहियो ने बन्दूकें तानी हुई थी। मैक्सिम उन बन्दूको क रहा था। उस का मुख देखने मे मालूम होता था कि उस ने बडे यत्न

को उधर फेर रखा है, मानो वह और किसी ओर देखने से डर रहा हो···

एण्टन मैक्सिम की ओर देख रहा था। उस की दृष्टि में न जाने क्या-क्या भाव छिपे हुए थे—स्नेह, व्यथा, आशा, प्रेरणा···निराशा···

उस ने पुकारा, "मैक्सिम, बोलते क्यों नहीं ?"

मैक्सिम ने उत्तर नहीं दिया। एण्टन ने फिर जल्दी-जल्दी भर्राये हुए स्वर में कहा, "मैक्सिम, मैक्सिम, तुम अन्याय कर रहे हो! मैं अधिक नहीं कह सकता हूँ—मैंने यही देखा है कि जो चीज़ अधिक प्रिय होती है, उस की आहुति देने से उतना कष्ट नहीं होता जितना···"

मैक्सिम के मुख पर विद्रूप भाव देख कर एण्टन चुप हो गया। फिर एक विषादपूर्ण हँसी हँस कर धीरे-धीरे बोला, "तुम—कोई भी—ठीक समझेगा, ऐसी मैंने आशा भी नहीं की थी।"

सिपाहियों में कुछ जागृति आयी। मैक्सिम और एण्टन ने प्रतीक्षा-पूर्ण नेत्रों से उन की ओर देखा, फिर एक साथ ही बोल उठे, "रूस! क्रान्ति चिर-जीवी हो!"

पत्र पढ़ कर देवी का कोप कम हो गया। बोली, "पहुँचा दूँगी। पर समझ मे तो कुछ आया नही।"

मैंने कहा, "समझ कर क्या करोगी ? जिन का काम है वे जानें। पर सवेरे ही पहुँचा देना। शायद जवाब भी—"

सवेरे उठते ही वह भीतर चली गयी, और थोड़ी देर बाद वापस आ गयी। मैंने पूछा, "क्यो ?" उस ने बिना जवाब दिये वही चिट्ठी लौटा दी। उस के एक कोने मे लिखा था—'सुषमा शारदा को जानती है - और उस दुर्घटना को भी। विस्तार फिर।' मैंने कागज जेब म रख लिया। वह बोली, "दाम के हिसाब से काम तो कुछ भी नही था।" मैंने मन-ही-मन हँसकर कहा, "इससे हमे क्या मतलब ? हम अपना काम पूरा करते है।" कह कर मैं फिर अपनी ड्यूटी पर चला गया। कोठरियाँ खोल कर कैदियो को बाहर कारखानो मे पहुँचाना था।

सब कोठरियाँ खोल कर मैं उस की कोठरी पर पहुँचा। दरवाज़ा खोल कर मैंने कहा, "अरुण बाबू, चलो कारखाने म।' कहते कहते मैंने वह चिट्ठी उस के हाथ मे दे दी। उस ने कहा, "आज तबियत ठीक नही मै काम पर नही आऊँगा।"

"तो फिर डाक्टर को रिपोर्ट करनी होगी।'

"कर दो।"

"वे अभी यहाँ आवेंगे।" कह कर मैंने आँख से इशारा किया।

वह बोला, "हाँ-हाँ, आने दो।" और मुस्कराया। मुझे तसल्ली हो गयी कि उस ने इशारा समझ लिया है। मैं कोठरी बन्द कर डाक्टर को बुलाने चला गया।

जब मैं डाक्टर के साथ वापस आया तब वह कुछ चबा रहा था। हम देख कर जल्दी से निगल गया। मैंने मन-ही-मन कहा, "ठीक है, चिट्ठी नो गयी।"

डाक्टर ने कैदी से कहा, "ज़बान दिखाओ।"

कैदी ने ज़बान निकाल दी। डाक्टर उसे देखने को झुका और बहुत धीरे-धीरे बोला, "अगर तुम चाहो तो मैं तुम्हारी मदद कर सकता हूँ।"

कैदी ने मुस्करा कर उसी तरह धीरे-धीरे उत्तर दिया, "मेरे पास कुछ

नहीं है। और होता भी तो…"

मैं मुँह फेर कर हँसा। डाक्टर बोला, "क़ैदी बीमार नहीं है, बहाना करता है। साहब को रिपोर्ट करो।" कह कर वह चला गया।

मैंने कहा, "अरुण बाबू, तुमने अच्छा नहीं किया।"

उसने हँस कर जवाब दिया, "मुझे अब किसी की परवाह नहीं है।"

आधे घटे के बाद हेड-वार्डर और डिप्टी के साथ साहब आये। उन्हें देख कर क़ैदी उठा नहीं, वहीं बैठा रहा। साहब ने पूछा, "काम पर क्यों नहीं जाता?"

उस ने शान्त भाव से उत्तर दिया, "तबियत ठीक नहीं है।"

साहब ने कहा, "ट्वेंटी स्ट्राइप्स।" और चले गये। जाने पर मालूम हुआ—बीस बेंत का हुक्म दे गये हैं।

हेड-वार्डर उसे उसी वक्त ले गये। मैं सन्न हुआ अपनी ड्यूटी पर बैठा रहा…

आधे घटे बाद वह वापस आ गया। शरीर पर सिर्फ एक लँगोट—वह भी लहू से भीग रहा था…हाथ में अपने कपड़े लिये, अकड़ता हुआ आया और कोठरी में चला गया। हेड-वार्डर ने कहा, "बन्द कर दो।" वह हँस कर बोला, "काम पर तो नहीं गया।" हेड-वार्डर चला गया। मैं अपनी जगह जा कर बैठ गया, आज उस से बात करने की हिम्मत नहीं थी…

ग्यारह बजे ड्यूटी खत्म कर के घर पहुँचा, तो देवी मुँह लटकाये बैठी थी। मैंने पूछा, "आज उदास क्यों हो?" उसने मानो सुना ही नहीं। बोली, "आज जिस को बेंत लगे हैं, वही हैं अरुण बाबू?"

"हाँ।"

"बड़ा बाँका जवान है।"

मैंने डरते-डरते कहा, "मैं तो सदा से कहता हूँ।"

"लेकिन तुम मर्दों की अक्ल का क्या इतबार?"

मैं चुप रहा। थोड़ी देर बाद मैंने पूछा, "तुमने कहाँ देखा?"

"जब बेंत लगाने लाये थे, तब।"

"फिर?"

"साहब आये थे, इस लिए मैं सब औरतों को लिये परेड करने को अपने

छाया /

थोड़ी देर मैं चुपचाप खड़ा रहा। फिर न जाने कैसे एकाएक पूछ बैठा "बाबू, शारदा कौन है?"

पूछ कर मैं सहम-सा गया! उस ने मेरी ओर देखा और फिर धीरे से कहा, मानो अपने आप से बातें कर रहा हो, "तुमने मेरी चिट्ठी पढ़ ली?"

मैंने कुछ नहीं कहा। कहता क्या?

उस ने आप ही फिर कहा, "खैर, अब छिपाने में क्या रखा है? शारदा मेरी बहिन है!"

मैंने डरते-डरते पूछा, "तो यह—सुषमा?"

उस ने बड़ी अजीब निगाह से मेरी ओर देखा। मुझे मालूम हुआ मानो मेरा अन्दर-बाहर सब एक ही नजर में देख गया। फिर उस ने बहुत ही धीरे से कहा, 'शारदा और सुषमा—एक ही के दो नाम हैं···"

पहले मैं इस बात का पूरा मतलब ही नहीं समझा। फिर धीरे धीरे जब समझ में आने लगा तब मैंने कहा, "ऐंय!" और उठ कर बाहर चला आया। आते-आते जो आवाज़ आयी उस से मैंने जान लिया कि वह चिट्ठी फाड़-फाड़ कर खा रहा है···

बाहर वह गा रही थी—

तुझे खोजती कहाँ कहाँ पर भटकी मारी-मारी—

पर निष्ठुर, तू पास न आया, मैं रो-रोकर हारी!

मेरी ड्यूटी वहाँ से बदल कर एक महीने के लिए ड्योढ़ी में लग गयी। यहाँ से जनाना वार्ड बिलकुल पास था। सुषमा का गाना कितना साफ सुन पड़ता था! कभी-कभी जेल के क्लर्क भी शाम को आ कर बैठ जाते, और वह गाना सुन कर चुपके से चले जाते थे।···

एक दिन मैंने उस को देखा भी; भूलूँगा नहीं—ऐसी सूरत थी

वह ! बाल खुले हुए थे—तन पर चौडी लाल किनारी वाली सफेद धोती थी। बडी-बडी आँखें थी—एक बार उस ने मेरी ओर देखा—ऐसे देखा मानो मैं उस के आगे होऊँ ही न, सिर्फ खाली हवा ही हो ! —फिर भी मुझे मालूम हुआ जैसे उस ने मेरी सब करतूतो—नयी-पुरानी, अच्छी-बुरी, सभी—को खुली किताब की तरह पढ लिया हो। मुँह पर उस के हल्की-सी हँसी थी, ऐसी मानो कई सालो से वहाँ उसी तरह जमी हुई हो···

वे उसे अन्दर डिप्टी के दफ्तर मे ले गये। मैं भी दब कर पीछे खडा हो गया।

डिप्टी ने वारट देख कर कहा, "हैं ?" फिर कुछ रुक कर पूछा, "अपील करोगी ?"

उस ने हँस कर कहा, "नही।"

डिप्टी ने दया से उस की ओर देखा, फिर कहा, "ले जाओ।"

सिपाही चले गये। थोडी देर बाद मेट्रन आयी उसे अन्दर ले जाने को। मैं उस वक्त तक चुपचाप उसी की ओर देख रहा था—मेट्रन के आने पर मैंने मुँह फेर लिया।

मेट्रन ने उस से पूछा, "क्यो, सुषमा, क्या हुआ ?"

"कुछ नही, फाँसी की सजा दी गयी है।"

"हैं।"

मैंने चुपचाप अन्दर का दरवाजा खोल दिया···वे दोनो अन्दर चली गयी···मैंने देखा, मेट्रन की आँखो मे भी आँसू है···

उस दिन सुषमा का गाना नही सुन पडा। उस के दूसरे दिन भी नहीं। पर तीसरे दिन···तीसरे दिन उस ने नया गाना गाया··गाना क्या था, एक चिनगारी थी··एक जलता हुआ सन्देश था—न जाने किस को···

दीप बुझेगा पर दीपन की स्मृति को कहाँ बुझाओगे ?
तारें वीणा की टूटेंगी—लय को कहाँ दबाओगे ?
फूल कुचल दोगे तो भी सौरभ को कहाँ छिपाओगे ?
मैं तो चली चली अब, पर तुम क्यो कर मुझे भुलाओगे ?
तारागण के कम्पन मे तुम मेरे आँसू देखोगे,
सलिला की कलकल-ध्वनि मे तुम मेरा रोना लेखोगे।

पुष्पों मे, परिमल समीर मे, व्याप्त मुझी को पाओगे—
मैं तो चली चली पर प्रियवर ! क्यो कर मुझे भुलाओगे ?

इस के बाद वह रोज यही गाना गाने लगी…अपील की मियाद के सात दिन पूरे हो गये, उस ने अपील नही की…फिर एक दिन सुना, मैजिस्ट्रेट आकर तारीख दे गये हैं— चौदह दिन बाद फाँसी हो जायेगी…

मेरी ड्यूटी ड्योढ़ी पर थी—मैं अन्दर नही जा पाता था। मेट्रन जाती थी, पर सुषमा 'कोठीबन्द' थी, वहाँ वह भी नही जा पाती थी। कई बार जी मे होता, जा कर अरुण को या उसे देख आऊँ, पर ड्योढ़ी की ड्यूटी का एक हफ्ता-भर बाकी था। मैं जलता, छटपटाता, मन मसोस कर रह जाता…

आखिर मेरी बदली हो ही गयी। पर जब मैं उसकी कोठरी के पास ड्यूटी पर पहुँचा, तो आगे जाने की हिम्मत नही हुई। वह सुषमा का हाल पूछेगा—तो मैं क्या कहूँगा ?

पर एक जगह बैठा भी नही गया। मैं धीरे-धीरे टहलने लगा। उस ने मुझे देख लिया और पुकारा "मँगतू !"

मैं चुपचाप उस के पास चला आया। उस ने पूछा, 'कहो, "कैसा हाल है ?"

मैंने अनमने-से हो कर कहा, "अच्छा है।"

उस ने फिर पूछा—"उदास क्यो हो ?"

मैंने जवाब नही दिया।

"उस सुषमा की भी कोई खबर है ?"

मैंने फिर कुछ नही कहा। 'नही' कहता तो कैसे और बताता तो क्या ? सिर्फ एक बार उस की ओर देख दिया।

वह मेरे मन की बात समझ गया। बोला, "उसे जो सज़ा हो गयी है, सो मुझे पता है। मैं उस के गाने से समझ गया था। कोई और खबर है ?"

मैंने धीरे-धीरे कहा, ' हाँ। उस ने अपील नही की, तारीख लग गयी है।"

"कब ?"

"अगले मगल को।"

"बस छ ही दिन ?"

"हाँ।"

इस के बाद वह बहुत देर चुपचाप रहा। कुछ सोचता रहा। फिर एक

लम्बी साँस लेकर बोला, "साहब कब आयेगा ?"

सवाल पर मुझे कुछ अचरज-सा हुआ। मैंने कहा, "सोमवार को। क्यों ?"

"या हीं। हाँ, एक चिट्ठी पहुँचाओगे ?"

"वह कोठीबन्द है, काम मुश्किल है। पर देखो, शायद दाँव लग जाये।"

उस ने एक छोटी-सी चिट्ठी दे दी। मैंने उसे जेब में डालते-डालते मन में कहा, "इस को नहीं पढ़ूँगा।"

मैं यह सोचता-सोचता घर पहुँचा कि कैसे कोठरी तक पहुँच पाऊँगा। वहाँ जा कर देखा, चूल्हा नहीं जला है—देवी गुस्से में भरी बैठी है। मैंने वर्दी उतार कर टाँगते हुए पूछा, "क्या बात है ?"

वह झुँझला कर बोली, "घर में आटा-दाल को पैसे नहीं हैं, ये लाट साहब की तरह आ कर लग गये पूछने, 'क्या बात है ?' "

मैंने डरते-डरते कहा, "अभी उस दिन तो दो रुपये दिये थे, वे क्या हुए ?"

ऐसी जगह सीधी बात का सीधा जवाब नहीं मिलता। वह और भी तेज़ हो कर बोली, "तुम तो चाहते हो, मैं डायन बन कर रहूँ, हाथ में एक-एक चूड़ी भी न हो! उस दिन आठ आने की चूड़ियाँ ले ली,—उस का भी हिसाब देना होगा कि क्या हुई! वैसे ही क्यों नहीं कहते डूब मरूँ ?"

जी में आया, कह दूँ, जा डूब मर, पर जी की बात जी में रख लेना मर्दों का काम ही है। मैं कुछ नहीं बोला। पर इस से वह शान्त नहीं हुई। बोली, "टुकुर-टुकुर देखते क्या हो ? कुछ खाने की सलाह है कि नहीं ?"

मैंने कहा, 'मेरी जेब में शायद डेढ़ पैसा है—चाहो तो ले लो।"

वह आँखें छोटी कर के मेरी ओर देखने लगी। फिर बोली, "अरुण बाबू ने जो दो रुपये दिये थे, वे क्या हुए ?"

अब मैं समझा, मामला क्या है। पर एकाएक कोई बहाना न सूझा। फिर मैंने हिचकिचा कर कहा, "हैड वार्डर ने उधार माँगे थे, मैं इनकार नहीं कर सका।"

उस ने कुछ जवाब नहीं दिया, पर साफ मालूम होता था कि उसे विश्वास नहीं हुआ।

ख़ैर, मैं पानी का लोटा ले कर बाहर मुँह हाथ धोने गया। वापस आ कर

देगा, मेरे कोट की तलाशी हो चुकी है, और वह हाथ मे एक कागज का टुकड़ा लिये खड़ी है।

मैं उस पर कम ही गुस्सा करता हूँ, पर इतनी बेहूदगी मैं नही सहार सका। मैंने पूछा, "यह क्या कर रही हो तुम ?"

औरत की जात अजीब होती है, गलती अपनी और गुस्सा दूसरो पर! बोली, "क्यो जी, यह क्या है ?"

मैंने कागज उस के हाथ मे छीन कर पढ़ा—वह चिट्ठी थी।

'सुषमा !

'दो दिन के मौन के बाद जब मैंने तुम्हे गाते सुना, तभी मैंने जान लिया था कि निर्णय हो गया है···आज पक्का पता मिल गया···

'जिस अवस्था मे तुम हो, उस मे मैं तुम्हे क्या लिखूं ? क्या सान्त्वना दूँ ? हाँ, एक बार, तुम्हे देखने का प्रयत्न करूँगा—शायद सफल होऊँ।

याद आता है, बहुत दिन हुए, एक बार तुम से होड की थी कि किस का काम पहले समाप्त होगा। उस समय मुझे पूरी आशा थी कि मेरी जीत होगी। आज मैं सोच रहा हूँ, कौन जीतेगा ? —अरुण।'

पढ़ तो मैं गया, फिर मुझे शर्म आयी—और उस पर गुस्सा। पर मैं चिट्ठी ले कर बाहर चला गया—वह न जाने क्या बडबडाती रही।

शाम को मैं भूखा ही ड्यूटी से कुछ पहले अन्दर चला गया। अभी लम्प नही जले थे, पर सूरज डूब गया था। मैंने कोठियो के दो चक्कर लगाये फिर जल्दी से उस की कोठरी पर जाकर कागज दे दिया। उस ने लेते ही कहा, "जवाब ले जाना।" मैंने कहा, "लिखो।" और हट गया। कोठियो के फिर तीन-चार चक्कर लगाये और आ गया। उस ने एक कागज़ मेरे हाथ मे दिया और बोली, "ज़बानी भी कह देना, होड के दो दिन बाकी है।" मैंने कहा, "अच्छा, नमस्कार !" उस ने कुछ अचरज से, पर हँस कर, जवाब दिया, "नमस्कार !" मैं लपक कर अपनी ड्यूटी पर चला।

पर काम नहीं बना। कोठियो के वार्डर ने पूछा "कौन है ?" मैं घबरा गया। वह चिट्ठी मेरे हाथ मे थी—मैंने जल्दी से मुँह मे डाल ली। उस ने फिर पूछा, "कौन है ?" मैंने कहा, "मैं हूँ, मगतराम वार्डर। यो ही ज़रा घूमने आ गया था—अब ड्यूटी पर जा रहा हूँ।"

"अच्छा! मैं समझा, कोई कैदी है।"

मैंने ड्यूटी पर पहुँच कर ही साँस लिया। मैं वहीं बैठा रहा। जब खूब रात हो गयी, तब अरुण बाबू ने बुलाया, "मँगतू!" मैं अन्दर चला गया। उस ने पूछा, "कहो, क्या हुआ?" मैंने कहा, "पहुँचा तो आया।" उस ने खुश हो कर कहा 'अच्छा।"

मैं वहाँ खड़ा रहा, गया नहीं। उस ने पूछा, "कुछ और बात है क्या?"

मैंने कहा, 'हाँ।"

"क्या?"

"जो जवाब लाया था—"

"जवाब भी ले आये क्या?"

"सुनो तो। जो जवाब लाया था, वह—"

"उस का क्या हुआ?"

"जब मैं आने लगा तब वार्डर ने देख कर शोर मचा दिया।"

"फिर?"

'फिर मैं वह कागज खा गया।"

वह एक फीकी-सी हँसी हँसा। फिर बोला, "मैं तुम्हें कितनी बार खतरे में डाल चुका हूँ, मँगतू!"

मैंने कहा, "वह कोई बात नहीं है, अरुण बाबू। हाँ, एक जबानी सन्देशा है।"

"क्या?"

"कहने को कहा था कि अभी होड़ के दो दिन बाकी हैं।"

"अच्छा, जाओ।"

सोमवार को साहब आये, तो उन की और अरुण बाबू की बहुत देर तक अंग्रेज़ी में बातें हुईं। मैं समझा तो कुछ नहीं, हाँ, मालूम होता था कि अरुण बाबू कुछ समझा रहा है और साहब पहले तो आनाकानी करता रहा, फिर अचम्भे में आया, फिर बोला, "आलराइट!" और डिप्टी को अंग्रेज़ी में कुछ समझा कर चला गया।

जब वे चले गये तो मैंने पूछा, "क्या बात हुई?"

वह बोला, "फाँसी देखने की इजाज़त मिल गयी।"

रात को कुछ बादल घिर आये। बरसाती नहीं, वैसे ही छोटे-छोटे सफेद टुकड़े···मैं घर में गया और चुपचाप चारपाई पर लेट गया। देवी का कोप अभी खत्म नहीं हुआ था। मुझे इस तरह उदास मुख लेटा देख शायद वह कुछ पिघली। पर रुखाई से बोली, "क्या है ?" मैंने जवाब दिया, "कल सुषमा को—" आगे नहीं बोल सका। वह चौंक कर बोली, "हैं ?" फिर मेरे पास आ कर बैठ गयी। बहुत देर तक हम चुप बैठे रहे। मैंने देखा, वह चुपचाप रो रही थी ! शायद मेरे भी आंसू आ गये थे।···

मुझे रात-भर नींद नहीं आयी। सुबह पाँच बजे, तो मैं वर्दी पहिन कर अन्दर चला गया। थोड़ी देर में साहब, मजिस्ट्रेट, डिप्टी, चीफ़ वार्डर वग़ैरह आ गये और चुपचाप कोठियों की ओर चले। मैं भी पीछे-पीछे चला। उस की कोठी पर पहुँचे तो वह उठ कर बैठी हुई धीरे-धीरे कुछ गा रही थी। साहब ने पूछा, "कुछ वसीयतनामा लिखाओगी ?" वह जोर से हँसी और बोली, "मेरे पास दो रिवाल्वर ही थे, वे सरकार ने ज़ब्त कर लिये। अब वसीयत के लिए कुछ नहीं है।"

कोठी खुली, वह बाहर चली आयी। चीफ वार्डर ने उस के हाथ पीठ के पीछे बाँध दिये। वह बराबर हँसती जा रही थी।

डिप्टी ने इशारे से मुझे बुलाया। बोला, "उस पोलिटिकल को ले आओ—हथकड़ी लगा करके लाना। समझे ?"

मैंने सलाम किया और चाबी और हथकड़ी ले कर उधर चल पड़ा।

दूर से मुझे फिर उस के गाने की आवाज आयी—

'दीप बुझेगा पर दीपन की स्मृति को कहाँ बुझाओगे ?'

मैंने अपनी जगह पहुँच कर कहा—"अरुण बाबू ! जल्दी चलो !"

वह दरवाजे के आगे खड़ा आकाश की ओर देख रहा था। मैंने दरवाजा खोला तो बाहर आ गया। मैंने कहा, "बाबू, हथकड़ी लगाने का हुक्म हुआ है।" उस ने चुपचाप दोनों हाथ बढ़ा दिये।

हम जल्दी-जल्दी फाँसी-घर की ओर चले। वहाँ पहुँच कर देखा, सब लोग एक कोने में खड़े हैं और सुषमा तख्ते पर खड़ी है। हम भी एक कोने में खड़े हो गये। सुषमा ने अरुण को देखा, उस के मुँह पर से ज़रा-सी देर के लिए मुस्कराहट चली गयी—बिजली की तरह दोनों की आँखों ने कुछ कहा, फिर सुषमा

पहले की तरह मुस्करा कर धीरे-धीरे गुनगुनाने लगी—

'दीप बुझेगा पर दीपन की स्मृति को कहाँ बुझाओगे?'

अरुण का शरीर तन गया, उसने मुट्ठियाँ बड़ी ज़ोर से बन्द कर लीं। फिर न बोला, न हिला—पत्थर की तरह खड़ा रहा···

जल्लाद सुषमा के मुँह पर टोपा पहिनाने लगा। वह बोली, "यह क्या है? मैं मुँह छिपा कर मरने नहीं आई हूँ।"

जल्लाद साहब की ओर देखने लगा। साहब ने इशारे से कहा, "मत लगाओ।"

जल्लाद ने रस्सी उठा कर गले में लगा दी, और अलग हट कर खड़ा हो गया।

सुषमा ने अरुण की ओर देख कर मुँह खोला, मानो कुछ कहने को हो, फिर रुक गयी और मुस्करा दी।

जल्लाद ने साहब की ओर देखा। साहब ने धीरे से एक उँगली उठा कर फिर नीचे झुका दी···

धड़ाम्!

तख्ता हट गया, रस्सी तन गयी···

साहब वग़ैरह जल्दी से वहाँ से हट गये, मानो शर्म से भाग गये हों···

अरुण घुटने टेक कर बैठ गया···आँखें बन्द कर लीं···मैं चुपचाप हथकड़ी पकड़े खड़ा रहा।···

आठ-दस मिनट बाद वह उठा, और सीढ़ियाँ उतर कर गड्ढे के अन्दर चला गया···

जल्लाद ने सुषमा का शरीर उतार कर नीचे लिटा दिया था, हाथ खोल दिये थे। उस के अंग नीले होने लगे थे, पर अभी अकड़े नहीं थे···

अरुण झुक कर बहुत देर तक उस के मुँह की ओर देखता रहा। फिर बहुत धीमी, काँपती आवाज़ में बोला, "शारदा, तुम्हारी जीत हुई···"

इसी वक्त डाक्टर आया। अरुण को देख कर कुछ झेंप-सा गया, फिर झुक के सुषमा की नब्ज़ देखने लगा। सिर हिला कर बोला, "हूँ। इन को दफ़्तर में ले जाओ —परमिट लेने आयी है।" यह कह कर चला गया।

अरुण भी मानो सपने में ही खड़ा हो गया। बोला—"शारदा, तुम तो

डूब गयी थी अब तुम्हारी छाया हा को लेने आयी है पब्लिक !

उस ने हाथ उठा कर एक अँगडाई-सी ली फिर मानो सपने से जाग पडा उस का चेहरा देखते-देखते बदल गया आँखें बुझ-सी गयी

भर्रायी हुई आवाज म वह बोला पब्लिक !

उस एक ही लफ्ज को सुन कर मैं काँप गया उस मे उस के जा की सारी कचोट—कई सालो की दबी हुई जलन —भरी हुई थी

वह फिर बोला पब्लिक !

फिर एक बडी डरावनी हँसी हँसा और बोला चलो !

मैंने न जा कर उसे कोठरी मे बन्द कर दिया

इस के बाद मुझ उस से बोलने म कुछ डर सा लगने लगा। मैं अपनी जगह बैठ कर ड्यूटी देता और चला जाता

एक हफ्ते बाद एक दिन सवेरे ही चीफ वाडर आया और उस स बोला ' डिप्टी साहब का हुक्म है कि आप को कारखाने मे काम पर जाना होगा

काम पर जाये डिप्टी और भाड म जाओ तुम ! मैं कोई काम वाम नही करूँगा।

चीफ वाडर चला गया। थोडी देर म डिप्टी आया और दरवाजा खुलवा कर अन्दर गया। बोला काम पर क्यो नही जाते ?

मेरी मर्जी ! मै कुली नही हूँ।

तुम कैदी हो क्यो ! कोई बडे लाट नही हो ! उस दिन के बेंत भूल गये ?

नही अच्छी तरह याद है। आप को भी बहुत दिन नही भूलगे !

मैं तुम्हारी सारी अकड निकाल दूगा !

क्या कर लगे ? बेंत लगवायेंगे ? वह मैं खा चुका हूँ बन्धिया लग वायेंगे वे भी छ महीने पहनी है फाँसी दे लीजिएगा ? वह मैं देख आया हूँ—उस मे बडा मजा है बडा !

डिप्टी ने उस का टिकट उठाया और उस पर कुछ लिख कर चला गया

मैंने ताला बन्द करते हुए पूछा अरुण बाबू यह क्या है ?

उस ने हँस कर कहा कुछ नही माफी बन्द और जब तक काम न करूँ

कोठीवन्द।"

उस दिन से वह कोठी से बाहर नहीं निकला। कभी-कभी जब मैं उसे समझाता तो वह हँस कर कहता, "मँगलू, अब तो यहीं कटेगी। काम करने की तो मैंने क़सम खा ली।"

अब मैं उस से कुछ-कुछ डरने लगा हूँ। जिस अरुण को मैं पहले जानता था—उस में और इस में कितना फ़र्क है…मैं उस की कोठरी से कुछ दूर ही बैठता हूँ और ड्यूटी पूरी कर के चला जाता हूँ… कभी-कभी उसे देख-भर लेता हूँ…

कभी-कभी गाता है। जब मैं उसे उस कोठरी के अँधेरे में बैठे धीरे-धीरे गाते सुनता हूँ…

भूला-भूला रहता, मैं भी समझा लेती मन को—
क्यों बिखराया फिर तूने आ गरीबिनी के धन को?

तब मेरे दिल में एक धक्का लगता है, मैं सोचने लग जाता हूँ, कितनी कमीनी यह नौकरी है जिस में मैं फँसा हुआ हूँ… और कैसे अजीब आदमी हैं ये पॉलिटिकल क़ैदी…

पर सब से तड़पानेवाली उस की शक्ल होती है जब बड़े सवेरे पौ फटने के वक्त वह आ कर अपनी कोठरी के दरवाज़े के सींखचे पकड़ कर बैठ जाता है और भूरे आकाश में फटे हुए दूध की तरह छोटे-छोटे सफ़ेद बादल के टुकड़ों की ओर देखता हुआ गाने लगता है—

आमि तोमार माटिर परे लूटिए रोबो,
तोमार चरण धूलाय धूल धूसर होबो।

उस वक्त उस की आवाज़ में ऐसी दबी हुई-सी आग होती है कि मेरा कलेजा दहक उठता है! मैं वहाँ से उठ कर दूर जा बैठता हूँ कि वह आवाज़ मेरे कानों तक न पहुँचे…

पर उस के कमरे से, उन गानों से, उस डरावनी हँसी से, उस खिड़की से; उस सींखों के सहारे से, और उस अजीब औरत की हँसती आँखों से हट कर जाने को जगह नहीं है… शारदा की छाया को तो पश्चिम ने पोंछ दिया, पर यह सुरमा की छाया, जो हर वक्त मेरे पास रहती है, इस से छुटकारा कहाँ है?…

दवाई ले आना।' बाहर आ कर उस ने बताया कि कोई आशा नहीं है। मैंने कहा, 'उस का हौसला तो बहुत है, जीना चाहती है', वह बोला, 'यह अच्छी बात है, पर फिर भी—'

"मैं दवाई लाया, साँस के लिए आक्सीजन लाया, बिछाने-ओढ़ने के लिए कपड़े लाया, माँ के भी और शशि के भी···और तुम्हारे दिये हुए रुपये खर्च होते गये··"

मैंने फिर तुम्हें रोक कर कहा, "क्या यही किस्सा कहना था ?" तब तुम ने उत्तर भी नहीं दिया, अधिकार-भरी मुद्रा से हाथ उठा कर मुझे रोक दिया और कहते गये। आठ साल के अभ्यास से तुम मुझे बुली करना खूब सीख गये हो! तुम फिर कहने लगे :

"चार दिन तक मैं सोया नहीं, बराबर माँ के सिरहाने बैठा रहा। बिचारी शशि···मुझ से बातें करना चाहती पर चुप हो जाती कि माँ के विश्राम में विघ्न न हो··चुपचाप मेरी ओर देखा करती—मैं कहता, दवा लाओ, पानी लाओ, आग जला कर पानी गर्म कर दो, पैर ढँक दो, तो चुपचाप वैसा कर के फिर पैताने आ कर बैठ जाती और मेरे मुँह की ओर देखा करती, बोलती भी नहीं· एक दिन मैं ने उस की दृष्टि से आहत हो कर कहा 'शशि, क्या देखती हो ? मेरी ओर ऐसे मत देखा करो, नहीं तो मैं चला जाऊँगा।' तब उस ने दूसरी ओर देखना आरम्भ किया, बोली कुछ नहीं। मैं ने फिर कहा, 'शशि, ऐसे पागल हो जाओगी, जा कर सो रहो। मैं माँ के पास बैठा हूँ।' तब वह बोली, 'और तुम नहीं सोओगे ?' मैंने फिर मना कर, धमका कर और यह वचन दे कर कि दूसरे दिन मैं सोता रहूँगा और वह जगेगी, उससे स्वीकार करा लिया। वह उसी कमरे में जमीन पर बिस्तर बिछा कर यह कह कर लेट गयी कि जरूरत हो तो उसे जगा लूँ, नहीं तो अच्छा नहीं होगा· थोड़ी देर में माँ सो गयी। उस की रुकती साँस की गति से मुझे एकाएक ध्यान हुआ कि शशि सो रही है। मैं कान लगा कर उस का नियमित श्वासोच्छ्वास सुनने को हुआ। पर उस की साँस सुन ही नहीं पड़ रही थी। न जाने मुझे क्या ध्यान हुआ, मैं उठ कर उस के पास गया। वह सोयी नहीं थी, छत की ओर दृष्टि जमाये, बड़ी-बड़ी आँखें किये रो रही थी, चुप-चाप, चुप-चाप ··मैने पूछा, 'शशि, यह क्या ?' तब उस ने आँखें बन्द कर ली। मैंने फिर पूछा तो बोली, 'माँ अच्छी हो जायेगी तो तुम चले

जाओगे'—मैं ने कहा, 'शशि, इस वक्त नहीं —मुझे अभी मत कोसो···' फिर हम दोनों चुप हो गये और वह मेरे घुटने पर हाथ रख कर सो गयी···

"दूसरे दिन माँ की तबीयत कुछ अच्छी थी, शशि भी खुश जान पड़ती थी··· सवेरे ही शशि ने मुझे कहा, 'आज तुम सोओ। कल सवेरे उठना।' मैं ने बहाना करने को कहा, 'आज बदली है, अच्छा लगता है। ठहर कर सोऊँगा', पर वह नहीं मानी। मैं जा कर लेट गया। समझा था कि नींद नहीं आयेगी, पर थोड़ी ही देर में बादलों की गड़गड़ाहट सुनते-सुनते सो गया।

"जब नींद टूटी तब शाम के पाँच बजे थे। मैंने शशि को छेड़ने की इच्छा से पूछा, 'शशि, सवेरा हो गया न, अब उठूँ?' कोई उत्तर नहीं मिला। मैंने उठ कर देखा, शशि कमरे में नहीं थी। माँ के पास गया तो देखा, सो रही है। मैंने झुक कर फिर देखा—

"माँ वहाँ नहीं थी। उन का शरीर नीला पड़ गया था, साँस बन्द थी··· जब माँ बीमार थी तब मैं जाने कहाँ घूमता रहा, और जब मैं सो रहा था तब माँ मुझे छोड़ कर चली गयी—

"मुझे याद आया कि शशि वहाँ नहीं है। मैंने पुकारा, 'शशि! शशि!' उत्तर नहीं मिला। मैं उसे ढूँढ़ने बाहर निकला—बाहर बड़े जोरों से वर्षा हो रही थी··· मैंने देखा, छोटे-से आँगन में शशि पड़ी भीग रही है और उस के माथे से खून बह कर पानी को रँग रहा है। मैं उसे उठा कर अन्दर लाया, वह बेहोश थी। मैंने उसे बिस्तर पर लिटाया, कमरे में आग जलायी और उस के हाथ-पैर मलने लगा कि होश आ जाय···

"रात तक होश नहीं हुआ। मैं चाहता था डाक्टर को बुलाऊँ, पर शशि को छोड़ कर कैसे जाता? रात को दस बजे शशि हिली, और कुछ देर में आँखें खोल कर शून्य दृष्टि से मेरी ओर देखने लगी। बोली, 'माँ'—और चुप।··· मैंने अब सिर पर गीली पट्टी बाँधी और डाक्टर बुलाने चला।

"डाक्टर ने दवाइयाँ दीं। शायद माँ के बारे में पूछना चाहता था, पर वहाँ उसे पड़ी देख कर समझ गया, और बोला, 'मुझे बहुत खेद है—' मैंने कुछ कहे बिना उसे दरवाजा दिखा दिया। वह चला गया।

"मैंने शशि को दवा पिलायी। अब उसे होश हो गया, तब मैंने पूछा, 'शशि, माँ क्या—' आगे नहीं कह सका। शशि बोली, बहुत धीरे से, 'सुनो!'

मैं और पास झुक गया। माँ ने पूछा था देव कहा है ? मैंन कहा सो रहा है जगा दू ? बोली नहीं ऐसे ही ठाक है। फिर धीरे धीरे मुस्कराने लगी। मुस्कराते मुस्कराते ही—बस ! मैंने कुछ देर बाद पूछा फिर ? तुम बाहर कैसे गयी ? वह बोली मुझ से कमरे म नहीं रहा गया। तुम्हे जगा भी नहीं सकी—तुम इतने दिन साये नही थ—बाहर ही निकल गयी फिर पता नहीं क्या हुआ

रात म शशि को वड ज़ोर का बुखार चढ आया। अभी पौ भी नहीं फटी थी कि वह अनाप-शनाप बकने लगी। मैंने बहुत शा न करने की कोशिश की पर वह यह नहीं समझती थी कि मैं उस के पास हूँ या मैं कौन हूँ। बहुत देर तक तो मैं उस होश लाने की चि ता म था अब निराश हो कर मैं उस का प्रलाप सुनन लगा

वह क्या कह रही थी ? अगर वह प्रलाप था तो पर प्रलाप मे भी कोई इतना तीखा उलाहना दे सकता है ? वह कह रही थी अब माँ अच्छी हो गयी। अब तुम चल जाओ। अब मैं भी अच्छी हू। चले जाइए। देखो तुम्हारा काम बिगड गया—

म बहुत नहीं सुन सका। मैंने ज़ोर से पुकारा शनि ! उस का प्रलाप ब द हो गया। मैं समझा कि उसे होश होने को है। मैंने फिर ज़ोर स पुकारा शशिकला ! पर वह फिर पहने की भाँति प्रलाप करन लग गयी।

मुझ स सहा नहीं गया। मैं अब तक देखता आया था सहता आया था। मा की मृत्यु स भी मेरी आखा म आसू नहीं आय थे केवल मैं और भी अधिक य त्रवत हो क र काम करने लगा था इस छोटी सी बात ने ब ध ताड दिये। मैं भूमि पर बैठ कर शशि की चारपाई की बाँही पर सिर रख क र फूट फूट कर रोन लगा

शशि जाग पडी। जो काम इतने मनाने पर भी नहीं हुआ था वह निस्सहायता की एक चीख ने कर दिया।

वह बड शा त स्वर में बोली इधर आओ। मैं पास गया तो बोली मेरे पास लेट जाओ ! मैं लेट गया। फिर बोली एक बात सुनोग ? नाराज न होना। मैंने कहा कहो। फिर मुझे आख ब द क र रने को कह कर उस ने मेरे कान म धीरे से कहा तुम चले जाओ। मैंने विस्मित हो कर पूछा कहाँ

शशि ?' उस ने और भी धीरे से कहा, 'तुम्हारे काम मे विघ्न होता होगा—मैं जानती हूँ।' मैं चौंक कर चारपाई पर उठ बैठा। मुझे मालूम हुआ कि क्षण-भर मे सब-कुछ उवल गया है—कि कुछ रहा ही नही है! मैं शून्य दृष्टि से खिडकी की ओर देखता, जडवत् बैठा रहा। शशि थोडी देर चुप रह कर कोमल स्वर मे बोली, 'नाराज हो गये न!' मैं उत्तर भी नही दे सका। मैंने केवल उस के माथे पर हाथ रख दिया—यह जताने को कि नाराज नही हूँ। उस ने मेरा हाथ अपने दोनो तप्त हाथो से बडे जोर से पकड लिया···

"वह फिर बोली, 'तुम समझते हो, मैं बिलकुल भोली हूँ। मैं सब जानती हूँ। जब माँ थी, तब मैंने कुछ नही कहा—अब कहती हूँ कि तुम अपना काम—कि अगर तुम्हारे काम मे अडचन पडती हो तो जाओ। अभी चले जाओ। बोलो, जाते हो न ?' मैंने बहुत हिम्मत कर के कहा, 'और तुम ?' वह धीरे से मुस्करायी। बोली, 'मैं अच्छी हूँ। और कहो तो जल्दी से और भी अच्छी होकर बताऊँ ?'

"मैंने अविश्वास-भरी दृष्टि से उस की ओर देखा। वह बोली, 'देखो, अब मैं शान्त हूँ। अब बोलो मत···'

"हम दोनो चुप बैठे रहे। वह स्थिर दृष्टि किये न जाने क्या देखती या सोचती रही। मैंने अनुभव किया, उस का बुखार कुछ कम हो रहा है··· सवेरा हो गया था। उस ने कहा, 'अब मैं अच्छी हूँ, तुम जाकर डाक्टर को बुला लाओगे न ?' मैंने प्रसन्न हो कर कहा, 'अच्छा।' वह फिर बोली, 'एक और बात मानो।' मैंने पूछा, 'क्या ?' 'तो बोली, 'अगर तुम्हे कही काम हो तो चले जाओ। शाम तक लौट आना।' फिर मेरे मुख की ओर देखते हुए, 'तब तक मैं बिल्कुल अच्छी हो जाऊँगी।'

"मैं शशि का-सा बुद्धिमान नही था, क्योकि मैंने उसे भोली समझा था! उस ने कैसा धोखा दिया – तुम्हारे दिये रुपयो मे से जो बचे थे, वे ले कर मैं देने चला। डाक्टर से कहता गया कि शशि को दवाई दे दें। सोचा था कि शाम तक लौट आऊँगा। और यह भी सोचता जाता था कि माँ का दाह-कर्म करना है· जिस का मुझे अब तक ध्यान नही आया था···पर जब वहाँ पहुँचा तब क्या हुआ, तुम जानते ही हो···लोग गिरफ्तार हो चुके थे, मैं भी बच ही गया—घर के चारो ओर पहरा पडा हुआ था···

"शशि ने कहा था, शाम तक लौट आऊँ। मैं शाम को नहीं लौटा —या कम से कम शशि के पास नहीं लौटा। जब सन्ध्या को छ बजे घर आया, तो देखा, शशि चुपचाप पडी है, उस के खुले नेत्र छत की ओर देख रहे हैं, मुख पर एकाग्र पीडा का भाव है "मैं उस की निश्चलता देख कर डर गया माँ की निश्चलता मुझे याद आ गयी मैं लपक कर पास गया तो शशि भी चली जा चुकी थी। उस के सिरहाने एक बोतल उल्टी पडी थी, उस पर लेबिल लगा था, 'विष'। मैंने उठा कर देखा, छाती में मलने का तेल था—यानी तैल की खाली बोतल थी—तेल कुछ लुढक गया था और कुछ…काम आ चुका था शशि के सिरहाने पर एक कागज के टुकडे पर लिखा रखा था, तुम अभी चले जाओ। मेरे कारण तुम्हारे काम में विघ्न नहीं होगा। मैं दुखी नहीं हूँ, सच्चे दिल से कहती हूँ। भगवान तुम्हे सफल करें।' बस!

"मैं परचा हाथ में लिये-लिये घर से बाहर निकला, और भागा! स्टशन पर जा कर वहाँ से चल दिया, तुम्हारे पास आने को। फिर मैं कैसे पकडा गया, और क्या हुआ यह सब तुम्हे पता है बाद में शायद पुलिस ने ही माँ और शशि का दाह कर्म किया मैं एक बार उन के जीवन से निकल आया और दूसरी बार उन की मृत्यु से, पर डर से नहीं

"हाँ, जो रुपया बचा था वह अब भी है। मैंने जमा करा दिया था, अब भी तुम मँगवा सकते हो।'

तुम चुप हो गये। सारी कहानी कह कर यह भी नहीं पूछा कि 'सुन ली?'

मैं भी नहीं बोल पाया। थोडी देर में मैं घूम कर लौटने को हुआ तब तुम ने कहा, "भइया, मैं दोषी हूँ, मुझे क्षमा कर दो!" और सिर झुकाये बैठे रहे। मैं जब कोठरी के जँगले के पास आया, तब भी वैसे ही बैठे रहे। मैंने कठोर स्वर में कहा, "उठो!" तो चुपचाप खडे हो गये। मैंने कहा 'पास आओ" तो आग आ गये। 'और पास, बिल्कुल!" तो जँगले से माथा टेक लिया। मैंने हाथ से झटक कर ठोडी ऊपर उठा दी, तब तुम आँखें ही नीची किये रहे। तब मैंने कठोरता का अभिनय छोड दिया। धीरे से आगे बढ कर, आँखें बन्द कर के तुम्हारा मुँह चूम लिया

पागल! पागल! तुम्हारा कोई ऐसा भी अपराध है जिसे मैं क्षमा न कर सकूँ—विश्वासघात के सिवाय—जिसे मैं क्षमा न कर सकूँ—

नम्बर दस



सवेरे रतन के मन मे बहुत मिठास रही हो, ऐसी बात तो नही थी, लेकिन अब शाम को वह कडवाहट से भर गया था। सवेरे और नही तो एक खुलापन तो था, मिठास के प्रति एक अनुमति-भाव कि 'ले तू आती है तो आ जा, मैं मना नहीं करता', लेकिन शाम को उस ने रस के प्रति अपने-आप को एकदम बन्द कर लिया था। और बन्द करने ही से मालिन्य और भी बढ़ता जा रहा था। जैसे आग खुली हो तो जल लेती है, लेकिन बन्द कर दी जाय तो खूब धुआँ देने लगती है।

रतन का दिन बहुत लम्बा बीता था। सवेरे जिस समय वह जेल से निकला, उस समय से वह दर-दर, गली-गली, चौक-मुहल्ले फिर आया था, कहीं उस का रुकने को मन नहीं हुआ था —कहीं उस ने ऐसी जगह ही नहीं पायी थी जहाँ वह रुक सके। चलते-चलते वह थक गया था, लेकिन उन कागज के खिलौनों की तरह, जो भीतर के जलते दिये के धुएँ से घूमते जाते है, वह भी अनथक घूमता जा रहा था। उस के भीतर एक अभूतपूर्व सघर्ष हो रहा था जैसा कि जेल मे कभी नही हुआ था —एक ओर उस के मन में आवाज उठ रही थी,' मैं जेल मे नही हूँ,' और दूसरी ओर एक प्रतिध्वनि-सी, जो असली ध्वनि से भी तीखी ही थी, पुकार उठती थी, 'तुम सज़ायाफ्ता चोर हो, सज़ायाफ्ता चोर हो' और इस दुहरी मार से पिटता हुआ वह रुक नही सकता था, और भटकता जा रहा था, भटकता जा रहा था ··

सूर्यास्त के समय के करीब वह जमुना के किनारे एक घाट पर पहुँच गया। अपने आगे उसे चमकते हुए पानी का विस्तार देख कर मन मे, दिन-भर मे पहली बार, कुछ ऐसा बोध हुआ कि वह दुनिया से आ नही गया है, उस से उस का कुछ नाता भी है···

वह क्षण-भर के लिए रुक गया। तब जैसे आस-पास की दुनिया धीरे-धीरे उस के भीतर प्रवेश करने लगी, और उस के भीतर का धुआँ कुछ-कुछ फूट निकलने लगा। वह घाट की सीढ़ी पर बैठ गया।

फरवरी के दिन थे। शीत की कठोरता का ज़माना बीत चुका था और विकल्प का ज़माना आ गया था, जिस मे कभी वह कठोर होने की इच्छा से भर कर धुँधला हो जाता था, कभी मृदुता के आवेश मे हल्की-सी पीली धूप से निखर-सा आता था। रतन के देखते-देखते नदी के ऊपर एक धुन्ध छाने लगी और धीरे-धीरे आगे बढने लगी। कुछ देर मे उसी बादल मे सूर्य ने उदास हो कर मुँह छिपा लिया। बादल मे अरुणाई नही आयी, एक श्वेत परदा-सा आकाश पर तन गया, और उस के ऊपर जमुना-किनारे की एक मिल की चिमनी से उठता हुआ धुआँ कुछ लिखत लिखने लगा।

देखते हुए रतन को वह लिखत अच्छी नही लगी। उसे लगा कि जिस तरह यह उस परदे की स्वच्छता को बिगाड रही है, उसी तरह पृथ्वी को भी मानव की लिखत ने बिगाड रखा है। नही तो जेल क्यो होते?

फिर एक कडवाहट की बाढ-सी आयी और रतन उसमे डूबने-उतराने लगा। उसे याद आया कि जेल से बाहर आते समय जब उस से पूछा गया था कि उस का घर कहाँ है, ताकि उसे लौटने के लिए पैसे दिये जायें, तब उस ने पैसे लेने से इनकार कर दिया था। उसे लगा था कि जिस ने उसे सज़ा दी थी, उसी सगठन से पैसे ले कर वह घर जायगा, तो घर जिस के पास जा रहा है उसे मुँह दिखाने लायक नही रहेगा। उस सगठन के प्रति उस के मन मे जलन थी। चोरी उस ने अवश्य की थी, लेकिन अभी तक अपने को अपराधी वह नहीं मान पाया था। चोरी करते समय उस के मन मे से कभी भी यह बात ओझल नही हुई थी कि वह चोरी कर रहा है। पर यह जानते हुए भी कि चोरी अनुचित है, वह यह भी देख रहा था कि रुपया लेना अनुचित नही है, और जरूरी भी है, और उसे नही मिल रहा है, यद्यपि वह उस के बदले मे अपना पसीना देने को तैयार है। बल्कि, उस दिन तो वह अपना खून देने के लिए भी तैयार था···

तब? आज जब उसे रुपये मिल रहे थे, तब उस ने क्यो नही लिये? क्यो नही लिये? आज क्या उसे कुछ कम जरूरत है? और क्या आज उन का

मिलना कुछ अधिक आसान है जब कि वह 'सजायाफ्ता चोर' की उपाधि पा चुका है ?

उस बात को छ महीने हो गये। छ महीने पहले उस की बहिन यशोदा बहुत बीमार थी। थी—क्यो कि अब पता नही वह कैसी है— है भी या नही। उसे बचाने के लिए बेकार रतन ने भरसक कोशिश की थी, और अन्त मे अपनी जमा की हुई पूँजी खत्म पा कर हर तरह के काम के लिए हर तरह के यत्न किये थे जब उसे कोई काम नही मिला— दवा की कीमत पाने का कोई साधन नही मिला—तब उस ने अपनी बुद्धि के आसरे कुछ पा लेने की कोशिश की, तो क्या बुरा किया ? उस ने अपनी बहिन की रक्षा के लिए रुपये चुराये, सो भी ऐसे आदमी के, जिस के लिए उतने रुपये खो देना कोई बडी बात नही थी। तब ?

हो सकता है कि उस का यह मोह ही गलत रहा हो। वह कौन होता है बहिन की रक्षा के लिए अपने को जिम्मेदार समझने वाला ? खुदा ने जिस को बनाया है, उस को जिलायेगा भी। नही भी जिलायेगा तो उन का स्थान लेने के लिए और बना देगा। रतन खुदा का काम हथियाने वाला कौन, और हथिया कर वह कितनो को दवा दारू पहुँचा सकेगा ? बहुत-से लोग बिना दवा के मरेंगे, बहुत से बिना रोटी के मरेंगे, बहुत से बिना कपडो के मरेंगे, बहुत-से बिना किसी वजह के यो ही मर जायेंगे। क्यो रतन यह दम्भ करे कि उस की बहिन बचने की ज्यादा अधिकारिणी है ?

क्यो नही करे वह दम्भ ? उस की बहिन है। दूसरो के भी जो भाई है, वे उन के लिए दम्भ करें।

लेकिन जिन का कोई नही है ··

सरकार ? लेकिन सरकार ने किसी के रुपये की रक्षा का दम्भ तो किया ही है, तब तो सरकार ठीक है, और वह · वह भी ठीक ·

लेकिन—मैं ठीक हूँ तो सरकार भी ठीक है। मैं नही 'हूँ' तो सरकार भी नही। यानी मैं चोर नही हूँ, तो चोर हूँ, और चोर हूँ, तो नही हूँ। पागल हूँ मै ! जेल ने दिमाग खराब कर दिया है।

लेकिन पागल कहने से छुट्टी मिल जाती है ? मैंने सवेरे वे रुपये क्यो नही लिये ? जिस ममता की बात सोच रहा हूँ, उस की रक्षा क्या उसी तरह

नही होती ? यशोदा शायद जीती है—शायद बाट देख रही है। उस ने दिन गिने होंगे, और आज शायद · और उस बेवकूफ ने झूठे अहंकार में रुपये नहीं लिये, और

अँधेरा हो चला था। घाट पर जो एक-आध आदमी आता-जाता भी था, वह भी अब बन्द हो गया था। घाट बिल्कुल सूना था। आसपास मन्दिरों में घंटे बज रहे थे। कहीं-कहीं दियों का क्षीण प्रकाश भी झलक जाता था···

पहले तो घंटा-नाद रतन को बहुत खटका था। लेकिन धीरे-धीरे वह कुछ आकृष्ट-सा हुआ—उसे उस स्वर में एक विचित्र चीज़ मालूम हुई। ये घंटे दिन और रात न जाने कब से ऐसे ही बजते आते हैं, इसी स्वर से, इसी गूँज से, इसी सम्पूर्ण तन्मयता से और इसी उपेक्षा से ··कोई मरता है, कोई पैदा होता है, कोई मिलता है, कोई बिछुड़ता है, पर इन में कोई फर्क नहीं होता, ये वैसे ही गूँजते रहते हैं ये प्रार्थना के घंटे हैं—और प्रार्थना के जो मन्त्र कभी गये जमाने में दुहराये जाते थे, वही आज भी हैं। हमारी जरूरतें क्यों नहीं बदलती हैं ? ईश्वर क्यों नहीं बदला है ?

लेकिन यशोदा वहाँ बैठी है। और मैं यहाँ हूँ—मैंने उस के लिए चोरी भी की थी, लेकिन मिलता हुआ रुपया नहीं लिया। और यहाँ बैठा हुआ ईश्वर की बात सोच रहा हूँ। क्या मैं यशोदा के पास जाना नहीं चाहता ? क्या मैं ईश्वर के पास जाना चाहता हूँ ?

ये घंटे जड़ हैं, मैं जीता हूँ। तभी इन का स्वर नहीं बदलता।

मैं क्या जीता हूँ ? यशोदा के लिए मैं जेल गया था, लेकिन अब यहाँ बैठा हूँ, दिन-भर में एक बार भी मैंने नहीं सोचा है कि उस के पास लौटूं। क्या यह जीना है ?

मैं स्वाधीन कहाँ हूँ ? अब भी जेल में हूँ ? चाह कर भी मैं नहीं जा सकता उस के पास। रेल में पकड़ा जाऊँगा, तो फिर वही जेल। मैं जेल से डरता नहीं, मैं अपराधी नहीं हूँ। पर···

जीना। घंटे। जड़ता। मैं भी जीता न होता, तो इतना निकम्मा न होता। इतना परवश, विवश। मरना छुटकारा है।

इस एक शब्द पर आ कर रतन का मन अटक गया—छुटकारा ! छुटकारा !!

जहां वह बैठा था, वहां धुंध घनी हो चली थी। आकाश में किसी तरह का प्रकाश नहीं था, इस लिए नदी का पानी भी अब तक नहीं दीख रहा था। रतन धीरे-धीरे घाट की सीढ़ियाँ उतरने लगा। पानी के तल से दो तीन सीढ़ी ऊपर ही, जब उसे सील-सी मालूम हुई, तब उस ने ध्यान से नीचे देखा और जाना कि कुछ ही आगे जमुना का पानी बहा चला जा रहा है। घाट को नि शब्द स्वर से छूता है और आगे बढ़ जाता है। मानो वह जाता है, 'लो, मैं मेहमान बन कर आया तो हूँ, लेकिन तुम्हारी शान्ति भंग नहीं करता, मिल तो लिया ही, अब जाता हूँ।' और प्रणत प्रणाम करता हुआ चल देता है।

और एक हम हैं कि आते हैं तब रोना चिल्लाना और दर्द, जाते हैं तब रोना पीटना और तड़पन, रहते हैं तब भीकना-कलपना और हो-हल्ला।

और जलखाने और पगली घंटी। और हथकड़ियाँ, बेड़ियाँ, और पैंस की कमी। और

छुटकारा। छुटकारा।

यशोदा वहाँ है—थी। है या थी, इस से मुझे क्या? मैं वहाँ नहीं जा सकता हूँ, उस के लिए कुछ नहीं कर सकता हूँ।

क्या जी रहा हूँ मैं?

और उसे लगा, जमुना भी अपनी बड़ी-बड़ी काली आँखें खोले उस की ओर विस्मय से देख रही है, मानो कह रही है हाँ, मैं भी तो सोच रही हूँ कि क्यों जी रहे हो तुम

छुटकारा •

रतन उठ कर दो सीढ़ी और उतरा। अगली सीढ़ी पर पानी था। वह अपना फटा जूता उतारने को हुआ कि पानी में पैर डाले, फिर एकदम से उस जूता उतारने के मोह पर हँसी भी आयी और वह जूतों-समेत दो सीढ़ियाँ और उतर गया।

बहुत ठंडा था पानी। लेकिन रतन का ध्यान उधर गया ही नहीं। वह घंटा नाद सुनता जाता था और प्रत्येक चोट पर उस एक आकर्षक शब्द को दुहराता जाता था—छुटकारा, छुटकारा।

एक सीढ़ी और उतर कर वह ठिठक गया। क्या यह छुटकारा है—सच-मुच छुटकारा है? मेरी चोरी की सजा धुल जायगी? किसी का भी कोई भी

बन्धन ढीला हो जायगा ?

मुझे किसी के बन्धन से क्या ? मरना तो है ही मुझे। डूब मरूँगा, तो कोई पूछेगा नहीं। किसी को क्या ?···पूछेगा तो। हाज़िरी नहीं दूँगा, तब खोज होगी। तब ·

एकदम से उसे याद आया, जब वह जेल मे छूटा था, तब उसे आज्ञा दी गयी थी कि पुलिस मे नाम लिखाये और हफ्ते मे एक दिन रिपोर्ट दिया करे। वह थाने गया था। बाहर ही एक मुटियल बूढे सिपाही ने उसे टोका था और यह जान कर कि रतन अपना नाम दस नम्बर म लिखाने आया है उसे नसीहत देनी शुरू की थी। रतन वह नही सह सका था, और झल्लाये स्वर म वह उठा था, "तुम्हे मतलब ? तुम अपना काम देखो। मैं रिपोर्ट न दूँ तब जी मे आये सो करना। अभी अपनी नसीहत रखो अपने पास।" इस गुस्ताखी से कुछ चकित और कुछ क्रुद्ध कास्टेबल ने अपनी बुच्ची दाढी हिला कर अनुभव से भारी स्वर मे कहा था, "ऐं है ! ये नखरे ! तब तो जल्द ही आओगे जल्दी।"

जल्दी। कहाँ आऊँगा ?

डूब कर मर जाऊँगा तो खोज होगी। लाश मिलेगी, तो किसी के दिल मे दर्द होगा ? दुनिया जानेगी, तो कहेगी 'अजी होगा। दस नम्बरिया बदमाश था साला। मर गया, अच्छा हुआ। कही इधर उधर आँख लड गयी होगी, काम नही बना होगा, बस। बदमाशो के हौसला थोडे ही होता है।'

इतना-भर दुनिया उसे देगी। इतना भी खूसट कजूस की तरह घिसघिस कर के।

इसी दुनिया के लिए मैं इतनी फिक्र मे पडा हूँ—इसी के लिए मर रहा हूँ ? इसी हृदयहीन दुनिया के लिए मैं अपने जिगर का खून दे रहा हूँ ?

ऐसी-की-तैसी दुनिया की ! सोच ही सब रोगो की जड है, वही तो है जिस से छुटकारा लेना चाहिए। पाप पुण्य क्या है ? सोचें तो चोरी है सोचें तो ठीक है। सब चोर हैं, सब भले हैं।

आज मैंने दस चोरियाँ और की होती—कौन कह सकता है कि पकडा ही जाता ? घर भी जाता, यशोदा से भी मिलता, जो जी म आता करता—न होता तो जेल ही तो आता, जहाँ हो आया हूँ ? जैसा अब हूँ, इस स जेल क्या बुरी है ?

रतन दृढ़ कदमों से घाट की सीढ़ियाँ चढ़ने लगा। मन का बोझा इतना हल्का हो गया था कि वह अपने पैरों की चाप के साथ-साथ ताल दे कर कहने लगा, "ऐसी-तैसी दुनिया की!"

घाट के ऊपर तक पहुँचते-पहुँचते उस ने तय कर लिया था कि वह फिर चोरी करेगा, और फिर जेल जायगा। पहली बार चोरी करने के लिए जेल गया था, अब की बार जेल जाने के लिए चोरी करेगा।

2

तब शायद साढ़े बारह बजे थे। रतन अपनी गाढ़े की धोती से फाड़े हुए एक टुकड़े में कुछ नोट और कुछ रुपये बाँधे उस छोटी-सी पोटली को एक मुट्ठी में मज़बूती से थामे हुए, दूसरे हाथ में जूते उठाये, एक ऊँचे घर की दीवार के साथ सटता हुआ दबे-पैर एक ओर को हट रहा था।

दूर कहीं आधा घंटा धड़का टन्-ढम्। सरदी की धुँधली रात में उस स्वर ने रतन को चौंका दिया। उस के बाद ही उसे लगा कि पास कहीं खटका हो रहा है। शायद लोग जाग उठे हैं। शायद अभी उस की चोरी पकड़ी जायगी। शायद ·

वह लपक कर सड़क के पार हो लिया। वहाँ एक छोटी-सी झोंपड़ी थी, जिस के छोटे-से झरोखे में टिमटिमाती-सी रोशनी बाहर झाँकने की कोशिश कर रही थी। रतन जानता था कि प्रकाश की ओट में अँधेरा अधिक मालूम होता है, वहाँ पड़ी चीज़ दिखती नहीं, इस लिए वह उस झरोखे से ज़रा आगे बढ़ कर ही, फूस के छप्पर के नीचे दबक कर बैठ रहा।

पहले तो उसे लगा कि वह यों ही डर गया। अपने हृदय की धक्-धक् के सिवाय कोई स्वर उसे नहीं सुन पड़ा। लेकिन बैठे-बैठे जब वह धड़कन ज़रा कम हुई तब उसे जान पड़ा कि सचमुच कहीं कोलाहल हो रहा है। पर वह बहुत दूर पर है, जिस मकान में रतन ने चोरी की है उस से बहुत आगे कहीं। उस शोर का रतन से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

पर—यह स्वर तो बहुत पास नहीं है। रतन ने सुनने की कोशिश की कि वह किधर से आ रहा है, पर ऐसा लगता था, मानो सभी ओर से धीरे-धीरे की जा रही बातचीत का स्वर आ रहा हो—कोई खास दिशा उस की

जान नहीं पड रही थी

क्या मैं सो तो नही रहा — स्वप्न तो नहीं देख रहा ? रतन ने अपने को कुछ हिलाया जरा आगे बढ कर झरोखे के बिल्कुल पास आ कर आगे देखने की कोशिश करने लगा।

आगे झुकते हीं स्वर साफ हो गया रतन ने जान लिया कि वह झरोखे म स होता हुआ झापडी के भीतर स आ रहा है। और वह बिना खास चेष्टा किय हुए भी उसे ध्यान स सुनने लगा।

एक पुरुष का स्वर जो अपने स ही बात करता मालूम होता है। उस स्वर म दु ख है निराशा है थोडी सी कुढन भी है।

मैं और क्या करूँ अब। अब तो उधार भी नहीं मिलता। खाने मिलते है सो अलग।

थोडी दर बाद एक दूसरा स्वर—क्षीण कुछ उदास लेकिन साथ ही जैसे एक वात्सल्य भाव लिये तुम भी क्यो फिक्र किये जाते हो ? ऐसे तो तुम भी बीमार हो जाओगे। मेरी दवा का क्या है ? सरकारी अस्पताल से ले आया करो — वहाँ तो मुफ्त मिल जाती है।

पिछली बार वही स तो लाया था। पर फायदा नही होता। हो कैसे डाक्टर देख मरीज़ को तब न दवा हो ? वह यहाँ आता नही बुलाने को पैसे नहीं है।

डाक्टर का बुला कर क्या होगा। अब तो मुझे मरना ही है। मेरे करम ही खोटे थे—तुम्हारी सेवा तो की नही उलटे दु ख इतना दिया। यही था तो पहले ही मर जाती तुम्हे इतना तग भी न करती और —

ऐसी बात मत करो प्रभा। मैं —

काफी देर तक मौन रहा। आगे कुछ बात हो इस की प्रतीक्षा मे बैठे-बैठे रतन जब ऊब गया तब उस ने झरोखे के और पास सरक कर भीतर झाका। एक ही झाकी म भीतर का दृश्य देख कर वह एकदम से पीछे हट गया—डर कर नहा कुछ सहमा हुआ सा

एक टुटियल चारपाई पर एक स्त्री लेटी हुई थी। उस का सब शरीर और चारपाई का काफी सा हिस्सा एक मैली लाल गाढे की रजाई से ढका हुआ था केवल नाक और सिर बाहर दीखते थे। नाक की पीली पडी हुई त्वचा

प्रकाश में अजब तरह से चमक रही थी। पीछे हटाये हुए बहुत रूखे और उलझे हुए बालों के भूरेपन के कारण माथा बहुत सफेद और बहुत चौड़ा लग रहा था। और आँखें—आँखें एक स्थिर, खुली, अर्थभरी दृष्टि से सिरहाने बैठे पुष्प के मुँह पर लगी हुई थीं।

और पुष्प उस स्त्री के सिर के पास, दोनों पैर समेट कर चारपाई की बाँहीं पर बैठा हुआ था। एक हाथ उस का घुटनों पर था जिस पर उस ने ठोडी टेक रखी थी, दूसरा जैसे निरुद्देश्य, भूला हुआ-सा, स्त्री के सिरहाने पड़ा हुआ था।

रतन सहमा हुआ-सा बैठा था। उस का मन न जाने कहाँ-कहाँ दौड़ने लगा था, बिजली के तीव्र वेग से, पर बाहर से वह बहुत शान्त स्तब्ध-सा हो गया था। जैसे लट्टू जब बहुत तेज़ी से घूमता है तब धुरी पर बिलकुल स्थिर हो जाता है, वैसे ही रतन का मन अतीत और भविष्यत् में पागल-सा भटकता हुआ एक धुरी पर स्थिर हो गया था—उस स्त्री प्रेमा की आँखों पर, जिस में मानो सरस्वती बस रही थी—इतनी अर्थपूर्ण हो रही थीं वे···

उस सारगर्भित मौन में रतन ने एक लम्बी साँस की आवाज सुनी। उस के बाद फौरन ही पुष्प का स्वर आया—अब पहले-सा शिथिल नहीं, अब जैसे प्रबल आवेग से भरा हुआ, गूँजता हुआ-सा—

'प्रेमा, कभी जी में आता है कहीं डाका डालूँ—ये जो पडोस में मोटे लाला लोग रहते हैं, इन को मार डालूँ और इन की हवेलियाँ लूट लूँ—या उस सरकारी डाक्टर को चुटिया पकड़ कर घसीट लाऊँ, जिसने आने की बात पर अकड़ कर कहा था कि सरकारी डाक्टर कोई रास्ते की धूल नहीं है जो हर कोई उठा ले जाये। कभी सोचता हूँ कि · लेकिन फिर खयाल आता है, जो लोग सरकारी डाक्टर को बुला सकते हैं, वे भी तो कभी कुढ़ते होंगे कि विलायत से डाक्टर बुला कर शायद इलाज ठीक हो सकता। यह रोग तो ऊपर से नीचे तक लगा है, मैं एक लाला को लूट कर क्या कर लूँगा ? पर प्रेमा, किसी तरह तुम्हें अच्छा कर सकूँ तो—"

पुष्प एकदम चुप हो गया। रतन ने फिर झाँक कर देखा—प्रेमा का एक हाथ पुष्प के कन्धे पर था और शायद उस के ओठों को छूने की कोशिश कर रहा था। रतन फिर पीछे को हट गया, और शून्य की ओर देखने लगा।

पुरुष का स्वर फिर बोला, "प्रेमा, अगर चोरी कर के या लूट कर तुम्हे अच्छा भी कर लूँगा, तो भी सुखी नही होऊँगा। मुझे लगता है—"

थोडी देर रुक कर फिर "शायद हमारे मन मे पाप का झूठा डर होता है—डर ही से पाप बनते है। पर आता भी नही वह। मैं सोचता हूँ—मै जान दे कर तुम्हें अच्छा कर दूँ—" इस बीच म स्वर फिर रुक गया मानो किसी ने मुँह के आगे हाथ रख दिया हो—"पर एक छोटी सी चोरी नही होती।"

एक शब्द सुनकर रतन ने फिर भीतर झाँक कर देखा। पुरुष उठ खडा हो गया था। एक हाथ से सिरहाना पकडते हुए, दूसरे से अपना माथा, वह सिर उठा कर छत की ओर देख रहा था। एकाएक उस ने कहा—"भगवान!" उस के हाथ शिथिल-से हो गये, कन्धे लटक गये और वह एक ओर को हटने लगा। तभी प्रेमा ने हाथ बढा कर गर्दन ज़रा मोड कर आर्द्र स्वर से पुकार कर कहा, "मेरे पास आओ!" गर्दन मोडने से दिये का पूरा प्रकाश उस के मुँह पर चमक उठा।

एक ज़रा सी बात से मानो रतन का हृदय हज़ारो और करोडो बरसो का व्यवधान पार कर गया—एक ही बहुत बडी सी धडकन मे वह रतन का हृदय न रह कर उस आदम का हृदय हो गया हो जो अपने पाप के लिए दण्ड पा कर अँधियारे मे अपनी आदिम प्रेयसी को खोज रहा था—और उसे लगा कि सारा ससार उस स्त्री की आवाज़ मे चीख कर पुकार उठा है, "मेरे पास आओ!" उस स्त्री की, जो सुन्दरी नही है, लेकिन जिस की उस दृष्टि के लिए रतन एक बार नही, हज़ार बार चोरी कर सकता और दण्ड भी भुगत सकता!

रतन ने अपने को सँभालने के लिए झरोखे का चौखट पकड लिया—और फौरन ही छोड दिया। जिस हाथ से उस ने चौखट पकडा था, उसी म नोटो और रुपयो की पोटली थी।

रतन ने एक बार उस पोटली की ओर देखा, एक बार प्रेमा की ओर, एक बार उस पुरुष की ओर, फिर धीरे से कहा, "नालायक!"

फिर उस ने पोटली झरोखे म रख दी। एक बार चारो ओर झाँक कर देखा, और लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ वहाँ से हट गया।

3

रतन का शरीर ढीला पड गया। वह इस हद तक खुश भी हो गया कि किसी किस्म की कोई फिक्र उस के मन मे न रही। एक हलवाई की दुकान के बाहर पडा हुआ तख्त देख कर वह रुक गया। तख्त पर बैठ कर उस ने अपने गीले जूते उतारे, उन पर अपनी चादर का एक छोर रख कर, इस तकिये पर सिर रख कर वह लेट गया। बाकी चादर अपने ऊपर ओढ कर वह आकाश की ओर देखने लगा।

तारे थे। बहुत साफ नही दिखते थे, धुन्ध के कारण कभी छिप भी जाते थे, पर थे। कभी पाँच, कभी चार, कभी आठ-दस—वे दीखते और मिट जाते, मिटते और फिर दीखने लगते। धुन्ध के इस खेल मे मानो रतन भी घुलने लगा। उस की आँख लग गयी।

नालायक वह ?

चौंक कर रतन उठ बैठा। क्या उस ने कुछ देखा, या कुछ सोचा, या कुछ याद आ गया ? कोडे की मार से आहत-सा वह उठ बैठा।

नालायक वह ? और मैं नही नालायक, जिस ने एक तो चोरी की, दूसरे अपनी बहिन को भुलाया और तीसरे हाथ आयी दौलत फेंक दी ?

चोर। दस नम्बर का बदमाश। और बेवकूफ।

चोरी मैंने किस लिए की थी ? यशोदा के लिए ? क्या चोरी करने ही के लिए नहीं की मैंने चोरी ? और फिर रुपये वहाँ क्यो पटक आया ? उस आदमी को दे आया जो—जो प्रेमा को मरती देख सकता है और हाथ-पैर नही हिलाता ?

उस का कुछ उसूल तो था। नही करता चोरी, तो नही करता। फिर चाहे कोई मर जाये। कुछ बात तो हुई। प्रेमा की शक्ल यशोदा से मिलती थी। झूठ—प्रेमा तो ऐसी कुरूप थी। लेकिन उस का गर्दन मोड कर पुकारना—यशोदा भी तो ऐसे ही पुकार उठती थी जब मैं पास नही होता था।

मेरे पास फिर रुपये आते, तो मैं फिर दे देता—सौ बार दे देता।

हाँ, क्यो नही दे देता। चोरी के ही तो थे रुपये। चोरी के रुपये से पुण्य कमाना चाहता हूँ। कुछ कमा कर दिये होते, तब भी बात होती।

अत्याचार किये·· थ्रेस से लेकर सकरिया नदी तक, हम बराबर तुर्कों के घर जलाते गये, और यूनानियों को सेना में भरती करते गये···

"मैं भी तो इन्हीं साम्राज्य के भूखे, विजयोन्मत्त सैनिकों में भरती हुआ था, मैंने भी तो अंगोरा के पथ पर बढ़ती हुई सेना को देख कर अपना घर-बार छोड़ा था और आरोरा को साथ ले कर चल पड़ा था—मेरे भी तो पैर दर्प के मारे पृथ्वी पर नहीं पड़ते थे !

'पर सकरिया नदी की हार ! तुर्कों ने साम्राज्य का स्वप्न तोड़ दिया—कांस्टेंटाइन *भाग गया—हमारी सेना छिन्न-भिन्न हो गयी, और मेरी आँखें—* खुलीं ! मैंने भी देखा, हम क्या कर रहे हैं ।'

युवक क्षण-भर के लिए रुका, और सिर उठा कर उसी एकाग्र दृष्टि से छत की ओर देखता कुछ देर तक न जाने क्या सोचता रहा। फिर उस के मुख पर का एकाग्र भाव और भी कठोर हो कर दृढ़ निश्चय के भाव में परिणत हो गया। कुछ देर वह इसी प्रकार बैठा रहा, फिर उस ने जोर से सिर झटका और फिर लिखने लगा···

'*काल ने मुझे दिखा दिया, हम क्या कर रहे हैं*·· *फिर मेरा सारा गर्व* और स्पर्द्धा न जाने कहाँ उड़ गये। और ग्लानि, ग्लानि, ग्लानि से अन्तर भर गया··

'आज, वह ग्लानि मिट गयी है। आज तुर्कों ने हम से बदला ले लिया है। कांस्टेंटाइन पराजित हो कर लौटा, तब पैरिस में सन्धि की बातचीत हो रही थी, पर हमारा देश इतने पर भी नहीं माना था। पुरानी सरकार ने पद-त्याग किया, नयी सरकार ने फिर जनरल हेजानेस्टीज को आक्रमण करने की आज्ञा दी और वह थ्रेस में सैन्य-संग्रह करने लगा स्मर्ना भी खाली कर दिया गया—और उसी का यह फल है···

'मैं अभी अपनी डायरी लिख रहा हूँ, शायद शाम तक यह, यह घर, और मैं भी, इसी भयंकर ज्वाला में भस्म हो जायेंगे·· पर फिर भी, मैं जिस तथ्य पर पहुँचा हूँ, उसे यहाँ लिख रहा हूँ · अगर मैं इस आग से बच कर निकल गया तो यही प्रतिज्ञा मेरे जीवन की पथ-दर्शक रहेगी·· और अगर नहीं—तो मेरी वेदना की यह लपट भी इसी आग में मिल कर मेरे निश्चय की साक्षी हो !

'मैं, एटनी स्टेरास, आयु सत्रह वर्ष, आज 14 सितम्बर, 1922 को, अपने

देश और विश्वास की साक्षी ले कर प्रतिज्ञा करता हूँ, कि भविष्य में कभी भी किसी साम्राज्यवादी लक्ष्य के लिए हथियार नहीं उठाऊँगा—कि मेरे जीवन का ध्येय साम्राज्यवाद से अनवरत युद्ध करके, उसे छिन्न भिन्न कर, साम्य पर आश्रित लोकतन्त्र की स्थापना करना ही होगा, चाहे—'

एकाएक कमरे में दो और व्यक्तियों ने प्रवेश किया—एक पुरुष और एक लड़की। उन्हें देख कर युवक ने सकपका कर अपनी डायरी बन्द कर दी और बोला, "आरोरा, तुम आ गयी!"

जो लड़की थी, वह दौड़कर उस युवक से लिपट गयी। बोली, "टोनी, टोनी, मुझे आशा नहीं थी कि फिर भी मिलेंगे!"

युवक ने उसे ज़ोर से दबा लिया और पुरुष की ओर देखता हुआ बोला, "चार्ल, अब हमें क्या करना है?"

तीनों बैठ गये। चार्ल ने पूछा, "एटनी, क्या लिख रहे थे?"

"उहूँ, कुछ नहीं। डायरी लिख रहा था।"

आरोरा हँसने लगी। "डायरी! चारों तरफ आग लगी हुई है, और तुम्हें डायरी लिखना सूझता है?"

"और क्या करूँ?"

चार्ल गम्भीर हो कर बोला, "सुनो, टोनी, आज बहुत खबरें हैं।"

एटनी, औत्सुक्य से, "क्या?"

"पुरानी सरकार पद त्याग करने से पहले आज्ञा दे गयी थी कि स्मर्ना से ग्रीक सेना हट जाय। और हमारे सब साथी कियोस टापू में चले गये थे। उन में से कुछ और आगे बढ़ कर मिटिलीनी टापू पर जा पहुँचे हैं। वहाँ पर मेरे दोनों साथी भी अब अपने संघ का प्रचार करने लगे हैं। अपनी सेना के कर्नल प्लास्टेरास ने भी सेना का अलग संगठन धीरे-धीरे आरम्भ कर दिया है। पर यहाँ से आगे एथेंस कैसे जाना होगा, यह किसी को नहीं सूझता…"

"फिर?"

"वहाँ टापू की बन्दरगाह पर मेरे कुछ मित्र हैं। अगर उनसे बातचीत की सके, तो वे किसी-न-किसी तरह एथेंस से ही या इधर-उधर से जहाज बुलवा देंगे—चाहे बाद में पता लगने पर उन्हें कोर्टमार्शल ही कर दिया जाय। पर उन तक कोई पहुँचे तब न…और कोई तो जानता नहीं…"

"चिट्ठी भेजकर भी काम नहीं चल सकता ?"

"शायद ही चले—इतने बड़े काम के लिए पत्र का विश्वास कोई नहीं करेगा · पर चिट्ठी भी तो नहीं भेजी जा सकती · "

तीनों चुपचाप बैठे सोचने लगे···थोड़ी देर बाद कार्ल बोला, "सुना है, एक अमरीकन जहाज़ यहाँ से जाने वाला है—"

फिर थोड़ी देर चुप··

कार्ल बोला, "कुछ तो सोचना ही होगा—मैं फिर बाहर जाता हूँ।"

अरोरा ने कहा, "अभी ? और यह आग—"

कार्ल जल्दी मे बोला, "यह अभी बहुत दूर है, मैं लौट आऊँगा।" और उठ कर चल दिया। एटनी कहना ही रह गया, "सुनो तो !"

आरोरा बोली, 'टोनी, डायरी दिखाओ, मैं पढ़ूँगी, क्या लिखा है।"

'नहीं, वह कुछ नहीं है—"

"मै जानती हूँ, तुम कवि हो गये हो—"

"अच्छा आज की मत पढ़ो, पुरानी पढ़ लो—"

"नहीं, मैं सब पढ़ूँगी—"

"नहीं, तुम्हे मेरी कसम—"

"अच्छा, देखूँ तो—" कहकर आरोरा ने डायरी उठा ली, और खोलकर पढ़ने लगी। एटनी भी पास बैठ गया और देखने लगा

'18 जुलाई। हमारा राष्ट्र दिग्विजयी है। हम मैसिडोनिया और थ्रेस के स्वामी है, हमने अनातोलिया को भी जीत लिया है, अब अगोरा को भी जीत लेंगे···हमारा पुराना ग्रीक साम्राज्य फिर से स्थापित होगा—हम सिकन्दर के वंशज फिर पूछेंगे, बताओ और कहाँ तक पृथ्वी है जिसे हम जीत लावें · '

एटनी ने रोक कर कहा, "आरोरा, यह बकवास है, इसे मत पढ़ो !"

आरोरा ने दो-चार पन्ने उलट दिये

'29 जुलाई। हम अगोरा से कुल साठ मील दूर हैं,—कुल साठ मील ! पर कार्ल न जाने क्यों अधिकाधिक उदास होता जा रहा है—वह कहता है कि हम अपनी ही हानि कर रहे हैं। कहता है कि सिकन्दर पागल था—अपने राष्ट्र को दूर-दूर तक फैलाता गया पर उस की रक्षा नहीं कर सका—व्यर्थ ही इतने प्राण नष्ट किये—एक अपनी व्यक्तिगत तृप्ति के लिए···वह कहता

है कि सब को स्वतन्त्र होने का अधिकार है, कि एक देश पर दूसरे देश का अधिकार स्थापित करना नीचता है और अन्याय की सीमा है ··

'अभी दो मास हुए, तब मैं कार्ले को जानता भी नहीं था। कार्ले ग्रीस से सेना के साथ-साथ आया है, मैं अनातोलिया में भरती हुआ हूँ। वह चार साल से सेना में है, मैं आज से दो ही मास पहले अपने पिता के खेत पर काम करता था और बच्चों की तरह आरोरा के साथ खेला करता था। पर फिर भी कार्ले सेना से और युद्ध से घृणा करता है, और मैं उस का विरोध नहीं कर सकता—उस की बात मानता जाता हूँ। उस में इतनी सच्चाई मालूम होती है···'

आरोरा ने फिर कुछ पन्ने उलट दिये···

'30 अगस्त। पराजय! पराजय! हमारा खोया हुआ साम्राज्य स्वप्न! आज आठ दिन से मुँह भी नहीं धो सका हूँ—निरन्तर मार्च, मार्च, मार्च··· दिन में दो पड़ाव, रात में एक पड़ाव, कभी आराम नहीं मिलता · और बिचारी आरोरा रोती नहीं, पर मेरी ओर ऐसे देखती है···।'

आरोरा ने रुक कर एटनी की ओर देखा, वह एकाग्र हो कर बैठा था। आरोरा फिर पढ़ने लगी।

'पता नहीं, कितने दिन ऐसे ही और चलना है—भूखे, प्यासे, खून और कीच में सने, कुछ आहत, कुछ अन्धे, और स्त्रियाँ···और पराजित, पिटे हुए, हारे हुए, भगोड़े···

'कार्ले कहा करता था, हमारी हार हो तो मुझे दुःख नहीं होगा। तब हम लोग उसे गालियाँ देते थे,—कि देश का शत्रु है···पर जब से हार हुई है, तब से वह कुछ बोलता नहीं, चुपचाप इधर से उधर भागा फिरता है—लोगों को पानी देता, कभी किसी को सहारा देता, कभी किसी को *ढारस बँधाता* ·· हम एक पड़ाव करते हैं तो उतनी देर में उसे आते-जाते चार-पाँच पड़ाव की मार्च करनी पड़ जाती है ··उस ने वर्दी उतार कर फेंक दी है, पर फिर भी पानी की बोतलों के मारे बोझ कुछ कम नहीं है ··

'आज डायरी लिखने की फुरसत मिली है—पर क्या लिखूँ? जब जीवन में कुछ नहीं था—तब लिखने को कितनी बातें थीं! और आज—जीने वाले को लिखने से क्या?'

आरोरा का मुख भी किसी पूर्व स्मृति के कारण गम्भीर हो गया था।

उस ने फिर अन्यमनस्क भाव से एक पन्ना उलटा और पढ़ने लगी

2 सितम्बर अभी तक हमारी सेना ही भाग रही थी, अब बढ़ते हुए तुर्कों के आगे अनातोलिया की सारी ग्रीक प्रजा "आज हमारी सख्या पन्द्रह हज़ार से भी अधिक है—अनातोलिया का प्रान्त ही समुद्र की तरह उमड कर स्मर्ना की ओर बहा जा रहा है—पुरुष, स्त्री, लडके, लडकियां, दुधमुँह बच्चे ···और साथ में घोड़े, खच्चर, गधे—सब सामान से लदे हुए—कहीं पुरुष ही छकडे में रोगियों, गर्भवती स्त्रियों, बच्चों और रोटी-पानी को लादे खींचे चले जा रहे है

'यह है हमारे साम्राज्य स्वप्न का प्रतिघात !'

'हम खेती को, बागों को, अपनी प्यारी अगूर की बेला के कुंजों को,—सभी को रौंदते हुए चले जा रहे हैं—पर दिग्विजय के पथ पर नहीं—हम भाग रहे हैं। साम्राज्य नहीं, उस का उच्छिष्ट भी नहीं, हम उसी के भयकर प्रतिघात से बच कर भाग रहे है···

'शैतान के चार सहायक है कलह, अकाल, हिंसा और मृत्यु। और ये चारों अपना उग्रतम रूप धारण किये, हमारे इस अभागे समूह में नृत्य कर रहे है · कोई भूख से या श्रम से क्लान्त हो कर गिर पडता है तो उसे भी उठाने वाला नहीं मिलता,—लोग उसे रौंदते हुए चले जाते है भद्र लोगों के आदर्शों के लिए यह स्थान नहीं है—यह मानव की प्राचीनतम असभ्य और असस्कृत वासनाओं का सघर्ष है जो बातें युद्ध और क्रान्ति में भी नहीं होतीं वे यहाँ है—यह जीवन का, आत्म-रक्षा की घोर चेष्टा का, नगा नाच है·· युद्ध बीभत्सता और क्लेश से पूर्ण होता है, क्रान्ति विराट् और भैरव होती है, पर हमारा मानव-जीवन इस से भी अधिक विराट् और भैरव है, इस से भी अधिक बीभत्स और क्लेशपूर्ण और उग्र· '

आरोरा ने आँसू भरी आँखों से एटनी की ओर देखा · वह अब भी उसी प्रकार एकाग्र हो कर बैठा था। आरोरा ने धीरे से कहा, 'सुन रहे थे या और कुछ सोच रहे हो ?"

एटनी ने एक बार "हूँ ?" किया, और बिना उत्तर दिये उसी प्रकार चिन्तित बैठा रहा · आरोरा क्षण-भर देखती रही, फिर बोली, "एटनी, कहो भी, क्या सोच रहे हो ?"

एटर्नी एकाएक उठकर खड़ा हो गया। बोला, "आरोरा, चलो ऊपर चलें!"

आरोरा ने विस्मित हो कर कहा, "छत पर? वहाँ तो धुआँ बहुत होगा!"

"चलो!" कह कर और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए, एटर्नी ऊपर जाने लगा। आरोरा भी उस के पीछे-पीछे चल दी।

2

बाहर, बन्दरगाह पर···

गर्मी से उन्मत्त हुए फौजी घोड़े इधर-उधर भाग रहे थे, अनातोलिया से और जलते हुए नगर से भाग कर एकत्र हुए असंख्य प्राणियों को रौंदते चले जा रहे थे "माताएँ रोती थीं, "मेरा बच्चा···" तो भीड़ की भयभीत और भयानक चीत्कार "आग! आग!" में वह करुण पुकार खो जाती थी। और भीड़ चिल्लाती थी—"आग! आग!" तो उस भयंकर ज्वाला की धू! धू! में वह स्वर लीन हो जाता था···

नगर के अन्दर जलते हुए शरीरों की दुर्गन्ध से वायुमण्डल भर रहा था···

एक ओर बहुत-से व्यक्तियों ने न जाने कहाँ से एक तुर्क लड़के को पकड़ लिया था—कोई कह रहा था—"इस ने ग्रीक लड़कियों से छेड़छाड़ की"—लोग उसे पीट रहे थे—देखते-देखते वह गिर गया, कुचला गया—उस की हड्डी-पसली तोड़ डाली गयी, दो-चार लोगों ने उस के टूटे हुए और खून की कीच में सने अवयव उठा कर, हिला-हिला कर भीड़ को दिखाने आरम्भ किये···

और भीड़ के छोर पर, एक भव्य इमारत में बहुत-से लोग जुआ खेल रहे थे,—छज्जे पर खड़ी तीन-चार वेश्याओं ने कपड़े उतार कर फेंक दिये थे और रूमालों से पसीना पोंछती जा रही थीं और हँसती जा रही थीं, उस भीड़ की ओर देख कर···

भीड़ कभी उधर देख कर लालसा-पूर्ण पुकार करती थी, कभी दाँत पीसती थी··

और जुआ, चोरी, षड्यन्त्र, लालसा, भूख, डर, हिंसा, आग और धुएँ के इस निर्लज्ज ताण्डव के साथ नाचती हुई स्मर्ना बढ़ी जा रही थी—किधर?

कभी-कभी, नगर की ओर से भीड़ का एक अंश उस असह्य ताप के कारण

बन्दरगाह की ओर हटने लगता था, तब उस के दबाव के कारण घाट के सिरे पर एकत्र हुए लोग पानी में गिरते जाते थे और डूब जाते थे—कोई बचाने वाला नहीं था। जहाज कुछ तो विदेशी राष्ट्रों के थे, कुछ अपनी रक्षा के लिए घाट पर से हट गए थे···

और क्रूर आग और हृदयहीन समुद्र के बीच में फँसी तीन लाख प्रजा के बीच में हो कर कार्ल पिसता हुआ चला जा रहा था—पागल की तरह, उन्मत्त निश्चय से उग्र···

घाट के सिरे पर खड़ा हो कर वह अपनी टोपी उतार कर हिलाने लगा। जब एक हाथ थक गया तब दूसरे से, और फिर लौट कर पहले हाथ में ··

थोड़ी देर बाद कुछ दूर पर खड़े एक व्यापारी जहाज से एक डोंगी उतरी, और धीरे-धीरे पास आने लगी ··

इसी समय भीड़ में से उठी, एक विचित्र हुंकार—न जाने विजय की, या क्रोध की, या क्या ··

कार्ल घूम कर फिर से भीड़ में घुसने लगा···

थोड़ी ही देर में उस ने इस शोर का कारण जान लिया ·

तुर्की सेनाधिपति ने फर्मान निकाला था कि सत्रह वर्ष से पैंतालीस वर्ष तक आयु के पुरुषों को छोड़ कर सभी व्यक्ति स्मर्ना से बाहर जा सकेंगे—और जो पुरुष रह जायँगे, वे युद्ध के बन्दी समझे जायँगे और उन से काम लिया जायगा···

कार्ल क्षण-भर खड़ा कुछ सोचता रहा, फिर धीरे धीरे लौटने लगा ··

3

एटनी और आरोरा छत पर खड़े थे। यहाँ गर्मी और धुआँ और भी अधिक थे, और दुर्गन्ध भी अत्यन्त उग्र थी। पर एटनी बिना इन की परवाह के छज्जे पर झुका हुआ अग्नि का ताण्डव देख रहा था। उस के मुख पर का भाव अभी तक उसी प्रकार चिन्तित और एकाग्र था। आरोरा कभी उस के मुख की ओर देखती, कभी आग की ओर···

दोनों बहुत देर तक ऐसे ही खड़े रहे—आग की लाल लपटों में रक्त निराशा के न जाने कितने स्वप्न देखते खड़े रहे···फिर एकाएक एटनी बोला,

"आरोरा, कार्ल से विवाह करोगी ?"

आरोरा चौंक कर, क्रुद्ध, दुखित, व्यथित स्वर में बोली, "क्या ?"

एटनी ने फिर कहा, मानो बिल्कुल साधारण-सा प्रश्न पूछ रहा हो, "कार्ल से शादी करोगी ?"

आरोरा कुछ देर बोली नहीं। फिर एटनी के पास आ कर अत्यन्त दीन स्वर में बोली, "टोनी, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है···"

एटनी ने एक विचित्र दृष्टि से उस की ओर देखा। फिर कोमल स्वर में बोला, "नहीं, आरोरा, कुछ और मत समझो,···अगर ग्रीस के लिए यह करना पड़े, तो करोगी ?"

"तुम को क्या हो गया है, टोनी ?"

एटनी फिर चुप हो गया। थोड़ी देर बाद, आग की ओर देखता हुआ बोला, "आरोरा, मुझे इस आग के पट पर भविष्य का एक स्वप्न दीखा था—सुनोगी ?"

आरोरा कुछ नहीं बोली। एटनी अपने-आप कहने लगा, "मैंने देखा है, हमारा-तुम्हारा विवाह नहीं होगा। हम सब मर जायेंगे। और एक साथ नहीं मरना होगा—तुम कहीं और, कार्ल कहीं और, मैं कहीं और···"

"फिर ?"

"फिर मेरे भीतर कुछ कहता है, आरोरा तुम्हारी नहीं है, क्रान्ति की है। उसे जाने दो···"

एटनी फिर चुप हो गया···

आरोरा बोली, "तुम तो पागल हो—गर्मी में सिर फिर गया है···" फिर उस के कन्धे पर हाथ रख कर बोली, "अब नीचे नहीं चलोगे ?"

"अभी—अभी ठहरो, मुझे कुछ और देखना है, उस से आगे···"

आरोरा बिलकुल चुप और निश्चल हो गयी। दोनों फिर लाल आग में भविष्य के चित्र देखने लगे—एटनी लाल क्रान्ति के चित्र, और आरोरा···

नीचे थके हुए स्वर में कार्ल की आवाज़ आयी, "टोनी कहाँ गये ?"

एटनी चौंका, और दोनों नीचे चले।

कार्ल ने दोनों को देख कर पूछा, "छत पर क्या हो रहा था ?"

एटनी ने जल्दी से कहा, "कुछ नहीं, हम आग देख रहे थे। कैसी भयकर

है ! क्या आरोरा ?'

आरोरा एक काँपती हुई अस्वाभाविक हँसी हँस कर बोली 'हा

कान ने वह हँसी सुन कर एक वार तीव्र दृष्टि से आरोरा की ओर देखा और बोला तुम थक गयीं हो लेट आओ।

आरारा ने मानो सुना नही। एटनी ने पूछा कोई समाचार है?

हा तुम्हारे काम का है।

क्या?

तुर्की सरकार का फरमान है कि सत्रह वर्ष से कम आयु के पुरुष स्मर्ना स बाहर जा सकते है।

फिर?

तुम्हारी आयु 17 साल की है— और आरोरा भी जा सकती है

पर—

आरोरा न कहा और तुम काल?

मैं क्या? दुनिया बहुत बडी है टोनी चुप क्यो हो गये?

टोनी फिर चुप रहा। आरोरा फिर वही अस्वाभाविक हँसी हँस कर बोली उसका दिमाग खराब हो गया है—उसे बुलाओ मत!

काल न सहानुभूति भरे स्वर म कहा और तुम आरोरा तुम भी तो बहुत चचल हो रही हो।

एकाएक टोनी लपका और बोला समझ गया! मरा स्वप्न ठीक है ठीक!

काल न कुछ विस्मय से मुस्करा कर पूछा क्या है टोनी?

आरोरा न भी चौंक कर भीत स्वर म कहा क्या?

टानी पर एक विचित्र अलौकिक उन्माद छाया हुआ था वह उसी अनागतदर्शी भाव मे बोला सुनो काल! मै जो कहता हूँ ध्यान स सुनो! मेरे पास सना का पासपोट है अपने नाम और आरोरा के नाम का। उस म मेरी आयु 17 साल लिखी है।

हा तो फिर?

तुम समझे नही? तुम वह न कर मिटिलीनी चले जाओ और—

पागल! तुम्हारा और आरोरा का हक्र छीन कर भागूगा?

आरोरा बैठी हुई थी, खडी हो गयी, पर कुछ बोल नही सकी।

एटनी ने फिर कहा, "कार्ल, ऐसे भावुक मत होओ! मैं तुम्हे अपनी जान ले कर भागने को थोडे ही कहता हूँ? क्रान्ति का भी तो उत्तरदायित्व है···"

"नही, मैं नहीं मानूँगा। तुम और आरोरा चले जाओ—"

"कार्ल, सुनो! मैं बहुत छोटा हूँ, पर मैंने भी तुम्हारे साथ युद्ध देखा है, हार देखी है, हजारो लोग मरते देखे है—केवल तलवार से नही, भूख-प्यास से और प्लेग मे और इस भयकर आग मे भी मैं समझता हूँ कि मरना क्या है और जीना क्या···पर यह बताओ, अगर एक कास्टेंटाइन के स्वप्न के लिए लाखो प्राणियो की आहुति उन की इच्छा के विरुद्ध दी जा सकती है, तो क्या लाखों प्राणियो के सुख के लिए एक आदमी इच्छापूर्वक नही मर सकता? तुम्हारे ऊपर क्रान्ति निर्भर करे, और तुम एक जीवन का मोह करो? छि.!"

कार्ल विस्मित हो कर एटनी का यह नया रूप देख रहा था, बोला, "आरोरा भी तो है·"

आरोरा ने तन कर कहा, "आरोरा भी तो मरना जानती है, डरती नही।"

एटनी बोला, "नही, आरोरा की बात नही है। वह तुम्हारे साथ जा सकती है।"

आरोरा ने मुँह फेर लिया था। यह बात सुन कर वह तीखे स्वर मे बोली, "ठीक है, आरोरा जा सकती है।"

इस बात के पीछे कितना तीक्ष्ण व्यग्य, कितनी मार्मिक वेदना थी, एटनी नहीं समझा। प्रसन्न हो कर बोला, "आरोरा, तुम्हें मजूर है न? कार्ल, तुम्हे भी मानना ही पड़ेगा···"

"नही मानूँगा। तुम दोनो चले जाओ, मैं तुम्हें एक पत्र दे देता हूँ, वह ले जाना। मिटिलीनी मे—"

"तुम्ही ने नही कहा था कि पत्र से काम नही हो सकेगा?"

कार्ल चुप रह गया। एटनी फिर बोला, "कार्ल, यह हँसी नही है। तुम्हे यह बात शोभा नहीं देती। मेरा क्या है? अभी कल मैं साम्राज्यवाद के लिए लड रहा था। पर तुम—तुम्हारा ग्रीस के लिए बहुत मूल्य है। बोलो, जाते हो कि नही? मैं कहे देता हूँ, तुम नही जाओगे तो मैं यही आग मे जल कर

मर जाऊँगा—यहाँ से टलूँगा नहीं।"

कार्ल कुछ कह नहीं सका, मुँह फेर कर खिड़की में बाहर देखने लगा आरोरा ने उसी तीक्ष्ण स्वर में कहा, "ठीक है।"

एटनी ने कहा "कार्ल, तुम सब ठीक ठाक कर के तैयार हो जाओ—कल ही उस अमरीकन जहाज़ से चले जाओ।"

कार्ल का विरोध प्राय परास्त हो चुका था। बोला, "अगर पासपोर्ट का धोखा पकड़ा गया तो? उस के फोटो में भी तो—

'कैसे पकड़ा जाएगा? मुझे यहाँ कौन जानता है? और ग्रीक ग्रीक को धोखा नहीं देगा, ऐसा भी मेरा विश्वास है "फोटो को धुएँ में थोड़ा काला कर लेना—बस।"

थोड़ी देर बाद एटनी ने फिर कहा "कार्ल तुम तैयार हो जाओ। मैं ऊपर जाता हूँ।"

कार्ल ने एक बार आरोरा की ओर देखा और बोला, 'मैं ज़रा नीचे जा रहा हूँ, अभी आ जाऊँगा।" और जल्दी से उतर गया।

कार्ल घर से बाहर निकल कर कहीं गया नहीं घर के सामने ही एक चौतरे पर लेट गया और आकाश की ओर देखने लगा।

सन्ध्या हो गयी थी। पर जैसे दिन-भर धुएँ के कारण सूर्य नहा दीख पाया था उसी प्रकार रात का पता नहीं लगा—केवल जो ज्वाला दिन म कुछ पीली सी दीख पड़ती थी, वह अब रक्त के उबाल की तरह लाल लाल दीखने लगी, और धुएँ का मैलापन कुछ और काला हो गया।

क्रान्ति और युद्ध के, जीवन और मरण के, तेज और मालिन्य के, लाल और काले के इस सम्मिश्रण को देख कर कार्ल भी न जाने क्या सोचने लगा।

4

एटनी कुछ देर तक अनिश्चित सा कमरे के मध्य में खड़ा रहा, फिर आरोरा के पास गया। आरोरा भूमि पर बैठ गयी थी। एटनी ने कहा, "आरोरा, अब तो तुम चली जाओगी।"

'हाँ, चली जाऊँगी।"

स्वर में कुछ ऐसी कठोरता थी, कि एटनी एकाएक घुटनों पर बैठ गया

और आरोरा का हाथ अपने हाथों में ले कर बोला, "आरोरा, क्या है ?"

"कुछ नहीं !"

कोमल स्वर में, "मुझसे नाराज हो गयी ?"

"नाराज क्यों होऊँगी ? मुझे तो प्रसन्न होना चाहिए न—कि तुम अपना स्वार्थ भूल कर मेरी रक्षा कर रहे हो ?"

एटनी जो बात इतनी देर तक नहीं समझा था, वह एकाएक समझ गया। कुछ देर वह भौचक्का हो कर आरोरा की ओर देखता रहा, फिर बोला, "आरोरा, तुम अन्याय मत करना—अभी हमारे पास झगड़ने का समय नहीं है। अभी थोड़ी देर तक तुम मुझे अपना टोनी मत समझो—समझ लो कि मैं केवल एक ग्रीक सैनिक हूँ। और तुम मेरी आरोरा नहीं—ग्रीस की एक वालंटियर हो··· फिर बताओ, तुम क्या ग्रीस को छोड़ दोगी ?"

आरोरा कुछ नहीं बोली।

एटनी ने फिर कहा, "आरोरा, हम फिर मिलेंगे। तुम कार्ल के साथ चली जाओ, शान्ति हो जाने दो। मैं फिर छूट कर आ जाऊँगा—या आयु कम होने के कारण, या फिर सन्धि हो जाने के बाद···"

आरोरा ने अविश्वास के स्वर में कहा, "हूँ !"

"सन्धि अवश्य होगी। ये तीन लाख भूखे-प्यासे आदमी बहुत दिन युद्ध नहीं चलने देंगे। फिर तुम और मैं सुख से रहेंगे—तुम कहोगी तो फिर अनातोलिया लौट आवेंगे ··तुम कुछ ही दिन के लिए तो जाओगी—ताकि कार्ल मिटिलीनी पहुँच सके···"

एटनी चुप हो कर आरोरा के मुख की ओर देखने लगा, पर आरोरा ने कोई उत्तर नहीं दिया। एटनी ने पूछा, "मानती हो न ?"

अब की बार कम्पित स्वर में आरोरा ने कहा, "मुझे सोचने दो—जाओ !"

एटनी, तरुण फिलासफर किन्तु स्त्री-प्रकृति से अनभिज्ञ, चुपचाप अपनी डायरी उठा कर छत पर चला गया।

उस के जाते ही आरोरा खिल-खिला कर हँसी—फिर वह हँसी पागल के उन्मत्त अट्टहास-सी हो गयी···

बाहर कार्ल ने सुना, और मन-ही-मन बोला, "दीखता ही था···हिस्टी-

रिया ...'' फिर वह उठ कर भीतर चला आया।

पर छत पर बैठा एटनी बहुत दूर विचरण कर रहा था, उस ने वह हँसी नही सुनी।

5

रात बहुत जा चुकी थी, पर कार्ल और एटनी दोनो जाग रहे थे। आरोरा थक कर शान्त हो गयी थी, और फिर सो गयी थी, यद्यपि उस की नींद शान्त नही थी—वह बार-बार चौंकती थी, और हाथ-पैर पटकती थी, मानो छटपटा रही हो। जब ऐसा होता तब दोनो एक बार चिन्तित दृष्टि से उस की ओर देखते, और फिर बातें करने लग जाते।

वे दोनो भविष्य के लिए मनसूबे बाध रहे थे मिटिलीनी पहुँच कर कार्ल क्या करेगा, कहाँ जायगा एटनी कहाँ उसे मिलेगा, पत्र-व्यवहार कैसे हो सकेगा इत्यादि...कार्ल ने एक-दो कपडे, और कुछ कागज़ इत्यादि एक कम्बल मे लपेट कर यात्रा की तैयारी कर ली थी।

एकाएक आरोरा एक हल्की-सी चीख मार कर उठ बैठी, और आखें फाड फाड कर सब ओर देखने लगी। एटनी ने पास जा कर प्यार स कहा, "क्या है, डरी ?"

आरोरा पहले तो उस से चिपट गयी, किन्तु तत्काल ही उसने उसे परे धकेल दिया। एटनी विस्मय के कारण कुछ बोल नही सका।

थोडी देर बाद आरोरा ने अस्वाभाविक स्वर मे कहा, "तुम स एक बात कहनी है।"

इस बात का अभिप्राय समझ कर कार्ल स्वय उठ कर दूसरे कमरे म चला गया।

आरोरा ने पूछा, "टोनी, तुम अवश्य ही मुझे भेज दोगे ?"

एटनी ने हाथ उस की ओर बढाते हुए कहा, "क्यो, क्या है, आरोरा ?"

"बताओ, ज़रूर भेजोगे ?"

रुक-रुक कर, मेरे ख़याल मे तुम चली जाओ तो सभी के लिए अच्छा है।"

"हूँ। तुमने अपना पासपोर्ट पढा है ?"

"हाँ, क्यों ?"

आरोरा कुछ देर तक नहीं बोली। उस के चेहरे से ज्ञात होता था कि वह कुछ कहने के लिए साहस का संचय कर रही है···फिर उस ने जल्दी-जल्दी कह डाला, "मैं कल कार्ल से विवाह करूँगी!"

"क्या ?"

आरोरा ने फिर, प्रत्येक शब्द पर ज़ोर दे कर दुहराया, "मैं—कल—कार्ल—से—विवाह—करूँगी!"

एटनी को इतना विस्मय हुआ कि वह कुछ बोल नहीं सका। उस ने चुप-चाप कार्ल के कम्बल पर पड़ी पासपोर्ट उठायी और उसे अन्यमनस्क हो कर देखता रहा···

उस पर लिखा था, "एटनी स्टेरास, और उस की प्रेमिका, आरोरा" इत्यादि। एटनी इस वाक्य को चार-पाँच बार पढ़ गया, पर उसे मानो उस का अभिप्राय ही नहीं समझ आया, उस से आरोरा की बात का सम्बन्ध निकालना तो दूर···

आरोरा बोली, "मैं एटनी स्टेरास की प्रेमिका हूँ। मेरी और उस की सगाई हो चुकी है।"

एटनी ने उसी विस्मय के स्वर में कहा, 'पर—"

आरोरा ने हाथ उठा कर उसे रोक दिया। बोली, 'एटनी की प्रेमिका कार्ल के प्रति प्रणयिनी का व्यवहार नहीं करेगी।"

अब एटनी को समस्या समझ आयी। वह घबराया हुआ-सा कभी पास-पोर्ट की ओर, कभी आरोरा की ओर देखने लगा।

आरोरा फिर बोली, "इसलिए मैं कल कार्ल के साथ विवाह कर लूँगी।"

एटनी बहुत देर तक सिर झुकाये न जाने क्या सोचता रहा। शान्ति और जीवन के जिस संघर्ष को वह अब तक पूर्णतया नहीं समझ पाया था, वह एका-एक उस के सामने आ गया। उस के सामने उस के गत जीवन के बहुत-से चित्र नाच गये—अलग-अलग नहीं, एक ही दीप्त छाया-पट पर···

किन्तु साथ ही उसी दृश्य को घेरे हुए उस के चारों ओर, आग की लपटें ···और उन लपटों में से धुएँ की तरह निकलते हुए, व्यथा और दुःख से विकृत लाखों मानव-मुख···

—

न जाने क्यों उस के मन में एक शब्द-समूह—निरर्थक शब्द-समूह—नाचने लगा, "तीन लाख, तीन लाख, आरोरा···"

उस ने सिर उठाया और तन कर खड़ा हो गया। उस की आँखों में व्यथा नहीं थी, आनन्द नहीं था, विजय नहीं थी, उत्सर्ग नहीं था; था एक उन्मत्त अभिमान, दर्प···

बोला, "ठीक है, यही होगा।" फिर एकाएक घूम कर लम्बे-लम्बे कदम रखता हुआ छत पर चल दिया···

आरोरा भूमि पर बैठ गयी—बैठ गयी ऐसे जैसे गिलास के लुढ़कने से उस में का दूध बिखर गया हो—और फूट-फूट कर रोने लगी। हिस्टीरिया ने जिस व्यथा को दबा दिया था, वह और भी अधिक वेगवती हो कर वह निकली।

कार्ल अन्दर आया, और किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो कर चुपचाप आरोरा के पास खड़ा रहा।

और आरोरा रोती रही···

और एटनी छत पर बैठ कर ज्वाला के प्रकाश में डायरी लिये बैठा लिखे जा रहा था, पागल की तरह, मानो उस का जीवन उस लिखने पर निर्भर करता हो···

6

वह भयकर ज्वाला जो अनेक अकाल-मृत्युओं का कारण हुई थी, अनेक अकाल-प्रसवों का भी कारण हुई···

कार्ल आरोरा को ले कर जिस पथ पर धीरे-धीरे चला जा रहा था, उस पर उस ने पाँच-छः प्रसविनी स्त्रियाँ पड़ी देखीं···

पता नहीं, किस भावना से प्रेरित हो कर आरोरा ने कहा, "यह अच्छा शकुन है"···

कार्ल ने एक बार चुपचाप उस की ओर देखा, और चलता गया। वह मन ही मन आरोरा की मन स्थिति समझने का प्रयत्न कर रहा था, पर समझ नहीं पाता था।

उन का विवाह हो चुका था। उसी भीड़ में फँसे हुए एक वृद्ध पादरी ने उन का विवाह-संस्कार कर दिया था।

एटनी उन के विवाह पर भी नही गया था, अब उन के साथ बन्दरगाह पर भी नही आया। वे उस के पासपोर्ट पर जा रहे थे, इस लिए उस का साथ आना ठीक नही था, क्योंकि शायद कोई पहचान का आदमी मिल जाता·· यही कह कर वह स्वय रह गया था। आरोरा ने उसे साथ बुलाने का बिलकुल आग्रह नहीं किया, और कार्ल ने भी यह सोच कर कि इस प्रकार वियोग का दु ख कम हो जायगा, कोई बाधा नही की। आरोरा ने चलते समय एटनी से विदा भी नहीं ली—यद्यपि कार्ल उन्हे अवसर देने के लिए परे हट गया था···एटनी ने कहा, "आरोरा, ऐसे ही चली जाओगी ?" तब आरोरा ने बिना उस की ओर देखे ही उत्साह-हीन स्वर मे कहा था, "ऐसे ही नही—क्रान्ति की रक्षा करने जाऊँगी!" और तीव्र गति से बाहर निकल गयी थी···

बन्दरगाह पर स्त्रियो, बच्चो, लडको और वृद्धो की कतारें खडी थी। आठ दस तुर्की सैनिक उन का या उन की पासपोर्ट का निरीक्षण कर रहे थे। जिस की आयु के विषय म उन्हे सन्देह होता, उसे वे अलग कर लेते थे, और बाकी उन की अनुमति ले कर सामने जुटी हुई अमरीकन डोंगियो मे बैठ कर जहाजों की ओर चले जा रहे थे··

कार्ल और आरोरा भी उसी कतार मे जा कर खडे हो गये और बिना उत्साह, बिना औत्सुक्य के जहाजों के मस्तूलों की ओर देखने लगे···

7

एटनी फिर छत पर खडा था। आग अब बहुत पास आ गयी थी, एटनी के माथे पर उस के ताप से जो स्वेद-बिन्दु उत्पन्न होते, साथ ही उसी के ताप के कारण सूखते भी जा रहे थे···

उस के एक हाथ मे लिफाफा था, और दूसरे मे एक छोटा-सा पत्र ·

"तुमने मेरा अपमान किया है, मैं इसी लिए तुम्हें छोड कर चली जा रही हूँ। क्रोध मे जा रही हूँ—ऐसे ही वियोग सह्य हो सकेगा। बाद—बहुत बाद—रो लेंगे, जब क्रान्ति हो चुकेगी।

"लिफाफे मे अपने बालो की एक लट काट कर रख जाती हूँ। मैं क्रान्ति की हूँ, तो इसे तो रख ही लेना।"

पत्र एटनी के हाथ से गिर पडा। उस ने लिफाफे मे से वह सुनहली लट

निकाली और विमनस्क भाव से बार बार उस अपनी उगली पर लपेटन और खोलने लगा

फिर एकाएक रुक कर उस न पत्र उठाया उस म लट लपेट कर लिफाफे म डाली और लिफाफा अन्दर की जेब म रख लिया

फिर वह उतर कर घर म आया और डायरी न कर लिखने बैठ गया

जीवन तीव्र और अनवरुद्ध गति से आगे बढता जा रहा है, और मैं मूख की तरह उस के साथ कदम मिला कर चलने की निष्फल चेष्टा कर रहा हू पैदल आदमी सरपट दौडते घोडे से कदम मिलाये

पर क्या ? जीवन के साथ नही चल सकता तो जिधर जीवन की गति है उस दिशा म तो जा सकता हूँ मैंने आरोरा को स्वेच्छा स जाने दिया है —स्वय भेजा है

प्राण अभी तक रोत है आरोरा आरोरा ! पर मैंने उस छोड दिया है—इतना ही नही वह भी मुझ छाड कर चली गयी है

मैंन अपने सामथ्य के पर हाथ बढाया था—पर बिना अपने सामथ्य के परे हाथ बढाये क्रांति नहा हो सकती

मरा जीवन सम्पूण हो गया है। आरोरा मैं तुम न विदा लेता हूँ। पर —अब तुम मेरी कौन हो जिस स विदा लू ?

नही अभी मरा एक काम बाकी है—अभी क्रांति सम्पूण नही हुइ मै बलिदान कर चुका हू पर अभी प्रसाद नही मिला

8

आग स्मर्ना नगर का विनाश कर क बुझ चुकी थी।

क्रांति की ज्वाला मिटिलीनी टापू से बढती हुई ग्रीस भर म फैल चुकी थी। कास्टैंटाइन देश को छोड कर भाग गया था। हवाई जहाज आ कर नयी सरकार के फरमान बाट गये थे

किन्तु आग स बचे हुए लोग अभी स्मर्ना मे दव विधि के विधान की प्रतीक्षा कर रहे थे

और क्रांति की ज्वाला म बचे हुए क्रांति शत्रु अभी तक षडयन्त्र रच रहे थे

और विजयी तुर्क, विजय से सन्तुष्ट न न हो कर, बन्दरगाह पर एकत्र हो कर पानी में काँटे डाल रहे थे—डूबे हुए ग्रीक शवों को खीच-खींच कर निकालने के लिए—उन के शरीरों पर आभूषण, धन, कपड़े तक उतार लेने के लिए ·

नभ में उषा नाच रही थी।

एटनी बन्दरगाह पर पोर्ट-भवन के बाहर खड़ा एक फेहरिस्त देख रहा था जो कि उसी वक्त लगायी गयी थी। यह क्रान्ति पक्ष की आहुतियों की सूची थी।

एटनी के पैरों में साकलें पड़ी हुई थी—वह तुर्कों का युद्ध-बन्दी था और भाग कर यहाँ आया था। एटनी का शरीर थकान से चूर हो रहा था, मुख क्लेश और दुःख से पीला पड़ गया था—वह स्मर्ना से अगोरा की सड़क पर और कैदियों के साथ कुली के काम में लगाया गया था। एटनी का अपना कोई नहीं था जिस की वह चिन्ता करता, पर इतने दिनों में कार्ल का कोई समाचार नहीं आया था · और आरोरा का पता नहीं था

एटनी की दृष्टि एक नाम पर अटक गयी, पर न जाने क्यों उसे कोई धक्का नहीं लगा, विस्मय भी नहीं हुआ··

'एटनी स्टेरास, मिटिलीनी के विद्रोह के समय हवाई जहाज़ के गिर जाने से, 2 अक्टूबर।'

एटनी ने शून्य भाव से कहा, "कार्ल·· " और फिर निरुद्देश्य-सा आगे पढ़ने लगा···

'नामहीन मृत्युएँ

कियोस द्वीप में, सैनिक बारक में, एक पुरुष, आयु लगभग 23, मृत्यु का कारण अज्ञात· मैसिडोनिया में– थ्रेस में ··सालोनिका बंदरगाह पर–···'

एटनी चौंक कर रुक गया—फिर एक साँस में तेज़ी से पढ़ गया

'एक युवती, आयु लगभग सत्रह वर्ष, कपड़ों में एक पुराना पासपोर्ट है जिस में एटनी स्टेरास का नाम लिखा हुआ है। युवती के शरीर पर आठ गोलियों के घाव हैं। सालोनिका में हेजानेस्टीज़ की सेना के कुछ बचे एकतन्त्र-वादियों ने जो गुप्त ट्रिब्युनल खड़ा किया था, यह उसी का काम है। ये व्यक्ति अब कोर्टमार्शल कर दिये गये हैं।'

एटनी धीरे धीरे वहाँ से हट कर घाट के सिरे पर आ गया "यहाँ उस की ओर ध्यान देने वाला कोई नहीं था, केवल पाँच सात तुर्क पानी से मुर्दे निकाल रहे थे

एटनी ने जेब में से अपनी डायरी निकाली। क्षण-भर उस की ओर देखता रहा। फिर उस ने वह पृष्ठ निकाला जहाँ उस ने अपनी प्रतिज्ञा लिखी थी, और एक बार प्रतिज्ञा पढ गया—'मैं, एण्टनी स्टेराम, प्रतिज्ञा करता हूँ '

फिर एकाएक बोला, 'एण्टनी स्टेराम तो मर चुका।"

और डायरी समुद्र मे फेंक दी।

फिर उस ने जेब म से एक लिफाफा निकाल कर उस म से बालो की एक लट निकाली। नवोदित सूर्य्य की किरणो मे उस का सुनहलापन और भी अधिक शोभित हो गया था। एटनी कुछ देर उस सूँघता रहा। फिर उस ने उस का एक बाल निकाला और उसे सूर्य्य के सामने रख कर क्षण भर देखता रहा—और फिर छोड कर समुद्र की ओर उडा दिया

इसी प्रकार एक के बाद एक, एक के बाद एक, बाल

जब सब समाप्त हो गये, तब धीरे से बोला मेरी आरोरा गयी अब क्रान्ति की आरोरा है "

आकाश म हवाई जहाज मँडरा रहा था, उस से परचे गिराये जा रहे थ। दो-चार लोग चिल्ला रहे थे सुनो, सुनो, ग्रीस के सब राजबन्दी छूट गय "

एटनी ने एक लम्बी साँस ली और धीरे धीरे नगर पार कर बडे फाटक पर पहुँचा। यहाँ उस ने एक बार घूम कर स्मर्ना नगर के भग्नावशेषो को देखा फिर अभिमान स सिर ऊँचा उठा कर साँकल झनकाता हुआ आगे चल पडा—उसी पथ पर जिस पर से वह एक बार पहले दिग्विजय का भक्त और साम्राज्य का आकाक्षी हो कर गुजरा था, और जिस पर अब उस के लिए एक-मात्र आशा तुर्कों के हाथ प्राण दण्ड की आशा थी—तुर्की राज्य की राजधानी अगोरा के पथ पर

दारोगा अमीचन्द

यों तो जिस जेल यह की बात है उस का नाम मैं बता देता, पर मुश्किल यह है कि उस के साथ फिर दारोगा का नाम भी बताना पड़ेगा या आप खुद पता लगा लेंगे, और एक कहानी के नाम पर किसी को दुःख देना मुझे ठीक नहीं जान पड़ता, फिर चाहे कहानी सच्ची ही क्यों न हो। इतना कह सकता हूँ कि बात सन् चौंतीस की है, जब देश-भर की जेलें दूसरी बार खचाखच भर रही थीं, और ए, बी, सी क्लासों में बँट कर, अलग-अलग दलों के बिल्ले लगा कर भी बहुत-से असन्तुष्ट आन्दोलक 'सियासी' के नाम के द्वारा एक बिरादरी में शामिल हो कर अपने दिन बिता रहे थे।

कहने को कह लीजिए कि वह हज़ारा की जेल थी, क्यों कि हज़ारा जेल पंजाब की शायद सब से बड़ी जेल थी—और सच को छिपाना ही हो तो उसे झूठ में नहीं, बड़प्पन में छिपाना ज़रा भला मालूम होता है। मैं हज़ारा जेल में नया नया आया था। तब तक 'बी' क्लास ले कर लाहौर की जेल में सूने मगर आराम के दिन काटता रहा था, एक बार सूनेपन से ऊब कर कुछ झगड़ा कर बैठा तो 'सी' क्लास हो गयी और तब मैं हरिपुर हज़ारा की जेल भेज दिया गया। मैंने सोचा कि चलो, आराम गया तो सूनापन भी जायेगा, जीवन में कुछ गति आयगी, हज़ारा की बड़ी जेल में कुछ रंगीनी तो होगी— कहीं अधिक स्याह रंग होंगे तो कहीं लाल उजला-नौरंगी रंग भी तो उभरेगा ही! और इस में मुझे निराश नहीं होना पड़ा। यों तो रंगीनी की मुझे सिर्फ आशा थी और स्याहपन का पक्का विश्वास, क्यों कि हज़ारा के नये दारोगा साहब, जिन की बात सुना रहा हूँ, एक नम्बर ज़ालिम मशहूर थे। अटक जेल में मार्शल लॉ के पुराने क़ैदियों के साथ उन्होंने जो जो ज़्यादतियाँ की थीं, उसे

पजाब-भर की जेलो मे लोग जानते थे, और उन्हीं के कारण दारोगा का नाम दारोगा अमीचन्द अटकवाला हो गया था, यद्यपि उन की बदौलत अब वह दारोगा से बढ कर डिप्टी साहब हो गये और राय साहब का खिताब भी उन्हे मिल चुका था। यह भी सुना जाता है कि ब्रिटिश एम्पायर का आर्डर भी उन्हें शीघ्र मिलने वाला है! इन्ही दारोगा साहब की वजह से अटक जेल का भी आतक सूबे-भर मे फैल गया था, जिस को अटक भेजा जाता था वह समझ लेता था कि उसे द्वीपान्तरित किये बगैर कालेपानी भेजा जा रहा है, और जो सुनता था, जान लेता था कि जिसे भेजा गया है, वह या तो कोई बडा दबग और खतरनाक सियासी कैदी है जिस के आत्माभिमान को सरकार जैसे भी हो तोडना चाहती है, या फिर कोई ऐसा दुष्ट और लाइलाज इखलाकी जिसे सब सजाएँ दे कर जेल वाले हार गये हो, यानी जो जेल के मुहावरे मे 'खलीफा' हो चुका हो। अटक जेल की जिन बारको मे खलीफा को रखा जाता था, उन क बडे हौलनाक वणन पजाब की जेलो मे प्रचलित थे, और उन के प्रचार से दारोगा अमीचन्द का आतक और भी बढता जाता था।

दारोगा अमीचन्द की एक और बात भी मशहूर थी! वह यह कि उन का चेहरा ऐसा रोबीला है कि मामूली कैदी तो उन की शक्ल देख कर ही थर-थर काँप उठे, और कही किसी की ओर वह एक नजर देख दें तो बस उस के औसान खता हो जायें·

या अमीचन्द डोलडौल के साधारण थे। कद मँझला, पर अकड कर चलते थे, शरीर कुछ भारी पर चाल में कुछ ऐसा कसाव-छँटाव और फुर्ती कि जब वह परेड पर निरीक्षण के लिए आते तो कैदी मानो अकस्मात् ही आधा कदम पीछे हट जाते···

अमीचन्द थे तो खत्री, पर अपनी घनी मूँछें ऐसी उमेठ कर रखते थे कि ठाकुर ठकुराई भूल जाय। मोम लगा कर मूँछो की नोक का कसाव कुछ ऐसा तीखा रखते थे, मानो तारकशी का काम करने वाले किसी अच्छे कारीगर ने लोहे के तारो के लच्छे ले कर उन्हे बँट कर नोक दे दी हो · बात मशहूर थी कि दारोगा अपनी मूँछो को बँटते रहते है और तब तक सन्तुष्ट नही होते जब तक कि नीबू उठा कर मूँछो की नाक पर उस भोक कर तसल्ली न कर लें कि नीबू उस से आर-पार छिद जाता है। मानो कोई जल्लाद रोज़ किसी को सूली

र चढ़ा कर देखा करे कि वह ठीक जमी है कि नहीं ! लोग कहते ही तो थे, दारोगा अमीचन्द ! वह तो पूरा जल्लाद है उस की मूँछें नही देखी तुमने ?'

किस्सा कोताह, मैं जब हरिपुर पहुँचा तो दारोगा अमीचन्द वहाँ नये-नये तैनात हो कर आये थे। उन दिनों हजारा जेल में बहुत-से अकाली कैदी थे, बहुत दिनों से जेल वालों में इन की चल रही थी और सब जानते थे कि इन्हीं को ठीक करने के लिए अटक के जल्लाद को वहाँ भेजा गया है ! और इस चुनौती को अकालियों ने तत्काल स्वीकार कर लिया। जेल में तो यह ऊब से बचने का एक उपाय है, फिर अकाली तो अकाली ठहरे !

यों बात कुछ नहीं थी। अकाली लोग सवेरे खाने पर बैठे तो किसी एक अकाली की दाल की बाटी में कंकड़ निकले। दाल में कंकड़ निकलना साधारण बात ही माननी होगी फिर जेल की दाल, मगर वह तो ठननी थी, कोई हीला चाहिए था। अकालियों ने खाना छोड़ दिया, कहा कि अब तो रोटी वे तब खायेंगे जब दारोगा अमीचन्द आ कर मुआइना कर लें कि खाना कितना खराब है। और जब लड़ाई छिड़ ही गयी, तो फिर वाजिब और गैरवाजिब को कौन पूछता है ? लड़ाई में तो साधारण आदमी भी कुछ अनरीजनेबल हो जाते हैं —फिर चाहे गुरू का खालसा ! उन्होंने एक लम्बी सूची बनायी कि उन की क्या-क्या शिकायतें या कह लीजिए माँगें हैं, और जब तक वे पूरी न हों वे जेल की डिसिप्लिन न मानेंगे : हर अकाली को आधा-आधा सेर दूध मिले, रात को उन की कोठरियाँ खुली रहें, मशक्कत उन्हें न दी जाये, दाल की बजाय महापरसाद मिले छोटी बड़ी बीस-एक माँगें उन की तैयार हो गयीं···

उधर दारोगा भी अपना लोहा मनवाने को उतावले थे, उन्होंने कहलवा दिया कि कैदी कैदी हैं, उन्हें कोई फरियाद करनी हो तो परेड के दिन कर सकते हैं, धौंस कोई नहीं मानेगा और डिसिप्लिन न मानने पर सख्त कार्रवाई की जायगी।

बात बढ़ती ही गयी ! अकालियों को एक पर एक सजाएँ मिलने लगीं। धीरे-धीरे मामला जेल से बाहर फैलने लगा, और क्रमशः सूबे में यह बात फैल गयी कि अमीचन्द अटकवाला हजारा में नयी लड़ाई ले रहा है अकालियों से, अगर बात ने और तूल पकड़ा तो शायद लोग अमीचन्द न कह कर हजारेवाला

पड़ने लगेंगे। दारोगा अमीचन्द खुश थे। उन का छोटा-सा शरीर कुछ और भी अकड़ कर चलता; पेट की तोंद कुछ और भी रफ्तार की धार-सी तीखी नजर आती और मूँछों की ऐंठन तो ऐसी मानो नीबू तो क्या, अगर बिजौर की गोलियाँ भी होंगी तो बिंध जायेंगी।

लेकिन बात के फैलने के कुछ ऐसे ही असर हुए जिन के लिए दारोगा तैयार नहीं थे। सूबे-भर में उन का जो दबदबा था, जिस की वजह से उन्हें इन्स्पेक्टर जनरल भी जानते थे, उस का एक पहलू यह भी था कि एक महीना हो गया और अभी तक दारोगा अमीचन्द भी कैदियों का विद्रोह कुचल नहीं पाये। तब या तो वह काम में ढील देने लगे हैं, या फिर मामला ही कुछ संगीन है, हड़ताल या नहीं बलवे का है! इन्स्पेक्टर जनरल ने तय किया कि वह मुआइना के लिए आवेंगे, और जेल को सूचना दे दी गयी।

हम लोगों को यह बात तत्काल नहीं मालूम हुई। बल्कि हम से छिपाने की खास वजह थी। दारोगा साहब ने सोचा कि जहाँ मुआइना एक मुसीबत है वहाँ एक मौका भी है। अगर आई० जी० के आने पर वह उन्हें यह सूचित कर सकें कि बलवा उन्होंने शान्त कर दिया है, तो उन की सफलता दूनी होगी और उस का रौब भी सीधे आई० जी० पर काफी पड़ेगा—सामने-सामने की बात और होती है और किसी जिले से आयी हुई रिपोर्ट की बात और। मगर बलवा दबे, तो न! जुल्म तो उन्होंने बहुत कर लिये, अकालियों पर कोई असर ही नहीं हुआ। मानो गैंडे की पीठ पर कोड़े पड़ रहे हों—सौ पड़ें तो क्या और हजार पड़ें तो क्या!

सहसा ऐलान हुआ कि सवेरे परेड होगी, और डिप्टी साहब अकालियों के वार्ड में जावेंगे। अकाली कैदी तैयार हो गए कि शायद कोई नया अत्याचार होने वाला है।

मगर परेड में जा कर डिप्टी साहब ने कहा, "तुम लोग अभी झगड़ा कर के थके नहीं? क्या फायदा है और···जेल तो जेल है, यहाँ तो कानून मान के रहना पड़ेगा—क्यों मुसीबत उठाते हो?" उन की नजर कतार पर फिसली हुई एक जगह रुक गयी।

जिस पर रुकी, उस ने उत्तर दिया, "मुसीबत तो ऐसे भी है, वैसे भी, फिर क्यों न अकड़ कर रहा जाय?"

डिप्टी साहब की आँखें दबे गुस्से से छोटी छोटी हो आयी। मगर उन्होंने सम स्वर में कहा, "अच्छा, चलो, तुम लोगों ने बहुत दिखा लिया कि तुम अकाली हो, और मैं भी अटकवाला दारोगा अमीचन्द हूँ। अब काम की बात करो—तुम लोग क्या चाहते हो?"

दो-तीन कैदियों ने कहा, "हमारी माँगें आप को मालूम है, उन्हें पूरा कर दो, बस।"

'पूरी शर्तें तो खुदा की भी नहीं मानी जाती; तुम लोग आपस में सोच-विचार कर तै कर लो, और पाँच आदमियों का डेपुटेशन मेरे दफ्तर में भेज दो, मैं विचार कर के फैसला करूँगा।"

डिप्टी साहब चले गये। परेड बरखास्त हो गयी···उन की मूँछों की चम-कीली काली ऐंठन अकालियों के दिल में सूए-सी चुभती रही, पर उन्होंने पाँच पंचों को चुन कर बात-चीत चलाने का काम उन्हें सौंप दिया।

मसल मशहूर है, 'एक खालसा स्वा लाख'। फिर पाँच पंचों में अगर पच्चीस मन हो गये तो क्या अचम्भा? बड़ी देर चखचख चली। कुछ की राय थी कि दारोगा सीधे रास्ते पर आ रहा है, यानी माँगों में और नयी माँगें जोड़ कर जाना चाहिए। किसी का ख्याल था कि नहीं, समझौता करना चाहता है तो कुछ रियायत तो होनी ही चाहिए। बीच में कई तरह के मन थे। फिर यह भी सवाल था कि रियायत हो तो किस या किन शर्तों पर, इस के बारे में भी मतभेद था।

अन्त में एक बुजुर्ग ने कहा, "भाइयो, मेरी बात मानो तो मैं एक सलाह दूँ।"

सब ने पूछा, "क्या?"

"वह यह कि हम लोग अपनी सब माँगें वापस ले लें, दारोगा से कहें कि जाओ, हमने तुम्हें बख्शा। जा मुलह करने आवे उन से बनिये की तरह मोल-तोल नहीं करना चाहिए।"

सब लोग अचकचा कर बूढ़े सरदार की ओर देखने लगे। क्या महीने-भर का सब संघर्ष व्यर्थ जायेगा? जितनी सजाएँ, जितने अपमान उन्होंने सहे थे एक बार उन की आँखों के आगे दौड़ गया। एक ने कहा ही, "आप से इस की तवक्को नहीं थी।"

बूढ़े ने अविचलित भाव से कहा, "सिर्फ एक बात हम अपनी तरफ से रखें।"

"वह क्या ?"

"वह यह कि हमारा दारोगा से कोई झगड़ा नहीं है, मगर वह भी हम पर हेकड़ी जताना छोड़ दे। बस एक बार वह हमारे सामने अपनी मूँछें नीची कर ले, फिर हम उस के सब कायदे-कानून मान लेंगे।"

बात बिल्कुल अप्रत्याशित थी। सब थोड़ी देर चुप रहे। फिर किसी ने कहा, "हम को तो बात नहीं जँचती—लड़ाई को बीच में नहीं छोड़ना चाहिए। दारोगा का क्या है, कल को फिर मुकर जाय तो सारी तकलीफें फिरशुरू से उठानी पड़ें—"

बूढ़े ने कहा, "वह बात तो शर्तें मनवान पर भी हो सकती है—आज मान लें, कल मुकर जाय तो फिर भूख-हड़ताल हो।"

"मगर लड़ाई बीच में छोड़ना तो खालसे का काम नहीं।"

"पर सरन आये दुश्मन को दबाना भी तो ठीक नहीं। मैं तो कहता हूँ कि एक बार आजमा कर तो देखो।"

अन्त में बात मान ली गयी। पाँच का भी डेपुटेशन नहीं गया, केवल बूढ़ा सरदार अकेला भेजा गया। दफ्तर में जा कर उस ने कहा, "डिप्टी साहब आप सुलह करना चाहते हैं तो हम भी राजी हैं। हम अपनी सब माँगें वापस लेते हैं।'

डिप्टी साहब ने कुछ अचम्भे में, मगर अपनी खुशी को भी छिपाते हुए कहा, 'क्या ? वैसे चाहिए यही, जो काम लड़ कर नहीं होता वह दब कर रहने में होता है। तुम राय साहब अमीचन्द को जानते नहीं। मैं कानून-वानून की परवाह नहीं करता। मैं चाहूँ तो तुम्हारी बैरक में पीपे के पीपे घी के भिजवा दूँ—चन्दन के बाग लगवा दूँ—हाँ, चन्दन के बाग।"

'हमारी दरखास्त सिर्फ इतनी है कि आप हमारे सामने एक बार अपनी मूँछें नीची कर लें।"

"क्या ?" दारोगा साहब की त्यौरियाँ चढ़ गयीं। मगर सामने शायद आई० जी० के दौरे का प्रोग्राम रखा था, तुरन्त ही सँभल कर बोले, "तुम जा सकते हो, तुम्हारी दरखास्त पर गौर करूँगा।"

दूसरे दिन सवेरे-सवेरे, जब पौ फटने के बाद जमादार ताले खड़का कर देख कर सब अच्छा !' चिल्लाकर अभी गये ही थे—बारकों की कोठरियों के दरवाजे अभी खुले नहीं थे —दारोगा अमीचन्द सहसा अकालियों की बारक के फाटक पर पहुँचे। चारों ओर सन्नाटा था, दारोगा के साथ कोई अमला नहीं था यहां तक कि चाभियां लिये चीफ हेडवार्डर भी नहीं। फाटक पर खड़े होते ही अकालियों के पंच भीतर उन के सामने आ गये।

दारोगा ने कहा "तुम लोगों की दरख्वास्त पर हमने विचार कर लिया। हम तुम्हें आखिर साथ रहना है— न तुम जेल छोड़ कर भागे जा रहे हो, न हमीं सर्विस छोड़ कर जा रहे हैं। फिर हेकड़ी की क्या बात ? आपस में तो खींचतान होती ही रहती है, उस से कोई छोटा थोड़े ही हो जाता है ? कभी हमने दबा लिया, तुम दब गये, कभी तुमने ज़ोर मारा तो हमने पैंतरा बदल लिया। कभी हमने तुम्हारी गर्दन नाप ली, कभी तुम्हारे सामने हमने मूँछें नीची कर लीं—" कहते कहते उन्होंने हाथ उठाया, अँगूठे और उँगली से मूँछों की नोकें दबायीं और गालों पर उन्हें मलते हुए नीचे को मोड़ दिया। ऐंठन के बल तो भला क्या मिटते, पर माम तो था ही, मूँछों के दायें बायें दोनों गुच्छे ऐसे हो गये मानो फुलचुही-सी बहुत छोटी मगर काली चिड़िया कीड़ा-बीड़ा पकड़ने को चोंच भुकाये हो। दारोगा ने कहा, "लो—इस से कुछ आता-जाता थोड़े ही है ? बस, अब हमारी सुलह, मैं अभी जमादार को भेजता हूँ कि बारक खोल दे—"

कहते-कहते वह लौट पड़े। अहाते के फाटक तक पहुँचने के पहले ही उन्होंने मूँछें फिर ऐंठ कर पूर्ववत् कर ली थीं, एक हल्की-सी मुस्कान ओठों के कोनों को उभार कर मूँछों की ऐंठन को और बल दे रही थी। मन-ही-मन दारोगा साहब अपनी पीठ ठोंक रहे थे—किस सफाई से हँसी हँसी में उन्होंने सारी बात ही उड़ा दी—शर्त भी पूरी हो गयी, कुछ बिगड़ा भी नहीं, तीन दिन बाद आ कर आई० जी० देखेगा कि जेल में बिल्कुल शान्ति है, राय साहब अमीचन्द के दबदबे के मुताबिक ही सब काम कायदे से और मुस्तैदी से हो रहा है। जब परेड लगेगी और दूसरे क़ैदियों की तरह अकाली भी कतार बाँध कर खड़े होंगे, वह आई० जी० को उन के सामने गुज़रते हुए कहेंगे कि इन लोगों का मामला अब 'सेटल' हो गया है और सब जेल की डिसिप्लिन

मान रहे हैं, तब किसी बड़ी विजय का दान होगा यह···

उधर अपराधियों की कतार में कुछ कैदी चुके गरदन की ओर एकटक देख रहे थे। उन की आँखों में प्रश्न था—क्या यहीं बात थी, बस ? इस में मर्दों का विजय का सुख, या कि मसखरी की भी शान्ति ! दारोगा अमीचन्द को उन्हें बता कर चला गया।

कहानी तो इतनी ही है। लेकिन बात इस से आगे भी है। दारोगा अमी ड्योढ़ी तक नहीं पहुँचे होंगे कि हर दूसरी सिपाही बारक में यह खबर फैल गयी, दारोगा अमीचन्द ने अपराधियों के सामने मूँछ नीची कर ली। और शाम गुनती से पहले जेल में सारे छ हज़ार कैदियों को पता लग गया था कि दारोगा अमीचन्द अड़बंगे ने अपराधियों के सामने मूँछ नीची कर ली। दूसरे दिन आई० जी० के दौरे का ऐलान हुआ और तैयारी की परेड हुई, राय साहब अमीचन्द कतार देखते गुज़र रहे थे कि एक कैदी ने हाथ उठा कर नाक के दोनों ओर अगूठा और उँगली जमा कर धीरे-धीरे ओठों के कोनों तक खींचे, जैसे कोई पसीना पोंछने के लिए करे, और उस की इस हरकत पर सारी परेड के चेहरों पर एक मुस्कान दौड़ गयी।

राय साहब अमीचन्द ने सहसा कड़े पड़ कर रूखे स्वर में पूछा 'क्या है ?' जिस सुर पर अदब के सलीक़ाओं की रूहें काँप जाती थीं। किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया। केवल कुछ आगे एक दूसरी जगह एक कैदी ने वैसी ही हरकत की, और अब की बार हँसी और भी स्पष्ट हो गयी।

दारोगा साहब बड़ा कड़ा चेहरा बनाये जल्दी में मुआइना समाप्त कर के चले गये।

लेकिन तीसरे दिन जब आई० जी० आये और परेड की बिल्कुल सीधी कतारों के सामने से गुज़रने लगे तो कई कैदियों ने एक साथ नाक के आस-पास पसीना पोंछा, और एक चौड़ी रुपहली हँसी कई कतारों के चेहरे खिला गयी।

आई० जी० ने पूछा, 'राय साहब अमीचन्द, क्या बात है—आप की जेल की डिसिप्लिन बड़ी ढीली है—"

राय साहब ने डूबते-से स्वर में कहा "सर, इस मामले पर दफ्तर में—मुझे कुछ कानफिडेंशल"—और रह गये।

आई० जी० ने कहा, "हूँ"। फिर मानो यह ध्यान कर के कि राय साहब

के अनुशासन की पुष्ट् करना चाहिए, उन्होंने फिर कहा, "आफ कोर्स ! वही बातें होंगी ।"

आई० जी० के जाने के एक हफ्ते बाद दारोगा अमीचन्द की बदली का आर्डर आ गया, क्यो कि हजारा जेल की डिसिप्लिन बिगड रही थी । उन्हे मुल्तान भेजा गया । पर वे वहाँ पहुँचे तो कैदियो को पहले से खबर थी—वह राय साहब अमीचन्द अटकवाले की नहीं, उस दारोगा की प्रतीक्षा कर रहे थे जिस न हजारा मे कैदियो के आगे मूँछें नीची कर ली थी । जल्दी ही वहाँ से उन की बदली हुई, पर जहाँ भी वह गये, उन की कीर्ति उन से पहले पहुँची, और कैदियो का अनुशासन उन से नही बन पडा । अन्त मे डिप्टी से फिर दारोगा हो कर वह एक छोटी जिला-जेल के इनचार्ज बनाये गये, मगर पजाब-भर मे ऐसी कोई जेल नही थी जिसे मूँछों वाला किस्सा न मालूम हो । हार कर दारोगा साहब ने रिटायर किये जाने की दरखास्त दी, और दारोगा के पद स ही पेंशन ले कर चले गये ।

मैं जब जेल से छूट कर आया, तब वह सर्विस छोड गये थे । कहाँ, किस उपेक्षित कोने मे उन्हे मुँह छिपाने लायक जगह मिली, यह पता नहीं । कैदियो के लिए चन्दन के बाग तो क्या, अपने लिए बबूल की छाँह भी बेचारे पा सके या नहीं, नहीं मालूम । जेलो के खलीफा भी बडी जल्दी उन का नाम तक भूल गये । लेकिन आज भी अगर कोई नये इकबारे कैदी से भी पूछे तो वह मुस्करा कर सिर हिला देगा कि हाँ, उसे उस दारोगा की बात मालूम है जिस ने कैदियो के सामने मूँछें नीची कर ली थी ।

कड़ियाँ



प्रभात तो नित्य ही होता है, किन्तु ऐसा प्रभात ! सत्य को जान पड़ रहा है, उस ने वर्षों बाद ऐसा प्रभात देखा है—शायद अपने जीवन में पहली बार देखा है। उस में कोई नूतनता नहीं है, कोई विशेषता नहीं है, और वह चिर-नूतन है, अत्यन्त विशिष्ट है...

आज उसे दिल्ली से मेरठ ले जायेंगे, वहाँ से उस की कल रिहाई होनी है। सत्य तीन वर्ष से दिल्ली-जेल में पड़ा है। उसे कांग्रेस-आन्दोलन के सम्बन्ध में सज़ा हुई थी—एक सभा का प्रधानत्व ग्रहण करने के लिए। उस दिन से वह वहाँ बैठा अपने दिन गिन रहा था—और अपनी मशक्कत कर रहा था। उस के लिए प्रभात में कोई विशेषता नहीं होती थी। जेल में प्रभात क्या है ? मशक्कत करने का एक और दिन।

पर आज ! आज वह जेल से निकल कर लारी में बैठा है। वह पुलिस वालों से घिरा हुआ है, पर जेल की दीवारों से बाहर तो है ! वह अभी तक कैदी है, पर कल तो नहीं रहेगा ! और कल·· कल उस से कौन-कौन नहीं मिलने आयेगा ! तीन वर्ष तक वह अकेला पड़ा रहा है, पर कल ! जो उसे तीन वर्ष से भूल हुए हैं, कल उन्हें याद आयेगा कि उन का एक मित्र कभी जेल गया था और अब ख्याति पा कर निकला है ! कल वे उसे घेर-घेर कर कहेंगे, तुम्हारे बिना हमारा जीवन निस्सार था। तुम देश के उद्धारकर्ताओं में से एक हो—भारत माता के सुपुत्र। तुम्हारी देश को बहुत आवश्यकता है। और वह गौरव से कहेगा अभी मैं और बीस दफे जेल जा सकता हूँ—जाऊँगा। अभी तो मैंने कर ही क्या पाया हूँ।

क्योंकि जो कोई नैतिक जुर्म करे, वह तो दोषी ही होता है, पर जो राजनैतिक कार्य करे, उस का तो गौरव बढ़ना ही

चाहिए···

सत्य प्रभातकालीन सूर्य मे यही गौरव का स्वप्न देख रहा है। इसी लिए उसे जान पडता है, ऐसा प्रभात कभी नही हुआ ! क्योंकि आज तो सूर्य मानो उसी के तेज से चमक रहा है—मानो उसी का पथ आलोकित करने को निकला है।

लारी चली। कोटले के पास से घूम कर वह जमुना के किनारे हो ली। वह सामने बिजलीघर है—अरे, यह कहाँ तक पानी भर आया है ! सुना तो था कि नदी मे बाढ आई है, पर इतना पानी ! सडक से कुछ ही दूर रह गया है, तमाम खेत भर रहे है, मकई गल गल कर गिर रही है—बेचारे किसान अपने फूस के छप्पर उठा-उठा कर सडक पर ले आये है ··

हाय गरीबी ! देखो, ये लोग कैसे डिब्बो मे भरे अचार की तरह भिच रहे है · और आसपास ही इन के पशु खडे हैं लडके लडकिया रो रही है—खाने को नही है—और कभी जब कोई भाग्यशालिनी माँ अपनी बच्ची को एक रोटी का टुकडा ऐसे ला कर देती है, मानो स्वर्ग की सारी विभूति छीन लायी हो और उसे दे रही हो, तब दूसरे भूखे बच्चो की मुग्ध आँखो के आगे ही कोई कुत्ता आ कर उस टुकडे को छीन ले जाता है ! उस मे टुकडे की रक्षा करने की शक्ति नही है—भूखा मानव भूखे कुत्ते से भी कमजोर होता है ··

पर इन का जीवन कितना सरल होता है ! दिन-भर भूखे रहते है, दुख झेलते हैं, रोते-कलपते है, किन्तु जब रात को सोने लगते है, तब शान्त और सन्तुष्ट ! इन का जीवन कैसा सदा प्रेम से भरा रहता होगा—इन के जीवन म तो एक ही भावना होती होगी—प्रेम की। लोभ, मोह और क्रोध के लिए इन म स्थान कहाँ होगा ? और मैं इन की सेवा करूँगा, इन का स्नेह पाऊँगा ··

अब छूट कर इन्ही पीडितो की सेवा करनी है। अब की ऐसा यत्न करूँगा कि अपने राजनैतिक कार्य के साथ-साथ कुछ समाज-सेवा भी कर सकूँ। बाद मे इन लोगो को उबारने के लिए चन्दा इकट्ठा करना होगा···

लारी तेज गति से चली जा रही है मेरठ की ओर, और सत्य का मन उस से भी तेज गति म चला जा रहा है मेरठ से भी आगे के भविष्य की ओर···

यह क्या है ? वह कौन है ?

सत्य देखता है—एक अधेड उम्र का आदमी, नगे-बदन, हाथ में लाठी

लिये दौड़ा जा रहा है, और बीच-बीच में एक बीभत्स हँसी हँस कर कहता जाता है, 'वह पाया! तेरी—!' और उस से कोई आठ दस गज आगे एक देहाती युवती है—भय, पीड़ा, लज्जा, करुणा और एक अवर्ण्य भावना—एक बलिदान या अभिमान या दोनों की मुद्रा का एक जीवित पुंज लँहगे की परिमा में सिमट कर भागा जा रहा है। भागा जा रहा है जान ले कर। ओढ़नी का पता नहीं है बाल खुल गये है, बड़ी-बड़ी आँखें फटी जा रही हैं—भूखा शरीर पता नहीं कैसे लँहगे का बोझ सँभाले हुए है—जब वह उछलती है, तो लँहगा कुछ उठ जाता है, घुटने तक उस की टाँगें दीख जाती हैं—टाँगें भी पतली, वर्मों की सूखी!—और पैर में चाँदी के कड़ों के नीचे खून लग रहा है, पर वे थमते नहीं—जमीन पर भी टिकते नहीं, शिकार और शिकारी का अन्तर कम नहीं होता·

लारी उस युवती से आगे निकल गयी है—सत्य गर्दन मोड़ कर देख रहा है··

यह क्या लाठी फेंकेगा? वह औरत है, या दानवी? एक उछाल—सत्य ने देखा, अब की क्षण-भर के लिए घुटनों से भी बहुत ऊपर तक लँहगा उठ गया है—वह कूद पड़ी है जमुना की बाढ़ में—वह गिरी—ओफ! यह तो काँटों की एक बड़ी झाड़ी में गिरी और धँस गयी—जब तक निकलने की चेष्टा करेगी, तब तक पानी और कीच में डूब जायगी?—कैसी घुट-घुट कर!—और काँटे·

पर अब कुछ नहीं दीखता। लारी आगे निकल आयी है। केवल लारी के पहियों से उठी हुई धूल। और सरकंडे के झुरमुट। और लम्बे-लम्बे घने झाऊ। और कहीं कहीं थोड़े-से नरसल। और एक अर्जुन के पेड़ पर से उड़ा जा रहा नीलकंठ। और जमुना का प्रवाह—एक साथ ही क्षुद्र और गम्भीर, प्रशान्त और उद्वेगपूर्ण।

लारी जमुना को पार कर रही है।

2

कहाँ गया वह उत्साह? कहाँ गया वह प्रभात का सौन्दय? कहाँ गयी वह तीन वर्षों के बाद छूटने की उत्तेजना?

सत्य निष्प्रभ-सा लारी में बैठा है। उस की तनी हुई शिराएँ धीरे-धीरे ढीली पड़ रही हैं, और साथ-ही साथ उस की उत्तेजना और उस का उल्लास भी ठंडे होते जा रहे हैं। जिस गौरवपूर्ण सार्वजनिक जीवन की उस ने कल्पना की थी, उस में इस के लिए स्थान नहीं था—इस अनियन्त्रित उन्माद के लिए, जीवन के प्रति ऐसे उपेक्षापूर्ण त्याग के लिए—इस विशेष प्रकार की पीडा के लिए। और सब से बढ़ कर इस भयंकर निस्सहायता के लिए, जिस का उस ने आज लारी में बैठे-बैठे अनुभव किया, जिस के कारण उसे वह रोमांचकारी दृश्य देखना पड़ा··

वह कौन था? वह कौन थी? वह क्या था? सत्य इन प्रश्नों पर अपनी बुद्धि की कुल शक्ति खर्च कर चुका है, पर उस की समझ में कुछ नहीं आया। और जब तक वह समझ नहीं लेगा, उसे चैन नहीं मिलेगा··

नशा उतर गया है, उल्लास बैठ गया है, उत्तेजना ठंडी पड़ गयी है, पर नशे के बाद बदन टूटता है, उल्लास के बाद थकान आती है, उत्तेजना के बाद मूर्च्छा। सत्य के हाथ बहुत थोड़े-थोड़े काँप रहे हैं, और उस का मन उद्वेग से भर रहा है।

वह जो मैंने देखा, वह क्या हो रहा था? उस का और उस का क्या सम्बन्ध था? उस आदमी का मुँह जिस भाव से विकृत हो रहा था, वह क्रोध की ज्वाला थी, या वासना की, वह उस के शरीर पर अपनी क्रोधाग्नि शान्त करना चाहता था, या कामाग्नि? क्यों? वह कुमारी थी, या विवाहिता? (विधवा तो नहीं थी···')

जासूसों के सहायक की भाँति अनेक चलचित्र सत्य के सामने से एक एक कर के जा रहे थे। वह उस की स्त्री है, वह सती है, पर उस का पति उस पर सन्देह करता है। नहीं, वह असती है, और पकड़ी गयी है। वह किसी और की स्त्री है, और उस के पास प्रेम का प्रस्ताव लिये आई है, यह धमका रहा है। वह अविवाहिता है, यह उस का प्रेमी, उस ने विश्वासघात किया है, यह बदला ले रहा है। वह इसे प्रेम नहीं करती, यह ईर्ष्या करता है···

नहीं, उस का दोष नहीं है। उस का पिता उस की शादी और कहीं करना चाहता है, वह आज्ञा मान लेती है, इस लिए इसे क्रोध आ गया है। तभी तो उस लड़की के मुख पर ऐसा विचित्र भाव था—जिस में साथ ही भय और

करुणा, ग्लानि और पीड़ा, और वह बलिदान और अभिमान का सम्मिश्रण हो रहा था।

यह तो तब भी हो सकता है, यदि वह बिलकुल अबोध बाला ही हो, प्रेम-व्यापार से अपरिचित, और वह कामी अपनी वासना की तृप्ति के लिए उसे अकेली पा कर पकड़ने दौड़ा है। यह भी हो सकता है—उस के मुख पर जो हिंस्र भाव था, वह क्रोध भी हो सकता है और उग्र दीप्त काम लिप्सा भी। और उस लड़की का· ·

उस का मुख, वह फटी-फटी-सी आँखें··

सत्य अपनी आँखें मूँद कर उस दृश्य का पुनर्निर्माण करने का यत्न करता है। पर, कल्पना में उसे उस लड़की का मुख क्यों नहीं दीखता ? वह सामने जमुना का बढ़ा हुआ गँदला पानी—वह सरकंडों के झुरमुट—ये कँटीली झाड़ियाँ— वह पीछे लाठी लिये दौड़ा आ रहा है—वह कूदी—उस के अस्त-व्यस्त कपड़े और बिखरे बाल—उड़ता हुआ लँहगा—सब-कुछ दीखता है, पर मुख क्यों नहीं याद आता ? सत्य खीझकर आँखें खोलता है, फिर बन्द कर के केवल उस के मुख पर ध्यान केन्द्रित करता है। पर वहाँ तो शून्य-ही-शून्य दीखता है, मुख नहीं। वह प्रकम्पित चोली, वह लँहगा—

नहीं, लँहगा-वहँगा कुछ नहीं सोचूँगा ! वह मुख !

सत्य फिर चेष्टा करता है। उस के लिए, वह बहुत धीमे स्वर में उस मुख की एक-एक विशेषता का वर्णन करता है, और उसे ध्यानावस्थित करके एक मूर्त्त आकार देने की चेष्टा करता है।

बिखरे हुए केश, रंग न साँवला, न गोरा, कुछ साँवलेपन की ओर अधिक, गठन न सुन्दर, न कुरूप, किन्तु एक अनिर्वचनीय लुनाई लिये हुए, भँवें मानो एक-दूसरे को छूने के लिए बाँहें फैला रही हों, आँखें—आँखें तो सोची ही जा सकती हैं, शब्दों में बँध नहीं सकतीं, नाक छोटी-सी थी, ओठ खुले, निचला ओठ कुछ भरा हुआ, कोने खिंचे और कुछ नीचे झुके हुए, कोने के पास—क्या तिल ? और ठोडी—

खाक-धूल ! सत्य का कल्पना-क्षेत्र तो वैसा ही शून्य है ! वह उस के मुख के एक-एक अंग की एक-एक खूबी का बखूबी वर्णन कर सकता है, पर उसके मूर्त्त चित्रण में उस की कल्पनाशक्ति जवाब दे जाती है।

वह झुंझला कर सोचता है, इस विषय को भुला दूंगा। वह मुँह फेर कर क पर भागती हुई लारी के इजन के बानेट (शीर्ष) पर लगे हुए गरुड़चिह्न ओर देखने लगता है। वह पीतल का गरुड़ पख फैलाये हुए ऐसा सन्नद्ध डा है, जैसे किसी शिकार पर झपट पड़ने की क्रिया मे ही रुक गया हो। या, जैसे वह स्त्री—बाढ के पानी म अधडूबी झाडी मे कूदते समय थी—ना हुआ शरीर, फैले हुए डैने की तरह लँहगा, नगी टाँगे···

छि !

मानो ससार म उन नगी टाँगो के अतिरिक्त कुछ रह ही न गया हो—यो बार-बार मेरी दृष्टि के आगे वे ही आ जाती है ? क्या इन दो-तीन वर्षों ? दूषित *वातावरण ने मेरे मन को भ्रष्ट, पतित, व्यभिचारी बना दिया है* ? मेरे मन को, जिसे अभी देश का इतना कार्य करना है, जो भारतमाता का सुपुत्र होने का दावा करता है ?

और सत्य का—भारतमाता के सुपुत्र सत्य का—ढीठ मन फिर भागा। अब की बार बडी दूर। सैकडो मीलो की मजिल मार कर, सैकडो दिनो का व्यवधान पार कर। तब जब सत्य ने नया-नया बी० ए० पास किया था और छुट्टियो के लिए काश्मीर जा रहा था। और किस सम्बन्ध से वह इतनी दूर भागा, यह वही जाने। सत्य तो नही जानता—अभी इस पर ध्यान देने की फुरसत भी कहाँ ? वह तो अभी कुछ और ही दृश्य देख रहा है। वह नही देख रहा, दृश्य स्वय ही बाढ की तरह उमडता हुआ उस की चेतना को परिप्लावित कर रहा है ··

3

मुज़फ्फराबाद की तलहटी मे दोपहर।

जेहलम और कृष्णगगा दोनों ही मे बाढ आयी है। दोनो ही के पुल खतरे मे हैं। जो लोग एबटाबाद से कश्मीर आते है, वे यही पर दोनो नदियाँ पार करते हैं, किन्तु पुल खतरे मे होने के कारण आजकल लारियाँ उन्हे पार नही कर सकतीं, इस लिए एबटाबाद की ओर से आने वाले यात्री दोनो पुल पैदल पार करते है और दुमेल म दूसरी लारियो मे बैठ कर कश्मीर जाते है। और जो लारियाँ कोहाला हो कर आती हैं, वे इन यात्रियो को लेने के लिए दुमेल मे

रुकी रहती हैं।

सत्य जिस लारी मे आया है, वह रात को दुमेल पहुँची थी और एक दिन दुमेल ही मे प्रतीक्षा मे रुकेगी। सत्य को कोई जल्दी नही थी, इस लिए वह इस प्रोग्राम का विरोध नही कर रहा है।

वह रात को अपनी छोटी दूरबीन, दो-तीन कम्बल, कमीज, निकर और तौलिया ले कर दुमेल मे जेहलम का पुल पार कर के दोनो नदियो के संगमस्थल के ऊपर त्रिकोण मे बसी हुई बस्ती मुजफ्फराबाद मे घुस गया था। उसे आशा थी, कही रात काटने का प्रबन्ध हो जायेगा। जब उस निराशा हुई, तब वह सडक पर से नीचे उतर कर कृष्णगंगा के तट पर पहुँचा। वही वह बिस्तर लगाने के योग्य कोई स्थान ढूँढ रहा था, तो उस ने देखा, वहाँ से कुछ ही दूर पर एक छोटे-से सोते के पास, जिस मे किसी वन्य-वृक्ष की आगे निकली हुई छाल पर से हो कर मोतियो की लडी-सी पानी की धार आ रही थी दो-चार बडी-बडी सिलें जोड कर एक चबूतरा-सा बनाया गया था। उस ने मन-ही मन सोचा, 'मुसलमानो की पाकगाह होगी', और वह उसी पर कम्बल बिछाकर पड गया।

वह थी कल की बात। सुबह वह उठा, तो देखा, उस झरने पर कई एक स्त्रियाँ पानी भरने के लिए जमा हो रही हैं। उसे उठा देख कर उन्होने लम्बे-लम्बे घूंघट तान लिये। सत्य थोडी देर उन्हे देखता रहा, फिर उठ कर घूमने लगा और आसपास लगी हुई जगली झरबेरियाँ बीन-बीन कर खाने लगा

अब तीसरे पहर वह दोबारा सो कर उठा है। जगली अखरोट के पेडो से छन कर आती हुई धूप मे दोपहर-भर सोने से उस के शरीर मे एक अपूर्व मस्ती छा गयी है। वह उठ कर नदी के किनारे पर बैठा है और नहाने का निश्चय कर के भी आलस किये जा रहा है—वह मस्ती इतनी मधुर मालूम हो रही है···

सत्य जहाँ बैठा है, वहाँ से कृष्णगंगा के श्याम और जेहलम के मटमैले पानी का संगम दीख पडता है। कृष्णगंगा के परली पार सत्य देख रहा है, पाँच-सात गूजरियाँ क्रीडा कर रही है। सत्य को उन के मुख स्पष्ट नही दीखते, पर फिर भी वह उन्हे अच्छी तरह देख सकता है।

सत्य कपडे उतार चुका है और पानी मे घुस गया है। वह किनारे के पास

ही ज्ल में बैठ गया है, उस का सिर-भर पानी के बाहर है। दूर से श्यामल पानी म शायद वह बिलकुल ही अदृश्य हो जाय।

गूजरियाँ भी नहाने की तैयारी कर रही हैं। उन्होंने परस्पर हँसी करते-करते कपडे उतार फेंके हैं, और रेत पर लेटी हुई धूप सेंक रही हैं।

सत्य पानी में बैठा हुआ उन्हें देख रहा है। वह अपना स्नान भूल गया है, किनारे से दूरबीन उठा कर देख रहा है। उसे क्षीण-सा ज्ञान है कि वह अच्छा नही कर रहा है; पर साथ ही यह विचार उसे प्रोत्साहन दे रहा है कि वह परले पार से नही दीखता। और फिर जब वे खुले-आम नहा रही हैं, तो अनेक लोग उन्हें देख रहे होंगे, वह अकेला थोडे ही है?

सत्य, तू कब तक ऐसा बैठा रहेगा? अपने जीवन की जिन दबी हुई शक्तियों को तू आज उन्मुक्त कर रहा है, वे कहीं तुझे ही न कुचल डालें···

ऊँह! वह देखो, गूजरियों के साथ दो छोटी-मोटी लडकियाँ है, किनने तीव्र स्वर से हँस रही हैं! सत्य को जान पडता है, या भ्रम होता है कि वह नदी के प्रवाह-मर्मर के ऊपर उस तीखे स्वर को सुन सकता है।

वह एक युवती उठ कर चट्टान पर खडी हुई है और सूर्य की ओर उन्मुख हो कर अँगडाई ले रही है मानो कोई वनसुन्दरी सूर्य को ललकार रही है—तू सुन्दर है या मैं? उस ने कन्धे पर अपना काला पैरहन रखा हुआ है, जिस के मुकाबले में उस का शरीर अत्यन्त गोरा जान पड रहा है।

बहुत देख लिया। वे शक्तियाँ तुझे नही छोडेंगी। तेरी मानवता पुकार रही है—तेरी दासताबद्ध स्वाभाविक कामनाएँ अत्यधिक नियन्त्रण के कारण और अधिक बलवती हो कर फूट निकली हैं! तू सँभल—इस अपूर्व उत्तेजना को दबा डाल!

और यह सोचते-सोचते उस ने दूरबीन किनारे पर रखी, एक लम्बी साँस ली और फिर गोता लगा गया। जब उस का सिर पानी से बाहर निकला, तब वह आधी से अधिक नदी पार कर आया था। उस ने पानी मे उछल कर साँस ली। उस की आँखों ने तब तक वह चट्टान खोज ली···

वह चौंकी—उस के ओठ कुछ खुल कर फिर एक भय और विस्मय की चीख को पी गये—उस का मुख क्षण ही में भय, लज्जा, शायद पीडा और एक साथ ही कोमल और कठोर अभिमान की छाया दिखा गया। उसी क्षण में

उस ने हाथ तनिक ऊपर उठाये और एडियो पर सध गयी। अगले क्षण सत्य ने देखा, मानो एक बडा-सा काला गरुड अपने डैने फैलाये उस चट्टान पर ँडरा रहा है—वह युवती पानी मे कूद पडी है और बैठ गयी है, और उस का काला पैरहन पानी पर तैर रहा है। और उसी क्षण मे सत्य झेंपा हुआ, लज्जित; पानी मे ही पसीना आ रहा है।

सत्य लडखडा कर गिरा। सैकडो मील, सैकडो दिन का व्यवधान पार करते हुए—मुज़फ्फराबाद से मेरठ ··

सत्य, भारतमाता का सुपुत्र, आवेश मे आ कर लारी मे ही खडा हो गया है। पुलिसवाले चौंक कर उस की ओर देखते है। वह घोर लज्जा का अनुभव कर रहा है —उस के माथे पर पसीना आ गया है।

और जिस चेहरे की कल्पना करने की चेष्टा मे उस ने इतनी शक्ति लगा दी थी, इतनी शक्ति लगा कर भी असफल रहा था, वह उस के सामने नाच रहा है। एक अकेला नही, हज़ारो। सत्य को देख पडनेवाला कुल वायुमडल ही सहस्रो वैसे चेहरो से भर गया है—वही बिखरे केश, मिलती भँवें, अनुपम आँखें, भरे ओठ, वही विचित्र मुद्रा। भय, लज्जा, पीडा, करुणा, ग्लानि। वह कोमल और कठोर बलिदान या अभिमान।

यह सब उस की उत्तेजना की उठान मे नही, किन्तु तब, जब भारतमाता का सुपुत्र आत्म-ग्लानि का पुज बन कर फिर बैठ गया है।

जिस चीज को मैं समझता था कि मैंने अपने आदर्श जीवन मे भुला दिया है, वह *अभी तक मेरे भीतर इतने उग्र रूप मे विद्यमान है—भारतमाता के* सुपुत्र ! देश के उद्धारकर्त्ता ! छि·छि !

छि !

4

रिहा तो हर हालत मे होना ही था, किन्तु सत्य जिस सुख और गौरव की कल्पना कर रहा था, उस का अणुमात्र भी उसे नही प्राप्त हुआ। जब भीड-की-भीड लोगो की उसे लेने आई, जब उस के 'इष्ट-मित्र' (जो तीन वर्ष तक उस की स्मृति को हृदय मे छिपाये बैठे थे) उसे बढावा देते हुए खीच कर ले गये और लारी म बिठा कर देहली चलने को हुए—उस के नाम के नारे लगाते

हुए—तब सत्य को ऐसा प्रतीत हुआ, वह बच नहीं सकेगा, लज्जा से वहीं धँस जायगा। उस के जी में आया, चिल्ला कर कहूँ—मैं अत्यन्त नीच, घृणित, पतित हूँ, मुझे धक्के दे-दे कर निकालो—नहीं, फिर वापस जेल भेज दो! मैं इसी योग्य हूँ। उसे जान पड़ा, अगर यह नहीं कहूँगा, तो जल जाऊँगा, ज्वालामुखी की तरह फट पड़ूँगा।

पर उस ने कहा नहीं। उस के मुँह से बोल नहीं निकला। केवल जब किसी ने पूछा—"आप को अभी से देश की चिन्ता लग गयी?" और सत्य ने देखा कि पूछने वाले की मुद्रा में व्यंग्य का नहीं, श्रद्धा का-सा भाव है, तब उस ने ग्लानि और क्रोध की पराकाष्ठा में, उसी को छिपाने के लिए, जैसा भी सूझा, अच्छा-बुरा, भद्दा मज़ाक करना शुरू किया, और फिर ऐसा चला कि बस रुकने में ही नहीं आया।

पर जमुना के पुल के पास पहुँचते-पहुँचते फिर वही हाल। सत्य चुप—गुम-सुम। लोग बात करते हैं, तो उत्तर नदारद—मानो सुना ही नहीं।

पुल पार करते ही सत्य ने कहा, "लारी रुकवाओ, उतरूँगा।"

दोस्तों ने विस्मित होकर कारण पूछा तो—किसी से इधर मिलने जाना है। शाम तक नहीं रुक सकता।

कोई साथ चले? नहीं, अकेले जायेंगे। प्राइवेट काम है।

लीडर के सौ खून माफ़। सत्य को उतार कर लारी आगे बढ़ी। सत्य जल्दी-जल्दी बेला रोड पर चलने लगा। न जाने किस आशा में उस ने इस पर कोई विचार नहीं किया था। वह चलता जा रहा था और उस की आँखें आस-पास किसी परिचित चिह्न की तलाश में फिरती थीं।

ये रहे सरसल—और वह रहा झाऊ—वह सामने सरकंडे का झुरमुट—मकई का तो वहाँ नाम निशान भी नहीं दीख पड़ता, वह तो बिलकुल बैठ गयी है। अब तक तो सड़ गयी होगी। और यह—

सत्य ठिठक गया।

यह सामने वही कँटीली झाड़ी है। आसपास कहीं कोई नहीं दीख पड़ता। दूर पर फूस के छप्पर पड़े हैं, पर उन के पास-पड़ोस में कोई मानवीय आकार नहीं दीखता। क्या करूँ? उतर कर देखूँ, झाड़ी में क्या है? अगर कुछ होता भी, तो अब तक कौन छोड़ेगा? शायद खून के कतरे—

नहीं, कुछ नहीं है। स्वप्न में भले ही आग देखी हो, दिन में उस का धुआँ भी नहीं नजर आता।

सत्य बैठा है। संसार अपनी अभ्यस्त गति से चला जा रहा है, पर सत्य के लिए नहीं। उस के लिए सृष्टि मर चुकी है। अब रह गया है वह और एक वायदा। एक वायदा जो कि पूरा नहीं हुआ। न होगा। न हो सकता है। वह अब वैसा ही है, जैसे कोई प्रेमिका मिलने का वचन दे कर मर गयी हो और उसका अभिसारी प्रतीक्षा में बैठा रहे। दिन, महीना, बरसों नहीं, अनन्त काल तक प्रतीक्षा में बैठा रहे···दिन ढल गया है, जमुना का गँदला पानी सान्ध्य धूप में ताँबे-सा दीख पड़ता है, और नरसल ऐसे, जैसे ताँबे को जंग लग गया हो; हवा चलने लगी है, और उस से पानी बुद्बिगत होते हुए 'घरं-घरं' शब्द के साथ ही नरसल और झाऊ की दर्द-भरी सरसराहट मिल गयी है, दूर कहीं से पक्षियों के रव से न छिप सकने वाली पड़कुलिया की पुकार कह रही है, 'तू-ही-तू!'—पर इस परिवर्तन में सत्य का संसार अपरिवर्तित खड़ा है—पत्थर पर लिखे हुए चित्र की तरह जड़!

वह जो बुड्ढा चला आ रहा है, सत्य ने उसे नहीं देखा, पर वह सत्य की ओर आ रहा है, बात करना चाहता है।

"बाबूजी, यहाँ क्या कर रहे हो?"

सत्य ने चौंक कर कहा, "क्यों?"

"बाबूजी, यहाँ मत बैठो, यह जगह अच्छी नहीं है।'

"क्यों?"

"क्या बताएँ बाबूजी, यहाँ तो कल गाँव के नाम को बट्टा लग चला था।"

सत्य जानता था कि यह भ्रम है, पर उसे मालूम हुआ, पानी से एक पुकार उठ रही है—"हाय मोहे बचइयो!" वह सम्हल कर बैठ गया और बोला, 'क्या बात हुई?"

"बात कुछ नहीं, खेत के बारे में कुछ झगड़ा हो गया था, उसी से लड़ाई हो गयी—"

"सो कैसे?"

बुड्ढे ने खँखार कर पूछा, "बाबूजी, आप तमाखू पीते हैं?" और जवाब पा कर थोड़ी देर चुप रह कर कहने लगा, "हमारे गाँव में एक ही बड़े किसान

हैं, बाकी हम तो सब गरीब लोग हैं। ये आसपास के सब खेत उन के ही हैं। हमारा तो कहीं एक आध खेत होगा। जब बाढ़ आयी, तो हम सब अपने छप्पर इधर सड़क पर ले आये। एक गरीब घर का छप्पर भी बह गया था। वे रात-भर भीगते बैठे रहे थे। उसके घर में एक लड़का बेराम था। उस की माँ रोती थी। बाप तो कहीं काम को गया हुआ था। घर में मर्द कोई था नहीं, एक अकेली बहू थी—उस से यह रोना देखा नहीं गया। वह सास से बोली कि मैं थोड़े झाऊ और नरसल ले आती हूँ, बच्चे के लिए छपरिया छा लेंगे। वह उठ कर—"

"तो और किसी ने उन्हें जगह नहीं दी ?"

"और कहाँ से देते ! वे सब तो आप भीग रहे थे—छप्परों में जगह कहाँ थी ? हाँ, तो वह हँसुई ले कर चल दी। पता नहीं, किधर गयी। हमने थोड़ी देर बाद सुना कि उस की चौधरी के बेटे से रार हो गयी है ! वह पूछ रहा है कि मेरे खेत से मकई काट रही है ? तो वह जवाब देती है कि मैं नरसल काटने आयी हूँ। वह गाली देता है कि साली, झूठ बोलती है, तो वह कहती है कि ज़बान सँभाल कर बात करो। वह और गाली देता है तो वह माँ-बहिन की याद दिला देती है।"

"पर मकई तो वैसे ही गल गयी, काम तो आती नहीं—?"

"बाबूजी, अपनी चीज़ सड़े तो, गले तो, अपनी ही है।"

"पर—"कह कर सत्य चुप हो गया। बुड्ढा फिर कहने लगा—"हाँ तो, थोड़ी देर में दोनों चुप हो गये—हम सोचते रहे कि क्या हुआ है। तब वह लौट आयी—थोड़े-से नरसल काट लाई थी—उस में दो चार पौधे शायद मकई के भी थे।"

"फिर ?"

"हमने बहू की सास से कहा कि उसे समझा दे, गाँव के चौधरी से रार करना अच्छा नहीं होता। बहू कुछ नहीं बोली। घूँघट काढ़ कर छपरिया छाने बैठ गयी। हमने समझा कि बात खतम हो गयी है।"

"फिर ?"

"तब भोर होने वाला था। बरसात बन्द हो चुकी थी। धूप निकल आयी तब हम बाहर निकलकर बदन सुखाने लगे। पर वे सास-बहू बैठी रहीं—

बहू अभी तक अपना काम किये जा रही थी। तभी हमने सुना, मास बड़े ज़ोर से चीख पड़ी ! बच्चा एक बार छटपटा कर मर गया···

"हम धीरे-धीरे उस के पास गये कि समझाएँ, दिलासा दें। बहू ने काम करना बन्द कर दिया; सन्न-सी वहीं बैठ रही। हम भी कुछ कह नहीं पाये थे, अभी चुप ही थे कि चौधरी का बेटा एक लाठी लिये आया और उसे देख कर बोला—"क्यों री, तू ही चुरा कर लायी थी न मकई ?" और कहते-कहते लाठी से उस की बनाई हुई अधूरी छपरिया को बिखेर दिया। उस में एक-आध पौधा मकई का दीख पड़ा, तो लाठी से बहू को धकेलते हुए बोला, 'अब क्यों बोल नहीं निकलता ?' और गन्दी गाली दी। तब बहू ने घूँघट हटा दिया और बोली—'चौधरी, अपना काम करो, गरीबों को सताना अच्छा नहीं।'

"चौधरी और भी गर्म हुआ। गालियाँ देने लगा और एक लाठी भी बहू की टाँग में जमा दी। बहू हमारी ओर देख कर बोली, 'तुम लोग देखते नहीं हो ?' पर हम सब ऐसे घबरा गये थे कि हिल-डुल भी न सके, बोले भी नहीं। इतनी देर में उस ने एक लाठी और मारी। बहू हटकर बची तो, पर उस के पैर में चोट लगी। तब वह भागी और चौधरी उसके पीछे पीछे।"

"फिर ?"

"हम वहीं बैठे रह गये—फिर क्या हुआ, हम ने नहीं देखा—"

सत्य को ऐसा हुआ, कहूँ, "मैंने देखा ! मैंने देखा" पर वह चुपचाप सुनता रहा।

"जब हमने फिर देखा, तो चौधरी इसी जगह खड़ा था। और वह वहीं झाड़ी में डूब रही थी। हमने मिलकर उसे निकाला, वह बेहोश थी। उस के कई जगह चोटें थीं, खून बह रहा था।"

"फिर ?"

"फिर हम उसे अस्पताल में ले गये। वहाँ पड़ी है। अभी तक होश नहीं आया। बचेगी नहीं।"

बुड्ढा चुप हो गया। थोड़ी देर बाद सत्य ने पूछा—"और चौधरी ?"

"चौधरी क्या ?" प्रश्न में ऐसा विस्मय था, मानो सत्य का प्रश्न उठ ही नहीं सकता—उस का उत्तर इतना स्वत सिद्ध है ! हाँ, चौधरी क्या ? चौधरी कुछ नहीं। वह तो चौधरी है ही।

बहुत देर मौन रहा। बुड्ढे ने देखा, सत्य चुप है, न-जाने किस विचार मे लीन है। वह निराश-सा हो कर वृद्धो के प्रति ससार की उपेक्षा का विचार कर के चला गया।

सूर्यास्त हो गया। अँधेरा हो गया। तारे निकल आये। पक्षियो का रव बन्द हो गया। पानी की घरघराहट और गम्भीर हो गयी पर मन्त्र का पत्थर मे खिंचा हुआ ससार नही पिघला—नही पिघला।

एक पत्थर का बुलबुला था, ठोस, अपरिवर्तित, मुर्दा। किन्तु बुलबुला होने के कारण वह जीवन की निरन्तर परिवर्तनशीलता, विचित्रता, रंगीनी और क्षुद्र नश्वरता का द्योतक बना रहता था। वह चिह्न था अनुभूति का, प्रेम का, उत्साह का, किन्तु उस की वास्तविकता थी छलना, वेदना, वज्र कठोरता, मानव के जीवन का नगापन···

वह बुलबुला फूट गया है, इस लिए उस का भेद खुल गया है। सत्य भी देख सकता है कि वह जीवन का सौन्दर्य नहीं, उस के पीछे निहित कठोरता है, वह पत्थर है जो नही पिघलेगा, नही पिघलेगा।

5

कहानी जीवन की प्रतिच्छाया है और जीवन स्वय एक अधूरी कहानी है, अधूरी कहानियो का सग्रह है, एक शिक्षा है, जो आयु-भर मिलती रहती है और कभी समाप्त नही होती। हमारी कहानी का भी सच्चा अन्त तो यही है। मुजफ्फराबाद वाली बात भी अधूरी, जमुना किनारे की बात भी अधूरी, देश-सेवा की बात भी अधूरी, जीवन ही अधूरा रह गया है·· पर, जिस प्रकार किसी लेखक की मृत्यु के बाद छपी हुई अधूरी कहानियो को पढ कर भी उस के जीवन की प्रगति का एक पूरा चित्र खीचा जा सकता है उसी प्रकार ससार की अपूर्ण विशालता मे, विशाल अपूर्णता मे भी एक तथ्य मिलता है, एक प्रवाह, एक तारतम्य, एक किसी निश्चित, परिपूर्ण फलन की ओर अग्रसर होती हुई अचूक प्रगति···

सत्य का स्वप्न बिखर गया है। उस की दबी हुई कामनाएँ और लिप्साएँ दबी ही रह गयी है। सत्य की बुद्धि ने उन्हें बाँध कर कुचल डाला है, फूटने नही दिया। पर उन्होंने भीतर-ही भीतर फैल कर सत्य की मानसिक प्रयोग-

'शाला में न-जाने कौन-कौन-से अभूतपूर्व रसायन तैयार किये हैं, और वे रसायन न जाने किन-किन शक्तियों में लदे हैं, सत्य को किधर धकेल ले जायेंगे! उसके कौन-कौन से आदर्श तोड़ेंगे। उस की मेहनत से संचित की हुई, या दबायी हुई, किन-किन गुप्त स्मृतियों को उखाड़ फेंकेंगे, नंगा कर देंगे। उसकी किन-किन सदभिलाषाओं को, उच्चतम आकांक्षाओं, उत्सर्ग—चेष्टाओं की व्युत्पत्ति पतित-से पतित, गर्हित-में-गर्हित, जघन्यतम धातुओं में सिद्ध कर देंगे। प्रेम-जीवन के किस-किस कमल का उद्भव वासना-सर के किस गँदले कीच में करायेंगे···

और यह सारी विराट् क्रिया मानव के लिए एक अपूर्णता ही रह जायगी, जिसे वह समझ कर भी नहीं समझेगा। वह इस की तरतमता को नहीं समझ पायेगा। जैसे ऑक्सीजन और हाइड्रोजन को मिला कर जलायें—एक धड़ाका होता है और हम देखते हैं, न ऑक्सीजन है न हाइड्रोजन। उसे हम विस्फोट कहते हैं। पानी बनने की इस क्रिया में हम उस की अनिवार्य परात्परता नहीं देखते—हम यही समझते हैं कि दोनों गैसों की जीवनी अधूरी रह गयी—एक विस्फोट में उलझ कर खो गयी।

ऐसा ही विस्फोट सत्य के जीवन में भी हुआ, पर हमारी कहानी का वह अंग नहीं है, क्योंकि हमारी कहानी की संपूर्णता विस्फोट के पूर्व के इस अधूरेपन में ही है। उस विस्फोट का इस प्रारम्भ से कोई सम्बन्ध नहीं था, फिर भी जीवन की विशाल असम्बद्धता में वे दोनों एक ही क्रिया की दो अभिन्न कलाएँ थीं।

इस घटना के दो वर्ष बाद सत्य की मृत्यु हो गयी। मृत्यु नहीं हुई, हत्या हुई। संयुक्तप्रान्त में जो किसान-विद्रोह हुआ, उस के प्रपीड़ित, अज्ञात, नाम से घबराने वाले, बल्कि नामहीन अगुआ में से सत्य भी एक था। उसी सिल-सिले में एक गाँव में 'शान्ति स्थापना' के समय पुलिस के हाथों गोली से वह मारा गया। किसी ने यह भी न जाना कि भारतमाता के उस सुपुत्र का समाधि-स्थल कहाँ रहा।

यह भी अपूर्ण कहानी है। किन्तु इन अनेक टूटी-फूटी कड़ियों को जोड़ देने पर जीवन-शृंखला पूरी हो जाती है। यह और बात है—कि इन कड़ियों को जोड़ देने की शक्ति मानव में नहीं है—कि इस के लिए हमारे जीवन-संघर्ष की अपेक्षा कहीं अधिक ताव की, कहीं अधिक प्रोज्ज्वल भट्ठी की आवश्यकता है।

एकाकी तारा



ऐसा भी सूर्यास्त कहाँ हुआ होगा···उस पहाड़ की आड में से सूर्य का थोडा-सा अंश दीख पड रहा है, और उस के ऊपर आकाश म, बहुत दूर तक फैली हुई एक लम्बी वारिदमाला लाल-लाल दीख रही है, मानो प्रकृति के बालो की लाल-लाल लटें···

या, जैसे सूर्य को फाँसी लटका दिया हो, और किसी अज्ञान कारण से फाँसी की रस्सी खून से रँगी गयी हो···प्रतीची की विशाल कोख भी तो मानो सूर्य को लील लिये जा रही हो···

सूर्यास्त हो गया है। पर वह स्त्री—या युवती—उसी प्रकार निश्चल खडी, स्थिर दृष्टि से पश्चिमी आकाश को देख रही है···आसपास के सुरम्य दृश्यो की ओर, सामने बहती हुई छोटी-सी पहाडी नदी के स्वच्छ अन्तर की ओर, सामनेवाले पहाड की तलहटी से आती हुई बीन की अत्यन्त कम्पित, क्षीण ध्वनि की ओर, उस का ध्यान नही जाता···वह अत्यन्त एकाग्र हो, समाधिस्थ हो, पश्चिम आकाश को देख रही है···मानो इसी पर उस का जीवन निर्भर करता है, मानो वह आकाश में बिखरे हुए रक्त को पी कर शक्ति प्राप्त करना चाहती है; किन्तु जीवन न पा कर विष ही पाती है, फिर भी छोड नही सकती, मूर्च्छित भी नही होती···

सान्ध्य आकाश मे थोथे सौन्दर्य के अतिरिक्त कुछ नही होता। किन्तु जो अपने हृदयो मे ही एक काल्पनिक ससार बसाये हुए उसे देखने आते हैं, जिन के अन्दर एक थिरकती हुई किन्तु अस्फुट प्रसन्नता होती है, या जो भीतर-ही-भीतर किसी गहरी वेदना से झुलस रहे होते हैं, उन की तीखी अनुभूतियाँ उस आकाश में अपने ऐसे अरमानो का प्रतिबिम्ब पा लेती हैं, उन के लिए ससार की सम्पूर्ण विभूतियाँ, कोमलतम भावनाएँ, उस मे केन्द्रित हो जाती हैं—उस प्रदोष के आकाश मे···

वह देख रही है, और देखती जाती है · इस दृश्य को उस ने सैकड़ो बार देखा है, उन दिनों भी जब उस मे थोथे सौन्दर्य के अतिरिक्त कुछ नहीं था, (उस के जीवन मे भी ऐसे क्षण थे—वह जो आज समझती है कि उस पर काल का बोझ अनगिनत वर्षों से पड़ा हुआ है !) और उन दिनों भी, जब वह उस मे ससार की समग्र व्यथा और वेदना का प्रतिबिम्ब देख पायी है··· पर वेदना का चिन्तन भी मदिरा की तरह होता है, ज्यो-ज्यो उन्माद बढ़ता जाता है, त्यो-त्यो उस की लालसा तीखी होती जाती है···

वह उस उन्माद के पथ पर बहुत दूर अग्रसर हो गयी है। एक परदा उस का आँखो के आगे छा गया है, और एक सूर्यास्त के छायापट के आगे। पर इन तीनो पटो की आड मे भी उस की तीव्र दृष्टि आकारो को भेदती हुई चली जा रही है, देख रही है, पढ रही है, जीवन के नग्न सत्यो को ··

इस भीषण शिक्षा स चौंक कर, कभी-कभी उस की दृष्टि एक दूसरी ओर फिरती है—उस के हाथ की ओर, जिस मे वह एक छोटा-सा पुरज़ा थामे हुए है। वह पढना नही जानती, पर आह ! कितनी तीव्र वेदना से, कितनी मर्मभेदी उत्कठा स, वह उस पुरजे पर लिखी हुई दो-चार सतरो को देखती है; मानो उस के नेत्रा की ज्वाला से ही पत्र का आशय जगमगा कर हृदय म समा जायगा '

वह पढ़ना नही जानती, पर पत्र म क्या लिखा है, वह पढवा कर सुन आयी है···भाई की तारीख परसों की लगी है—'रात के नौ बजे···' बस, इतना ही तो लिखा है।

आज ही तो वह परसो है—आज ही तो रात को वह नौ बजगे

और फिर वह पहले की भाँति, सूर्यास्त मे वही शिक्षा ग्रहण करने लग जाती है···

वह है कौन ?

अपना नाम वह स्वय नही जानती। जब वह बहुत छोटी थी तब शायद उस के माता-पिता ने उस का कोई नाम रखा था। पर जब से वह अनाथिनी हुई, जब स वह अपने भाई के साथ घर से निकल कर भीख माँगने लगी, जब एक दिन उस के भाई ने उसे शक्कर के नाम से नमक की एक फाकी खिला दी, और उस की मुखाकृति देख हँस-हँस कर उसे चिढाने लगा, 'लूनी !

लूनी !' तब से वह अपना नाम लूनी ही जानती है···

न-जाने कैसे वे भीख माँगते-माँगते शहरों में पहुँच गये थे; पर पहाड़ों और जंगलों में रहने वाले वे उन्मुक्त प्राणी वहाँ के वातावरण को नहीं सह सके, कुछ ही दिनों बाद भाई-बहन दोनों फिर पहाड़ों में लौट आये और गूजरों के यहाँ चरवाहे बनकर रोटी का गुज़ारा करने लगे···लूनी दिन-भर ढोर चराया करती, और उस का भाई एक चट्टान पर बैठ कर *गाया करता*—या कभी-कभी कुछ पढ़ा करता ··लूनी नहीं जानती कि वह पढ़ना कब और कहाँ सीख गया, कैसे सीख गया।

कभी-कभी वह सुबह नींद खुलने पर देखती, उस के भाई का पता नहीं है—वह दो-तीन दिन तक गायब रहता, फिर कुछ नयी किताबें ले कर लौट आता। पहली बार जब वह लापता हुआ तब लूनी कितनी घबरा गयी थी—पागल हो गयी थी···इतनी कि जब वह लौट कर आया, तब उसे उलाहना भी न दे पायी, उसे लज्जित-सा देख कर उस से चिपट गयी थी और खूब रोयी थी ··

अब वह भाई लौट कर नहीं आयेगा—अब उस से चिपट कर रोने का भी सौभाग्य लूनी को नहीं प्राप्त होगा···

उस के बाद, कितने दिन बीत गये थे! लूनी का भाई उसे अधिकाधिक प्रेम करता जाता था···पर साथ-ही-साथ दूर भी हटता जा रहा था। क्योंकि उस में वह स्वयंभूति का भाव कम होता जा रहा था, और उस में एक गम्भीर, विचारवान्, सचेष्ट स्निग्धता आती जा रही थी। लूनी उसे समझती थी और नहीं समझती थी, उस का स्वागत करती थी और उस से खीझती थी···

दूर हटते-हटते एक दिन वह भाई उस के पास से बिल्कुल ही चला गया—दिनों के लिए नहीं, बरसों के लिए···

जब वह लौट कर आया, तब लूनी नहीं थी, या स्मृति-भर रह गयी थी। वह एक सम्पन्न गूजर के घर बैठ गयी थी। वह उस की विवाहिता भी नहीं थी, उस की रखैल भी नहीं थी। लूनी ने अपने-आप को मानो उसे दान कर दिया था, उसे अपना दान दे कर विदा कर दिया था और स्वयं अकेली रह गयी थी! कभी-कभी जब वह स्वयं अपनी परिस्थिति पर विचार करती, तब उसे जान पड़ता, उस के दो शरीर हैं, जो एक-दूसरे के ऊपर खड़े हैं। एक

उस के विरोध मे, इस का निर्णय करने वाली परिस्थितियाँ राज्य के नियन्त्रण मे न कभी आयी है, न कभी आयेंगी · मुझ म वह दायित्व जागा है, पर उसे चुकाने के लिए हमारे पास साधन नही, उस के पोषण के लिए सामग्री नही, इसलिए हम दु खी और अशान्त हैं, इसीलिए लड़ते हैं और लडना चाहते हैं···

ये निर्णय करने वाली शक्तियाँ क्या है ? क्या उस के हृदय म स्वार्थ था, जिस के लिए वह लडा ? जिस के लिए वह आज प्राणदड का भागी हुआ ?

ऐसे खिंचाव के समय इस घोर एकान्त ने लूनी को उदभ्रान्त कर दिया था—या शायद उस की सूक्ष्म बुद्धि को और भी पैना कर दिया था। सूर्यास्त के पट पर उस ने देखा, उस के भाई के कार्यो का एक प्रमुख कारण वह स्वय थी। उस के भाई के आदर्शों का एक स्रोत उस के लिए सुख-कामना थी। *क्यो ? क्या वह ऐसे विद्रोह द्वारा सुख प्राप्त करना चाहती थी—प्राप्त कर* सकती थी ? क्या भाई को खो कर उसे सुख मिलेगा ? नही, पर उस के भाई ने जो-कुछ देखा, वह उस के दृष्टिकोण से नही अपने दृष्टिकोण न देखा—या शायद देखा ही नही केवल एक चिरन्तन सहज बोध के कारण अनुभव किया, ऐसे सहज बोध के कारण, जो उस की वसीयत मे प्राचीन काल से था—उस समय से, जब कि पृथ्वी पर मानव-जाति का अस्तित्व ही नही था उस के पुरखा वन मानुषो का भी नही, जब विवाह म जाति और वर्ण विभेद नहीं थे, जब 'पति-पत्नी' और 'भाई-बहिन' एक ही स्वरक्षात्मक आर्थिक क्रिया की दो कलाएँ थी

लूनी ने भी यह सब अपनी बुद्धि से नही, एक सहज चेतना से ही अनुभव किया, और यह अनुभव उस के बौद्धिक क्षेत्र मे नही आ पाया, उस की बुद्धि केवल एक ही निरर्थक सी बात कह कर रह गयी—'वह विद्रोही है ' कुछ-एक दिनो के बौद्धिक शासन के इस निर्णय के आगे उस की चिरन्तन अराजकता से उत्पन्न वह पहली अनुभूति व्यक्त न हो पायी ··

'वह विद्रोही है। और कुछ काल म वह मूर्तिमान विद्रोही हो कर मर जायगा '

लूनी अपनी थकी हुई, झुकी हुई गर्दन उठा कर आकाश की ओर देखने लगी। उस की प्रगाढ नीलिमा को बाँधने वाली आकाशगंगा का धुंधलापन भी चमक रहा था·· यह आकाशगगा है, या प्रकृति के उत्तप्त आँसू-भरे हृदय की

भाप, या विश्वपुरुष के गले में फाँसी···

रात ! तारे—तारे तारे ! लूनी के मन में एक विचार उठा, मैं इन्हें देख रही हूँ, वह भी एक बार तो इन्हें देख ही लेगा और पहाड़ों की याद कर लेगा · तारे क्षण-भर झपक लेंगे, जब जागेंगे, तब मैं इन्हें अपलक ही देख रही हूँगी, पर वह—?

एक हल्की-सी चीख, या गहरी-सी साँस···

लूनी के मन की दशा इस समय ऐसी विकृत हो रही थी कि इस अशान्तिमय विचार के बीच ही में उसे अपनी छोटी-सी लड़की—नहीं, उस सम्पन्न गूजर और लूनी की लाश की सन्तान—की याद आ गयी, और साथ ही उस के पिता की···वे शायद इस समय लूनी को खोज रहे होंगे। बेटी अनुभव कर रही होगी, आज मुझे वह पागल प्यार देने वाली कहाँ है ? और पिता सोच रहा होगा, उस का दिमाग कुछ खराब हो रहा है, वक्त-बे वक्त जंगलों में फिरती है ! जब लूनी वापस पहुँचेगी—पर लूनी तो यहीं रहेगी, वापस तो उस की लोथ ही जायेगी !—तब पिता उस की विवशता पर अपनी भूख मिटायेगा, और बेटी अपनी विवशता के कारण भूखी रह जायेगी ! और—और वह, जिस के लिए लूनी आज इस चट्टान पर बैठी है, वह मर जायगा !

लूनी फिर सान्ध्यतारे की ओर देखने लगी। फिर उस का मन भागा—वर्तमान के विचार से दूर, भूत-काल की ओर ! उस दिन की ओर, जब वह शहर में भीख माँगते-माँगते उकता कर, शहर के अन्तक प्रदेश में आकर किसी माल के या युकलिप्टस के वृक्ष के नीचे आ पड़ते, और पेड़ की पत्तियों में अपने परिचित वनों की सृष्टि किया करते···उस दिन की ओर, जब वे एकाएक, मूक संकेत में ही एक-दूसरे के हृदय की प्यास को समझ कर, एक-दूसरे का हाथ थामे शहर से निकल पड़े अपने पहाड़ों के पथ पर···उस दिन की ओर, जब न-जाने कहाँ से पकड़ कर उस का भाई एक सुन्दर जल-मुरगाबी लाया, और लूनी का करुण अनुरोध, 'इसे छोड़ दो !' सुन कर क्षण-भर विस्मित रह गया, और फिर उसे उड़ा कर धीरे-धीरे हँसने लगा ··उस दिन की ओर, जब न-जाने कैसे दोनों को एकाएक अपने पुरुषत्व और स्त्रीत्व का ज्ञान हुआ, दोनों अपने-अपने अकेलेपन का अनुभव कर के ज़ोर से चिपट कर गले मिले और फिर लज्जित-से हो कर अलग हो गये···उस दिन की ओर, जब भाई ने आ

कर उल्लास-भरे स्वर म कहा, 'देख लूनी, मैं गीत लिख कर लाया हूँ !' और उस के विस्मित प्रश्न का उत्तर दिये बिना ही गाने लगा···उस दिन की ओर, जब उस ने कहा, 'लूनी, अब मैं बहुत कुछ पढ गया हूँ, अब मैं तुम्हे सुखी करने के लिए लडूँगा' और रात मे लापता हो गया · इस के बरसो बाद के उस दिन की ओर, जब उस के 'पति' ने उसे एक पत्र ला कर दिया और उपेक्षा स पूछा, 'तेरा कोई भाई भी है ? उसी का है !' और उस के पूछने पर कि पत्र मे क्या है, इतना-भर बता दिया कि वह आयेगा···उस दिन लज्जा और ग्लानि की ओर, जिस दिन वह अपने भाई के सामने न हो सकी, और वह बाहर ही से लौट कर चला गया ·उस दिन की ओर, जब वह चट्टान पर उस की गोद म सिर रख कर बरसों स जोडा हुआ कलुष धो आयी उस दिन की ओर, जब वह फिर विदा ले कर चला गया, लूनी को सुखी करने के लिए उस भयकर दिन की ओर, जिस मे लूनी से किसी ने कहा कि उस का भाई पकडा गया है और यह नही बता सका कि कहाँ और किस जुर्म मे उस दिन की ओर, जब उस का घोर अनिश्चय दूर करने को समाचार आया यह कि भाई को प्राणदड की आज्ञा हुई है उस दिन की ओर जब उसे भाई का अपने हाथो लिखा पत्र आया, जिसे उस ने कई बार पढा कर सुना, और कठस्थ कर के भी पूरा नही समझ पायी और अन्त मे, वामन-अवतार के पग की तरह, सम्पूर्ण सृष्टि को रौंद कर वह लौट आया, टिक गया, उस के हृदय के कोमलतम अश पर, जहाँ उस ने भाई के जीवन की स्मृति को छिपा रखा था—उसी जीवन को, जो अभी थोडी देर मे नष्ट हो जायेगा और अपनी स्मृतियों को बिखेर जायगा, जिस का स्थान शीघ्र ही अनझरे आँसू ले लेंगे ·

लूनी की दृष्टि एक बार चारा ओर घूम कर लूनी के आसपास बिखरी हुई विभिन्न फूलो की रूपराशि और गन्ध को, नदी पर थिरकते हुए धुँधले-से आलोक को, तलहटी के चीड वृक्षो स उठती हुई अज्ञात साँसों को, सामने के पहाड पर काँपती हुई बीन की तानको और पहाड की स्निग्ध श्यामलता को पी गयी, फिर एक अव्यक्त प्रश्न से भरी हुई वह दृष्टि उठी सान्ध्यतारे की ओर, और फिर आकाश की शून्य विशालता की ओर · उस का वह अव्यक्त प्रश्न एक थरथराती हुई प्रतीक्षा-सा बन गया···

आकाश मे दो बड़े-बड़े सफेद आकार चले जा रहे थे—शायद बगुले ··पर इन के पंख कितने बड़े-बड़े जान पड़ते हैं—जैसे सारस के हों ··

और उन की गति कितनी प्रशान्त · मानो मृत्यु की तरह, मानो जीवन के अवसान की तरह, नि शब्द···

नीचे गाँव मे से कही घंटा खड़कने की ध्वनि आयी ··लूनी तन कर बैठ गयी, उस की ऐन्द्रिक चेतना अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी, किन्तु साथ ही उस के आगे, लूनी के शरीर-भर मे, अँधेरा भर गया···

तलहटी मे कही चौंक कर फटी हुई वेदना के स्वर म टिटिहरी गेयी, 'चीन्हूँ ! चीन्हूँ !' मानो अपने घासले पर काँपती हुई अज्ञात छाया को देख कर, एकाएक भयभीत वात्सल्य और स्वरक्षात्मक साहस से भर कर तड़प उठी हो और उस छाया को ललकार रही हो··

लूनी का शरीर, उस की आत्मा, शिथिल हो कर झुक गयी · उसे जान पड़ा, एक निराकार छाया उस के पास खड़ी है और उस स्पर्श कर रही है—उसे जान पड़ा, वहाँ कुछ नही है, वह अकेली हो गयी है, लुट गयी है, क्वारी ही विधवा हो गयी है···

उस ने देखा, शून्य मे आकाशगंगा—विश्वपुरुष के गले की फाँसी—को छूता हुआ वृश्चिक का डंक ही उस का एकमात्र सहचर रह गया है—दक्षिण के आकाश मे जिधर देवताओं का लोक है···

गैंग्रीन

•

दोपहर म उस सून आँगन म पैर रखते ही मुझे ऐसा जान पडा मानो उस पर किसी शाप की छाया मँडरा रही हो उस के वातावरण म कुछ ऐसा अकथ्य अस्पृश्य किन्तु फिर भी बोझल और प्रकम्पमय और घना-सा फैल रहा था

मेरी आहट सुनते ही मालती बाहर निकली। मुझे देख कर पहचान कर उस की मुरझायी हुई मुख मुद्रा तनिक-से मीठे विस्मय म जागी-सी और फिर पूववत हो गयी। उस ने कहा 'आ जाओ ! और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये भीतर की ओर चली। मैं भी उस के पीछे हो लिया।

भीतर पहुँच कर मैंने पूछा वे यहाँ नही है ?

अभी आये नही दफ्तर मे हैं। थोडी देर मे आ जायेंगे। कोई डेढ दो बजे आया करते है।

कब के गये हुए हैं ?

सवेरे उठते ही चले जाते है।

मैं हू कर पूछने को हुआ और तुम इतनी दर क्या करती हो ? पर फिर सोचा आते ही एकाएक प्रश्न ठीक नही है। मैं कमरे के चारो ओर देखन लगा।

मालती एक पखा उठा लायी और मुझे हवा करने लगी। मैंने आपत्ति करते हुए कहा नहा मुझे नही चाहिए। पर वह नही मानी बोली वाह ! चाहिए कैसे नही ? इतनी धूप म तो आये हो। यहाँ तो

मैं ने कहा अच्छा लाओ मुझ दे दो।

वह शायद ना करने वाली थी पर तभी दूसरे कमरे से शिशु क रोने की आवाज सुन कर उस ने चुपचाप पखा मुझ दे दिया और घुटना पर हाथ टेक कर एक थकी हुई हूँह कर के उठी और भीतर चली गयी।

मैं उस के जाते हुए, दुबले शरीर को देख कर सोचता रहा—यह क्या है···यह कैसी छाया-सी इस घर पर छायी हुई है···

मालती मेरी दूर के रिश्ते की बहन है, किन्तु उसे सखी कहना ही उचित है, क्योंकि हमारा परस्पर सम्बन्ध सख्य का ही रहा है। हम बचपन से इकट्ठे खेले है, इकट्ठे लडे और पिटे हैं, और हमारी पढाई भी बहुत-सी इकट्ठे ही हुई थी, और हमारे व्यवहार में सदा सख्य की स्वेच्छा और स्वच्छन्दता रही है, वह कभी भ्रातृत्व के, या बडे-छोटेपन के बन्धनों मे नही घिरा···

मैं आज कोई चार वर्ष बाद उसे देखने आया हूँ। जब मैंने उसे इस से पूर्व देखा था, तब वह लड़की ही थी, अब वह विवाहिता है, एक बच्चे की माँ भी है। इस मे कोई परिवर्तन उस में आया होगा और यदि आया होगा तो क्या, यह मैं ने अभी तक सोचा नही था, किन्तु अब उस की पीठ की ओर देखता हुआ मैं सोच रहा था, यह कैसी छाया इस घर पर छायी हुई है··· और विशेषतया मालती पर ·

मालती बच्चे को ले कर लौट आयी और फिर मुझ से कुछ दूर नीचे बिछी हुई दरी पर बैठ गयी। मैंने अपनी कुरसी घुमा कर कुछ उस की ओर उन्मुख हो कर पूछा, "इस का नाम क्या है ?"

मालती ने बच्चे की ओर देखते हुए उत्तर दिया, "नाम तो कोई निश्चित नही किया, वैसे टिटी कहते हैं।"

मैंने उसे बुलाया, "टिटी, टीटी, आ जा," पर वह अपनी बडी-बडी आँखो से मेरी ओर देखता हुआ अपनी माँ से चिपट गया, और रुआँसा-सा हो कर कहने लगा, 'उहुँ-उहुँ-उहूँ-ऊँ ··"

मालती ने फिर उस की ओर एक नज़र देखा, और फिर बाहर आँगन की ओर देखने लगी···

काफी देर मौन रहा। थोडी देर तक तो वह मौन आकस्मिक ही था, जिस में मैं प्रतीक्षा मे था कि मालती कुछ पूछे, किन्तु उस के बाद एकाएक मुझे ध्यान हुआ, मालती ने कोई बात ही नही की·· यह भी नही पूछा कि मैं कैसा हूँ, कैसे आया हूँ···चुप बैठी है, क्या विवाह के दो वर्ष में ही वह बीते दिन भूल गयी ? या अब मुझे दूर—इस विशेष अन्तर पर—रखना चाहती है ? क्योंकि वह निर्बाध स्वच्छन्दता अब तो नही हो सकती···पर फिर भी,

ऐसा मौन, जैसा अजनबी से भी नहीं होना चाहिए ··

मैंने कुछ खिन्न-सा हो कर, दूसरी ओर देखते हुए कहा, "जान पड़ता है, तुम्हें मेरे आने से विशेष प्रसन्नता नहीं हुई—"

उस ने एकाएक चौंक कर कहा, "हूँ?"

यह 'हूँ' प्रश्न-सूचक था, किन्तु इस लिए नहीं कि मालती ने मेरी बात सुनी नहीं थी, केवल विस्मय के कारण। इस लिए मैंने अपनी बात दुहरायी नहीं, चुप बैठ रहा। मालती कुछ बोली ही नहीं, तब थोड़ी देर बाद मैंने उस की ओर देखा। वह एकटक मेरी ओर देख रही थी, किन्तु मेरे उधर उन्मुख होते ही उस ने आँखें नीची कर लीं। फिर भी मैंने देखा, उन आँखों मे कुछ विचित्र-सा भाव था, मानो मालती के भीतर कहीं कुछ चेष्टा कर रहा हो, किसी बीती हुई बात को याद करने की, किसी बिखरे हुए वायुमण्डल को पुन: जगा कर गतिमान करने की, किसी टूटे हुए व्यवहार-तन्तु को पुनरुज्जीवित करने की, और चेष्टा मे सफल न हो रहा हो···वैसे जैसे बहुत देर से प्रयोग म न लाये हुए अंग को व्यक्ति एकाएक उठाने लगे और पाये कि वह उठता ही नहीं है, चिरविस्मृति में मानो मर गया है, उतने क्षीण बल से (यद्यपि वह सारा प्राप्य बल है) उठ नहीं सकता···मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो किसी जीवित प्राणी के गले मे किसी मृत जन्तु का तौक डाल दिया गया हो, वह उसे उतार कर फेंकना चाहे, पर उतार न पाये ··

तभी किसी ने किवाड़ खटखटाये। मैंने मालती की ओर देखा, पर वह हिली नहीं। जब किवाड़ दूसरी बार खटखटाये गये, तब वह शिशु को अलग कर के उठी और किवाड़ खोलने गयी।

वे, यानी मालती के पति आये। मैंने उन्हें पहली बार देखा था, यद्यपि फोटो से उन्हें पहचानता था। परिचय हुआ। मालती खाना तैयार करने आँगन में चली गयी, और हम दोनों भीतर बैठ कर बात-चीत करने लगे, उन की नौकरी के बारे मे, उन के जीवन के बारे मे, उस स्थान के बारे में, और ऐसे अन्य विषयों के बारे मे जो पहले परिचय पर उठा करते हैं, एक तरह का स्वरक्षात्मक कवच बन कर···

मालती के पति का नाम है महेश्वर। वह एक पहाड़ी गाँव में सरकारी डिस्पेन्सरी के डाक्टर हैं, उसी हैसियत से इन क्वार्टरों में रहते हैं। प्रात:काल

सात बजे डिस्पेन्सरी चले जाते हैं और डेढ या दो बजे लौटते हैं, उस के बाद दोपहर-भर छुट्टी रहती है, केवल शाम को एक-दो घण्टे फिर चक्कर लगाने के लिए जाते हैं, डिस्पेन्सरी के साथ के छोटे-से अस्पताल मे पड़े हुए रोगियों को देखने और अन्य जरूरी हिदायतें करने···उन का जीवन भी बिलकुल एक निर्दिष्ट ढर्रे पर चलता है, नित्य वही काम, उसी प्रकार के मरीज, वही हिदायतें, वही नुस्खे, वही दवाइयाँ। वह स्वय उकताये हुए है और इसलिए और साथ ही इस भयकर गरमी के कारण वह अपने फुरसत के समय मे भी सुस्त ही रहते हैं···

मालती हम दोनों के लिए खाना ले आयी। मैंने पूछा, "तुम नही खाओगी? या खा चुकी?"

महेश्वर बोले, कुछ हँस कर, "वह पीछे खाया करती है···"

पति ढाई बजे खाना खाने आते हैं, इस लिए पत्नी तीन बजे तक भूखी बैठी रहेगी!

महेश्वर खाना आरम्भ करते हुए मेरी ओर देख कर बोले, "आप को तो खाने का मजा क्या ही आयेगा ऐसे बेवक्त खा रहे है?"

मैंने उत्तर दिया, "वाह! देर से खाने पर तो और अच्छा लगता है, भूख बढ़ी हुई होती है, पर शायद मालती बहिन को कष्ट होगा।"

मालती टोक कर बोली, "ऊँहूँ, मेरे लिए तो यह नयी बात नही है··· रोज ही ऐसा होता है···"

मालती बच्चे को गोद मे लिये हुए थी। बच्चा रो रहा था, पर उस की ओर कोई भी ध्यान नही दे रहा था।

मैंने कहा, "यह रोता क्यों है?"

मालती बोली, "हो ही गया है चिड़चिड़ा-सा, हमेशा ही ऐसा रहता है।" फिर बच्चे को डाँट कर कहा, "चुप कर।" जिस से वह और भी रोने लगा, मालती ने भूमि पर बैठा दिया। और बोली, "अच्छा ले, रो ले।" और रोटी लेने आँगन की ओर चली गयी!

जब हम ने भोजन समाप्त किया तब तीन बजने वाले थे। महेश्वर ने बताया कि उन्हें आज जल्दी अस्पताल जाना है, वहाँ एक-दो चिन्ताजनक केस आये हुए हैं, जिन का आपरेशन करना पड़ेगा···दो की शायद टाँग काटनी

पड़े, गैंग्रीन हो गया है···थोड़ी ही देर मे वह चले गये। मालती किवाड़ बन्द कर आयी और मेरे पास बैठने ही लगी थी कि मैंने कहा, "अब खाना तो खा लो, मैं उतनी देर टिटी से खेलता हूँ।"

वह बोली, "खा लूँगी, मेरे खाने की कौन बात है," किन्तु चली गयी। मैं टिटी को हाथ मे ले कर झुलाने लगा, जिस से वह कुछ देर के लिए शान्त हो गया।

दूर···शायद अस्पताल मे ही, तीन खड़के। एकाएक मैं चौंका, मैंने सुना, मालती वहीं आँगन मे बैठी अपने-आप ही एक लम्बी-सी थकी हुई साँस के साथ कह रही है, "तीन बज गये···" मानो बड़ी तपस्या के बाद कोई कार्य सम्पन्न हो गया हो···

थोड़ी ही देर मे मालती फिर आ गयी, मैंने पूछा, "तुम्हारे लिए कुछ बचा भी था? सब-कुछ तो···"

"बहुत था।"

"हाँ, बहुत था, भाजी तो सारी मैं ही खा गया था, वहाँ बचा कुछ होगा नही, यो ही रौब तो न जमाओ कि बहुत था।" मैंने हँस कर कहा।

मालती मानो किसी और विषय की बात कहती हुई बोली, "यहाँ सब्जी-बब्ज़ी तो कुछ होती ही नहीं, कोई आता-जाता है, तो नीचे से मँगा लेते है, मुझे आये पन्द्रह दिन हुए हैं, जो सब्जी साथ लाये थे वही अभी बरती जा रही है···

मैने पूछा, "नौकर कोई नही है?"

"कोई ठीक मिला नही, शायद दो-एक दिन मे हो जाये।"

'बरतन भी तुम्ही माँजती हो?'

"और कौन?" कह कर मालती क्षण-भर आँगन मे जा कर लौट आयी।

मैंने पूछा, "कहाँ गयी थी?"

"आज पानी ही नही है, बरतन कैसे मँजेंगे?"

"क्यो, पानी को क्या हुआ?"

"रोज़ ही होता है···कभी वक्त पर तो आता नही, आज शाम को सात बजे आयगा, तब बरतन मँजेंगे।"

'चलो, तुम्हें सात बजे तक छुट्टी हुई," कहते हुए मैं मन-ही-मन सोचने

लगा, 'अब इस रात के ग्यारह बजे तक काम करना पड़ेगा, छुट्टी क्या खाक हुई ?'

यही उस ने कहा। मेरे पास कोई उत्तर नहीं था, पर मेरी सहायता टिटी ने की, फिर एक फिर रोने लगा और मालती के पास जाने की चेष्टा करने लगा। मैंने उसे दे दिया।

थोड़ी देर फिर मौन रहा, मैंने जेब से अपनी नोटबुक निकाली और पिछले दिन के लिखे हुए नोट देखने लगा तब मालती को याद आया कि उस ने मेरे आने का कारण तो पूछा नहीं, और बोली, "यहाँ आये कैसे ?"

मैंने कहा ही तो, "अच्छा, अब याद आया ? तुम से मिलने आया था, और क्या करने ?"

'तो दो एक दिन रहोगे न ?"

'नहीं, कल चला जाऊँगा, जरूरी जाना है।"

मालती कुछ नहीं बोली, कुछ खिन्न-सी हो गयी। मैं फिर नोटबुक की तरफ देखने लगा।

थोड़ी देर बाद मुझे भी ध्यान हुआ, मैं आया तो हूँ मालती से मिलने किन्तु, यहाँ वह बात करने को बैठी है और मैं पढ़ रहा हूँ, पर बात भी क्या की जाय ? मुझे ऐसा लग रहा था कि इस घर पर जो छाया घिरी हुई है, वह अज्ञात रह कर भी मानो मुझे भी वश कर रही है, मैं भी वैसा ही नीरस निर्जीव-सा हो रहा हूँ, जैसे—हाँ, जैसे यह घर, जैसे मालती…

मैंने पूछा, "तुम कुछ पढ़ती लिखती नहीं ?" मैं चारों ओर देखने लगा कि कहीं किताबें दीख पड़ें।

'यहाँ !" वह कर मालती थोड़ा-सा हँस दी। वह हँसी कह रही थी, 'यहाँ पढ़ने को है क्या ?'

मैं ने कहा, 'अच्छा, मैं वापस जा कर जरूर कुछ पुस्तकें भेजूँगा…" और वार्तालाप फिर समाप्त हो गया…

थोड़ी देर बाद मालती ने फिर पूछा, "आए कैसे हो, लारी में ?"

'पैदल।"

'इतनी दूर ? बड़ी हिम्मत की।"

'आखिर तुम से मिलने आया हूँ।"

चिल्ला कर रोने लगा।

महेश्वर बोले, "अब रो-रो कर सो जायेगा, तभी घर मे चैन होगी।"

मैंने पूछा, "आप लोग भीतर ही सोते हैं ? गरमी तो बहुत होती है?"

"होने को तो मच्छर भी बहुत होते हैं, पर यह लोहे के पलग उठा कर बाहर कौन ले जाये ? अब के नीचे जायेंगे तो चारपाइयाँ ले आयेंगे।" फिर कुछ रुक कर बोले, "आज तो बाहर ही सोयेंगे। आप के आने का इतना लाभ ही होगा।"

टिटी अभी तक रोता ही जा रहा था। महेश्वर ने उसे एक पलग पर बिठा दिया, और पलग बाहर खीचने लगे, मैंने कहा, "मैं मदद करता हूँ," और दूसरी ओर से पलग उठा कर निकलवा दिये।

अब हम तीनो···महेश्वर, टिटी और मैं, दो पलगों पर बैठ गये और वार्तालाप के लिए उपयुक्त विषय न पा कर उस कमी को छुपाने के लिए टिटी से खेलने लगे, बाहर आ कर वह कुछ चुप हो गया था, किन्तु बीच-बीच मे जैसे एकाएक कोई भूला हुआ कर्तव्य याद कर के रो उठता था, और फिर एकदम चुप हो जाता था ··और कभी-कभी हम हँस पडते थे, या महेश्वर उस के बारे मे कुछ बात कह देते थे ··

मालती बरतन धो चुकी थी। जब वह उन्हें ले कर आँगन के एक ओर रसोई के छप्पर की ओर चली, तब महेश्वर ने कहा, "थोड़े-से आम लाया हूँ, वह भी धो लेना।"

"कहाँ हैं?"

"अँगीठी पर रखे हैं, काग़ज़ मे लिपटे हुए।"

मालती ने भीतर जा कर आम उठाये और अपने आँचल मे डाल लिये। जिस काग़ज़ मे वे लिपटे हुए थे वह किसी पुराने अख़बार का टुकडा था। मालती चलती-चलती सध्या के उस क्षीण प्रकाश मे उसी को पढती जा रही थी· वह नल के पास जा कर खडी उसे पढती रही, जब दोनो ओर पढ चुकी, तब एक लम्बी साँस ले कर उसे फेंक कर आम धोने लगी।

मुझे एकाएक याद आया···बहुत दिनो की बात थी···जब हम अभी स्कूल मे भरती हुए ही थे। जब हमारा सब से बडा सुख, सबसे बडी विजय थी हाज़िरी हो चुकने के बाद चोरी से क्लास से निकल भागना और स्कूल से कुछ

दूरी पर आम के बगीचे म पेडो पर चढ कर कच्ची आमियाँ तोड-तोड खाना। मुझे याद आया…कभी जब मैं भाग आता और मालती नही आ पाती थी तब मैं भी खिन्न मन लौट आया करता था।

मालती कुछ नही पढती थी, उस के माता-पिता तग थे, एक दिन उसके पिता ने उसे एक पुस्तक ला कर दी और कहा कि इस के बीस पेज रोज पढा करो, हफ्ते-भर बाद मैं देखूं कि इसे समाप्त कर चुकी हो, नही तो मार-मार कर चमडी उधेड दूंगा। मालती ने चुपचाप किताब ले ली, पर क्या उस ने पढी ? वह नित्य ही उस के दस पन्ने, बीस पेज, फाड कर फेंक देती, अपने खेल में किसी भाँति फर्क न पडने देती। जब आठवें दिन उस के पिता ने पूछा, 'किताब समाप्त कर ली ?" तो उत्तर दिया …"हाँ, कर ली," पिता ने कहा, 'लाओ, मैं प्रश्न पूछूंगा," तो चुप खडी रही। पिता ने फिर कहा, तो उद्धत स्वर मे बोली, "किताब मैंन फाड कर फेंक दी है, मैं नही पढूंगी।"

उस के बाद वह बहुत पिटी, पर वह अलग बात है। इस समय मैं यही सोच रहा था कि वही उद्धत और चचल मालती आज कितनी सीधी हो गयी है, कितनी शान्त, और एक अखबार के टुकडे को तरसती है…यह क्या, यह' •

तभी महेश्वर ने पूछा, "रोटी कब बनेगी।"

"बस, अभी बनाती हूँ।"

पर अब की बार जब मालती रसोई की ओर चली, तब टिटी की कर्तव्य-भावना बहुत विस्तीर्ण हो गयी, वह मालती की ओर हाथ बढा कर रोने लगा और नहीं माना, मालती उस भी गोद में ले कर चली गयी, रसोई म बैठ कर एक हाथ मे उसे थपकने और दूसरे मे कई एक छोटे-छोटे डिब्बे उठा कर अपने सामने रखने लगी ··

और हम दोनो चुपचाप रात्रि की, और भोजन की, और एक-दूसरे के कुछ कहने की, और न जाने किस किस न्यूनता की पूर्ति की प्रतीक्षा करने लगे।

हम भोजन कर चुके थे और बिस्तरा पर लेट गये थे और टिटी सो गया था। मालती पलँग के एक ओर मोमजामा बिछाकर उसे उस पर लिटा गयी थी। वह सो गया था, पर नीद म कभी-कभी चौंक उठता था। एक बार तो

पहाड़ी जीवन



मोटर-एजेंसी के सामने वाले उस भीड़-भड़क्के के, उस निरर्थक, विशृंखल, पुंजीभूत कोलाहल के एक छोर पर खड़ा हुआ गिरीश सोच रहा था—'क्या मैं यही सब देखने आया हूँ? यही है पहाड़ों का जीवन और आन्तरिक सौन्दर्य?'

गिरीश लाहौर का रहनेवाला है, विद्यार्थी है, युवा है और युवकों की साधारण भावुकता से भी सम्पन्न है। और इन सब के अतिरिक्त वह धनिक नहीं है। तो भी ऐसा है कि उसे कभी पहाड़ जाने के लिए फ़ीस के बहाने घर से रुपये मँगा कर जोड़ने नहीं पड़ते, बिना बहाने ही मिल जाते हैं।

हाँ, तो गिरीश ने निश्चय किया है कि उस में साहित्यिक प्रतिभा है और उसी को पनपने का अवसर देने के लिए वह यहाँ आया है। अनुभव से जानता है कि जो लोग पहाड़ों में जाते हैं, वे कुछ भी देख कर नहीं आते, कुछ देखने आते भी नहीं। उन से कोई पूछे कि अमुक स्थान में क्या देखा, या अमुक स्थान का जीवन कैसा है, तो केवल इतना ही बता पाते हैं कि वहाँ ठण्ड बहुत है, या बर्फ़ का दृश्य बहुत सुन्दर है, या वहाँ घोड़े की सवारी का मज़ा आता है! बहुत हुआ, तो कोई यह बता देगा कि वहाँ चीड़-वृक्षों में हवा चलती है तो उस का स्वर ऐसा होता है, या कि वहाँ किसी जल-प्रपात को देख कर जीवन की नश्वरता का या अजस्रता का, अथवा प्रेम की अचल एकरूपता का, या अस्थायित्व का, या अपनी-अपनी रुचि के अनुसार ऐसी ही किसी बात का स्मरण हो आता है पर, क्या यह सब वहाँ का जीवन है? क्या यही दर्शनीय है, और बस? क्या वहाँ के वासी चीड़ के वृक्ष खा कर जीते हैं या जल प्रपात पहनते हैं, या बर्फ़ से प्रणय करते हैं, या घोड़ों पर रहते हैं?

गिरीश इन्हीं सब प्रश्नों का उत्तर पाने और उस उत्तर को

शब्दबद्ध करने यहाँ आया है। उस का विश्वास है कि वह यहाँ के जीवन की सत्यता देख कर जायेगा और लिखेगा। वह उस दिन का स्वप्न देख रहा है, जब उस की रचनाएँ प्रकाशित होंगी और साहित्य क्षेत्र मे तहलका मच जायेगा, लोग कहेंगे कि न जाने इस ने कहाँ कैसे यह सब देख लिया, जो लोग इतने वर्षों मे भी नही देख पाये।

यह सब उसे एक दिन लाहौर मे बैठे-बैठे सूझा था। और उस ने तभी तैयारी कर ली थी और दो-तीन सप्ताह के लिए डलहौज़ी चला आया था। यहाँ आ कर उस ने अपना सामान इत्यादि एक होटल म रखा और खाना खा कर घूमने—पहाडी जीवन देखने—निकल पडा। किन्तु उस ने देखा, वह जीवन वैसा नही है जो स्वय उछल-उछल कर आँखो के आगे आये, जैसा कि आजकल की सभ्यता का, आत्म विज्ञापन का जीवन होता है। जब वह शाम को होटल लौटा, तब उस ने देखा, उस का मस्तिष्क उस से भी अधिक शून्य है, जैसा वह लाहौर मे था ! क्योकि गिरीश उन चित्रों और दृश्यों की ओर ध्यान देने के लिए तैयार नही था जो और लोग—'साधारण लोग'—देखते है। वह अपने कमरे मे बैठकर सोचने लगा कि कहाँ जा कर वह पहाडी जीवन का असली रूप देखे, किन्तु न-जाने क्यों उस का मन इस विचार मे भी नहीं लगा, भागने लगा। उसे न-जाने क्यों एकाएक अपनी एक बाल्य-सखी और दूर के रिश्ते की बहिन करुणा का ध्यान आया, जो सदा पहाड पर जाने के लिए तरसा करती है, जो कहती रहती है कि पहाड का जीवन कितना स्वच्छन्द होगा, कितना निर्मल, कितना स्वत सिद्ध—जैसे कि आनन्दातिरेक से अनायास गाया हुआ शब्दहीन आलाप ! वह सोचने लगा कि क्या सचमुच पहाडी जीवन ऐसा ही होता है, या यह उस की भावुक बहिन का इच्छा-स्वप्न है ?

काफ़ी देर तक ऐसी बातें सोच चुकने पर जब उसे एकाएक विचार आया कि वह पहाडी जीवन का पता लगाना चाहता है, न कि करुणा की प्रकृति पर विचार करना, तब वह खीझ कर उठ बैठा। फिर उस ने निश्चय किया कि कल वह जा कर बाज़ार म बैठेगा और वहाँ पहाडी लोगो को देखेगा—नहीं, वहाँ क्यो, वह मोटर के अड्डे पर जायगा, जहाँ सैकडो पहाडी कुली आते हैं। वहीं उन का सच्चा रूप देखने को मिलेगा। उन के वास्तविक जीवन की झलक तो केवल तब देखने मे आती है, जब मानव किसी आर्थिक दबाव का अनुभव

करता है।

और यही निश्चय आज उसे यहाँ लाया था, जहाँ आधा घंटा बैठने के बाद यह उकता कर सोच रहा है—'क्या यही देखने मैं आया हूँ ? क्या यही है पहाड़ी जीवन और उस का आन्तरिक सौन्दर्य ?'

गिरीश एक मोटरकम्पनी के दफ़्तर में बैठा है, उस के आस-पास और भी लोग हैं, जो आने वाली लारियों की प्रतीक्षा में हैं—कुछ तो अपने मित्र या सम्बन्धियों की अगवानी के लिए और कुछ होटलों के एजेंट इत्यादि। बाहर कोई सौ-डेढ़ सौ कुली, जिन में कुछ कश्मीरी हैं, बैठे, खड़े या चल-फिर रहे हैं। कोई सिगरेट पी रहा है, कोई गुड़गुड़ी, कोई तम्बाकू चबा रहा है, कोई अपने जूते उतार कर हाथ में लिये उनकी परीक्षा में तन्मय हो रहा है, कोई एक रस्सी का टुकड़ा अपनी उँगली पर ऐसे लपेट और खोल रहा है, मानो वही जगन्नियन्ता की सब से बड़ी उलझन हो और वह उसे सुलझा रहा हो, कोई हँस रहा है, कोई शरारत-भरी आँखों से किसी दूसरे की जेब की ओर देख रहा है, जो किसी अज्ञात वस्तु के विस्तार में फूल रही है, कोई एक शून्य थकान भरी दृष्टि में देख रहा है—न-जाने किस ओर, कोई अपने आरक्त नेत्र मोटर कम्पनी के साइनबोर्ड पर गड़ाये हुए है, और एक-आध बूढ़ा, भीड़ से कुछ अलग खड़ा, अन्धों की विशेषतापूर्ण, उत्सुक और अभिप्राय-भरी दृष्टि से (यदि अन्धों की दृष्टि हो सकती है तो) देख रहा है अपने आगे के सभी लोगों की ओर, यानी किसी की ओर नहीं · पर गिरीश को जान पड़ता है और ठीक जान पड़ता है कि इस प्रकार अपने विभिन्न तात्कालिक धन्धों में निरत और व्यस्त जान पड़नेवाले इन व्यक्तियों की वास्तविक दृष्टि, वास्तविक प्रतीक्षा, किसी और ही ओर लगी हुई है। इन लोगों के सामान्य शारीरिक उद्योग से कुचले हुए शरीरों के भीतर छिपी हुई है भूखे भेड़िये की-सी प्रमादपूर्ण और अन्वेषक तत्परता जो लारियों के आते ही फूट पड़ेगी।

और झुंड से कुछ दूर पर, एक ही इकाई में बँधी-सी खड़ी हुई हैं कई-एक पहाड़ी औरतें, अधिकांश पीठ पर डाँडियाँ बाँधे, कुछ-एक छाती से दुध मुँहा बच्चा भी चिपकाये हुए। कुछ की डाँडियाँ तो साफ़ हैं, और शायद किराये के लिए हैं, पर बाकी की काली हो रही हैं। जान पड़ता है, ये कोयला बेचने आयी थीं, और अब वापस जाते हुए क्षण-भर के लिए तमाशा देखने के लिए

खडी हो गयी हैं—क्योंकि स्त्रियों को तो भीड-भाड, शोर-गुल और रंग-बिरंगी चहल-पहल बहुत अच्छी लगती है न···

यहाँ आ कर गिरीश की विचार-धारा एकाएक रुक गयी। कुछ तो शायद इस लिए कि उसे सहसा ध्यान आया कि इस दिशा में सोचते रहने का कोई फल नहीं हो सकता, किन्तु विशेषकर इस लिए कि उस का ध्यान आकृष्ट हुआ उस के पास बैठे हुए अन्य लोगों की ओर और उन की बातचीत की ओर···

कोई कह रहा था—"पहाडी लोग ? इन से काम कराना हो, तो एक ही तरीका है, एक-आध को पकड कर पीट दो। बस, फिर असम्भव भी सम्भव हो जाता है।"

गिरीश ने इस व्यक्ति की ओर ध्यान से देखा। वह एक हट्टा कट्टा पंजाबी था, उस की छोटी-छोटी आँखें, कलम के झटके से लिखी हुई-सी भौंहें, तोते की चोंच की भाँति मुडी हुई नाक, पतली और चचल नसें, सिगेरट के धुएँ से पीली पडी हुई मूँछें और झुलसे हुए ओठ—सब इस बात के प्रमाण थे कि यह व्यक्ति झूठ नहीं कह रहा है, कि यह उपेक्षापूर्ण क्रूरता उस का जीवन दर्शन ही है—केवल पहाडियों के बारे में एक विचार-मात्र ही नहीं···

इस से हट कर गिरीश की दृष्टि दूसरे व्यक्ति की ओर गयी। दो-तीन तो वहीं के (एजेंसी के काम करनेवाले) थे, उन्हें गिरीश छोड गया। एक और था, खूब मोटा-सा आदमी, धोती और डबल-ब्रेस्ट कोट पहने, किसी तीखे सेंट की सौरभ में डूबा हुआ, ऊपर के ओठ पर तितली के परों-सी मूँछ मानो चिपकाये, और आँखों में एक उद्दण्डता, एक बेशर्म औद्धत्य लिये हुए। इस व्यक्ति को दूसरे लोग 'सेठ साहब' कह कर सम्बोधन कर रहे थे।

इस ग्रुप का तीसरा व्यक्ति वर्णन से परे था। वह दुबला और साँवला था, इस के अतिरिक्त उस का कुछ वर्णन यदि हो सकता था, तो यही कि उस की आयु का, उस के घर का और उस की जात-पाँत का कुछ अनुमान नहीं हो सकता था—यह उन व्यक्तियों में से था, जो बहुत घूमते-फिरते हैं, और जहाँ जाते हैं, वहाँ अपने व्यक्तित्व का थोडा-सा अंश खो कर वहाँ के थोडे-से ऐब ले लेते हैं, तब तक, जब कि अन्त में सर्वथा व्यक्तित्वहीन किन्तु सब अवस्थाओं के ऐबों से पूर्ण परिचित नहीं हो जाते। ऐसे व्यक्ति पहाडों में और अन्य स्थानों में, जहाँ लोग बसते नहीं, केवल आते-जाते हैं, अक्सर देखने में आते हैं।

गिरीश आगे सुनने की प्रतीक्षा मे था कि कौन क्या कहता है। तब यह अन्तिम व्यक्ति बोला, "हाँ, आप ठीक कहते हैं। मुझे याद है, कई बरस हुए, मैं इधर काँगडे की तरफ सैर कर रहा था, तब एक खच्चर वाले ने बहुत तग किया—थोडी दूर जा कर कहने लगा कि खच्चर नही चलता, उसे कुछ नाज खिलाना है, पैसे दीजिए ! मैंने तंग आ कर दो थप्पड जमाये, तो बोला, आप अपना सामान उतरवा लीजिए, मैं नही जाता। तब तो मैंने उसे खूब ही पीटा—मेरे पास बल्लम था, उस के कुन्दे से मारा। ऐसे ही उसे साथ ले गया और फिर दड-स्वरूप पैसे नही दिये।"

"तो खच्चर फिर चला ?"

"चलता कैसे नही ? असल मे ये लोग उन्हें चलाते ही नही, जैसे चाहे चलने देते हैं। भला, ऐसे भी कोई जानवर चलता है ?"

"हूँ।"

थोडी देर तीनो व्यक्ति चुप रहे— बाहर एक दृश्य की ओर देखते रहे। गिरीश ने उन की दृष्टि का अनुमरण कर के देखा, एजेंसी के सामने खुले चौक मे एक घोडेवाला अपना घोडा लादने के विरुद्ध प्रतिवाद कर रहा था। उसे घोडे पर लादने के लिए दो पेटियाँ दी गयी थी—एक बहुत बडी और एक बहुत छोटी, और वह कह रहा था कि वे घोडे पर नही लद सकती, क्योंकि दोनों ओर बराबर बोझा होना चाहिए। जिस की पेटियाँ थी, वह कह रहा था, "लद कैसे नही सकती ? लाद लो, जरूरी जानी हैं।" और घोडेवाले के सारे तर्क का उत्तर वह यही दे रहा था कि "भार ठीक कैसे नही है ? कुल तीन होगा—घोडे तो छै-छै मन लाद कर ले जाते है।"

इसी घटना को देखते-देखते उपर्युक्त बात छिडी थी, क्योंकि पेटियो का मालिक तेज होता जा रहा था और सब ओर यही प्रतीक्षा थी कि घोडेवाला या तो किसी प्रकार बोझ लादता है, चाहे उतने पत्थर डाल कर ही बोझ को एक-सा करता है, या फिर पेटीवाले से पिटता है। कुली भी इसी दृश्य को देखने की उत्कठा से उधर घिरे आ रहे थे। कुछ औरतें भी पास आ कर देख रही थी।

और गिरीश भी देख रहा था…

एकाएक मोटे सेठ साहब के भीतर कही गडगडाहट का-सा शब्द हुआ।

उसे सुन कर और सेठ साहब के मुख की परिवर्तनशील गति को देख कर गिरीश ने जाना कि सेठ साहब हँस रहे हैं। तब सेठ साहब एक भारी आवाज में— बहुत पान खाने से उन का गला बहुत बैठ रहा था और जबान मोटी हो गयी थी, कहने लगे, "मुझे भी एक बात याद आ गयी। मैं एक बार पहले इधर आया था, तब मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ था। तब इधर इतनी वस्ती तो थी ही नहीं, घोड़े ढूँढने से मिलते थे। जो किरायेवाले होते भी थे, वे नखरे करते थे— बाद में चाहे सस्ते ही मिल जायें। हाँ, तो मैं इधर जा रहा था चम्बे की ओर; घोड़ेवाले ने कुछ शरारत की। मुझे याद नहीं क्या बात थी, कुछ ऐसा ही झगड़ा था कि सामान बराबर-बराबर नहीं बँटता, इस लिए नहीं लादा जा सकता। अगर एक बिस्तरा खोल दिया जाय, तभी ठीक हो सकता है। जरा सोचिए तो, एक मनहूस घोड़े के लिए मैं अपना बिस्तर खोल कर सड़क पर बिखेरूँ? मैंने घोड़े वाले से कहा कि तुम्हें लेना पड़ेगा। उस बद दिमाग़ ने जवाब भी नहीं दिया, यों हाथ नचा कर बतलाने लगा कि असम्भव है। फिर मैंने भी वही किया, उस के एक ही तमाचा ऐसा दिया कि ठीक हो गया।"— कह कर सेठ साहब ने अभिमान से अपने फूले हुए हाथ की ओर देखते हुए कहा, "और चल पड़ा।"

रुक कर सेठ साहब ने एक बार चारों ओर देखा, यह जानने के लिए कि सब उन की बात सुन रहे हैं या नहीं। फिर सन्तुष्ट हो कर बोले, "हाँ, मजे की बात तो अब आती है। दूसरे ही दिन उस घोड़ेवाले ने घर बार छोड़ दिया और सन्यासी हो गया। किसी से कह गया कि यह घोड़े हाँकने का काम मुझसे नहीं होता।"

सेठ साहब ने फिर आत्मतुष्ट दृष्टि से सब ओर देखा और चुप हो गये।

गिरीश एक नये क्षीण-से कौतूहल से उस भीड़ की ओर देखने लगा, जो बाहर जुट रही थी। सोचने लगा कि इन लोगों में क्या सभी का जीवन एक-सा ही है— दिन-भर टें टें, चें-चें करना, घोड़े हाँकना और शाम को खा पी पीकर सो रहना, या गलौज कर लेना?

एकाएक उस की दृष्टि अटक गयी—बैंगनी रंग के एक रुमाल के नीचे एक स्त्री-मुख पर। एक स्त्री-मुख में जड़ी हुई आँखों पर।

जो भीड़-सी इकट्ठी हो कर सेठ की बात सुन रही थी—सुन नहीं रही थी,

कानो से उसी भाँति बीन रही थी, जिस भाँति किसी धनिक की थाली से गिरी हुई जूठन को कुत्ते बीन कर खाते हैं,—उसी भीड के स्त्री-अंग मे से एक स्त्री कुछ आगे बढकर खडी थी—एकाएक जडित हुई गति की अवस्था मे, एक पैर कुछ आगे बढा हुआ, शरीर सहसा रुकने के कारण कुछ पीछे खिंचा हुआ-सा, एक हाथ उठा हुआ माथे पर टिक कर प्रकाश से आँखो पर ओट करता हुआ, ताकि आँखें अच्छी तरह देख सकें ।

और वे आँखें ? इस हथेली से सचित किये अन्धकार मे वे स्थिर दीप्ति से चमक रही थी, मानो शुक्र तारो का जोडा दीप्त हो रहा हो । और वे देख रही थी घूर-घर कर उस सेठ के मुँह की ओर, मुँह पर स्थिर रह कर भी सारे शरीर की ओर, मानसिक झुकाव की ओर···

गिरीश ने बडे यत्न से अपनी आँखें उन आँखो से हटायी और उस स्त्री का सम्पूर्णत्व देखने लगा ।

उस की वेश-भूषा बिलकुल साधारण थी—सिर पर कस कर बाँधा हुआ बैंगनी रग का रुमाल, कानो मे चाँदी के झुमके, गले में एक लम्बा सफेद कुरता (जो कभी सफेद था, अब नहीं है), जिस के ऊपर एक मनका का हार, उस के नीचे मटियाले रग की छीट का तग पैजामा । किन्तु उसे देख कर ध्यान उस वेश की साधारणता की ओर नही, बल्कि उस से वेष्टित व्यक्तित्व की असाधारणता की ओर आकृष्ट होता था ।

यद्यपि उस मे असाधारण क्या था ? वह कोई विशेष सुन्दर नही थी, उस मे कुछ विशेष नही था, सिवा उन आँखो की उस स्थिरता के—वह इतनी तीखी और कठोर थी कि निर्लज्ज तक जान पड़ती थी, जैसे किसी ससारी अनुभव प्राप्त पुरुष की ।

किसी असाधारण वस्तु के देखने से जो एक हल्का-सा, शारीरिक खिंचाव-सा होता है, उस मे शायद शरीर की और इन्द्रियो की अनुभूति-शक्ति बढ जाती है, या शायद कोई अन्य अमानवीय इन्द्रिय काम करने लग जाती है। किसी ऐसी ही क्रिया के कारण गिरीश को मालूम हुआ कि उस के सामने की भीड के वातावरण मे कुछ परिवर्तन हो गया है । उस ने जाना कि कोई व्यक्ति भद्दे अभिप्राय से उस स्त्री की ओर देख रहा है, उसे हाथ से थोडा-सा हिला कर सेठ साहब को इगित कर के कह रहा है, "हाँ, हाँ, वह अमीर है ··

और—वैसा है ···" उस ने जाना कि स्त्री का ध्यान एकाएक टूट गया है और वह कुछ सहम कर पीछे हट रही है।

वह उस समय तक वैसी ही खडी थी। गिरीश ने देखा, अपनी साधारण आँखो से देखा कि उस स्त्री के चिबुक पर एक छोटा-सा, हल्के नीले रग का, गोदा हुआ बिन्दु है। इस के साथ ही उस की वह विस्तृत हुई अनुभूति शक्ति भी सकुच कर अपनी साधारण अवस्था मे आ गयी।

वह स्त्री पीछे हट गयी, हट कर पास खडे एक और पहाड़ी को देख कर उस से धीरे-धीरे कुछ कहने लगी, जिसे गिरीश नही सुन पाया। उस पहाडी से बात करते समय भी वह देख रही थी सेठ साहब की ओर ही। जब उस की बात सुन कर उस पहाडी ने प्रश्न-भरी दृष्टि से मोटर-कम्पनी के दफ्तर के भीतर देखा, तब उस ने हाथ उठा कर सेठ साहब की ओर इशारा किया।

सेठ साहब ने भी यह अभिनय देखा। उन्हे शायद कुछ कौतूहल हुआ, शायद इस बात से उन की आत्मश्लाघा को कुछ आहार मिला कि कोई उन की ओर इशारा करके उन्हे और व्यक्तियो से विशिष्ट महत्त्व दे रहा है, पर आखिर वह थी तो स्त्री ही। सेठ साहब ने अपने भारी गले से कोमल, किन्तु किसी जुगुप्साजनक अभिप्राय स कोमल स्वर निकालने की चेष्टा करते हुए पूछा, 'क्यो, क्या चाहिए ?"

वह स्त्री घबरा कर घूम गयी और उस पहाडी के साथ, जिस मे उस ने कुछ कहा था, जल्दी से भीड मे से निकल कर अदृश्य हो गयी। गिरीश की स्मृति मे उस का तो कुछ रहा नही, रहा केवल उस की पीठ पर लदी हुई कोयले की धूल से काली डाँडी का एक धूमिल चित्र, किन्तु मन मे उस से सम्बद्ध अनेको विचार उठने लगे। पूछने लगे कि वह अभिनय क्या था, भाँपने लगे कि उन दीप्त स्थिर आँखो का रहस्य उन्हे ज्ञात हो।

होगा, होगा ··होता ही होगा ··यही देखने, यही जानने तो वह यहाँ आया है, यही तो यहाँ के जीवन का छिपा हुआ रहस्य है, जो सतह के पास ही रहता है, किन्तु देखने मे नही आता। वह इसी को उघाड कर रखेगा और अपना नाम अमर कर जायगा।

और उस का ध्यान फिर गया करुणा की ओर। वह और करुणा बाल्य-सखा थे, किन्तु पिछले दिनो धीरे-धीरे न जाने क्यो और कैसे अलग-अलग

हो गये थे—वैसे ही, जैसे सभी लड़के-लड़कियाँ एकाएक वय सन्धि के काल में हो जाते हैं—परस्पर रूखे, उदासीन, एक-दूसरे को न समझ सकनेवाले, विचार-विनिमय में असमर्थ। आज गिरीश यह भी नहीं कह सकता कि वर्तमान संसार के प्रति करुणा के भाव क्या हैं, वह संसार को क्या समझती है और उस में क्या आशा करती है? वह सुखी भी है या नहीं, इस का उत्तर भी गिरीश नहीं दे सकता, यद्यपि करुणा से जितना उतना परिचय उस का है, उतना शायद ही किसी का होगा।

यह क्यों है? ऐसा क्यों है कि वह करुणा के विचारों की यदि कोई बात जानता है, तो यही कि करुणा पहाड़ों को चाहती है, उन में रहने की इच्छुक है, उन से स्वतन्त्रता की और सुख की आशा करती है, और यह भी इस लिए कि एक बार चोरी से उस ने करुणा के लिखे हुए कुछ पन्ने पढ़े थे। इसी लिए कि हम अपनी आँखें खुली रख कर भी अपने घर में ही कुछ नहीं देखते—देख नहीं पाते। हम में से कितने हैं जो अपने घर में ही अपने भाई-बहिनों के विचार जानते हैं, समझते हैं, या जानने-समझने की चेष्टा भी करते हैं?

गिरीश सोचने लगा, मैं यहाँ क्यों आया हूँ? क्या यह अधिक उचित नहीं है कि घर जा कर पहले अपने निकटतम लोगों का जीवन समझूँ, फिर उसी का आश्रय ले कर यहाँ के जीवन का अध्ययन करूँ? क्यों कि प्रत्येक वस्तु को कसा तो किसी कसौटी पर ही जा सकता है, और उस के पास कसौटी तो कोई है ही नहीं।

नहीं, है क्यों नहीं? वह क्या इतने दिन तक आँखें बन्द ही किये रहा, क्या उस ने संसार ही नहीं देखा? वह समझ सकता है और विचार कर सकता है। उस म इतना विवेक है कि वह पहाड़ी जीवन को देखे, उस का सत्य अलग करके जाँच सके। और वह देखेगा, अवश्य देखेगा। करुणा का क्या है, वह तो घर में है ही, उसे किसी भी दिन जा कर गिरीश समझ सकता है। स्त्रियों को समझना कौन बड़ी बात है? और फिर करुणा को वह इतने दिनों से जानता है, वह कुछ छिपायेगी थोड़े ही!

और फिर, यह जो आज अभिनय देखा है, वह समझे बिना कैसे जाया जाय? यह मन से निकल नहीं सकता, जब तक उस का उत्तर न पा लिया जाय। और गिरीश समझता है कि वह ठीक पथ पर चल रहा है, उस से यह

रहस्य छिपा नही करेगा, स्वय भी खुलेगा और पहाडी जीवन की सत्यता भी दिखा जायगा।

गिरीश उठा और होटल की ओर चल दिया। उसे इस की परवाह न रही कि अब लारियाँ आने ही वाली हैं, अब पहाडी जीवन का एक पहलू देखने को मिलेगा। उस का चेतन मन उस स्त्री की बात पर विचार कर रहा था और अवचेतन मन निश्चय कर रहा था कि करुणा को पत्र लिखना है···उस ने यह भी नही देखा कि कुलियो मे एकाएक कोई नयी स्फूर्ति आ गयी—क्यो···

2

एक सप्ताह के—पहाड मे आये हुए यात्रियो के-से जीवन के निरर्थक एक सप्ताह के बाद।

गिरीश डलहौज़ी मे सैर करने निकलकर, चम्बे के रास्ते पर चल पडा था और लक्कडमण्डी मे एक चीड की छाया मे बैठा हुआ था। पास एक छोटी कापी, कुछ खुले कागज और फाउटेनपेन रखा हुआ था, हाथ मे एक पत्र के दो-चार पन्ने थे, जिन्हें वह अभी कोई पाँचवी-छठी बार पढ चुका था।

गिरीश होटल से यहाँ आया था कि एकान्त मे बैठकर कुछ विचार करेगा, कुछ लिखेगा, लिखने के लिए कुछ सुलझा कर मैटर रखेगा, पर साथ ही वह ताज़ी डाक मे आये हुए पत्र भी ले आया था कि यही चल कर पढूँगा और यदि जवाब भी देना होगा, तो वही लिख दूँगा। इन पत्रो मे एक करुणा का भी था, जिसे उस ने अभी पढा है और जिस ने उसके लिखने के विचारो को बिलकुल बिखेर दिया है।

यह नही कि गिरीश कुछ सोच ही न रहा हो, किन्तु वे विचार हैं उलझे हुए, पागलपन से भर, अशान्ति को और बढानेवाले। वह सोच रहा है कि मैंने क्यो करुणा को पत्र लिखा? जो हमारा बाल्य-सख्य टूट-सा गया था, उसे क्यो भावुकता के आवेश मे आकर जमाने की चेष्टा की? क्योकि यह आज की करुणा तो वह करुणा नही है, वह करुणा भी नहीं, जो पहाडी जीवन की स्वच्छन्दता के लिए तरसती थी। यह तो एक नयी कठोर, अत्यन्त अकरुण किन्तु जीवन से छलकती हुई करुणा है, जिसे उस के पत्र ने जगा दिया है और जिसे अब कुछ लिख नही सकता, क्योंकि जिस आवेश क्षण पर करुणा का पत्र

लिखा गया है, उस तल पर वह कैसे पहुँच सकता है, यद्यपि करुणा ने उसे ऐसे पत्र लिखा है, जैसे वह कोई बड़ा कवि, या पहुँचा हुआ फिलासफर हो—उस पत्र में से इतना विश्वास, इतनी श्रद्धा टपकती है।

गिरीश फिर एक बार उस अंश को पढ़ने लगा—'आप ने पूछा है मेरे जीवन में क्यों यह परिवर्तन आ गया है, क्यों मैं ऐसी अशान्त-सी रहती हूँ? आप पूछते हैं, पर मैं आपको न लिखूँगी, तो किसको लिखूँगी? यहाँ के लोगों को, जिन्हें इतना भी पता नहीं कि अशान्ति क्या होती है?

"मैं तो पूरा लिख भी नहीं सकती, थोड़ा-सा ही लिखती हूँ।

"मुझे आप की कहानी के शब्द 'जिस देश में पुरुष भी गुलाम हों, उसमें स्त्री होने से मर जाना अच्छा है', रह-रह कर याद आते हैं। और कहूँ कि यही मेरी अशान्ति का सार है। मैं ऐसे देश की स्त्री हूँ—और ऐसे देश में भी, जो गुलाम समाज है उस की, हिन्दू समाज की।"

गिरीश को याद आया कि उसने अपनी कौन-सी कहानी में किस स्थान पर यह लिखा था। वह सोचने लगा, मैंने अपनी बुद्धि से जो लिखा था केवल प्रभाव के लिए, उसे सच समझनेवाले, उस का यथातथ्य अनुभव करनेवाले भी संसार में हैं। इस विचार से वह एकाएक सहम-सा गया, वैसे ही जैसे कोई शिकारी पहले बन्दूक चलाये और फिर उस की घातक शक्ति का प्रमाण पा कर एकाएक सहम जाय। और वह पढ़ने लगा—'इस देश में स्त्री हो कर जन्म लेना मृत्यु-यन्त्रणा से भी बढ़ कर ही है। मृत्यु तो यन्त्रणाओं से छुटकारा दे देती है, किन्तु यह जन्म स्वयं समस्त यन्त्रणाओं का मूल है। आप इस गौरव समझें या साहस, किन्तु उन्हें जीना पड़ता है। और वे कहीं से तनिक सी सहानुभूति पा लें, तो उस के दाता के हाथ मानो बिक जाती हैं, बाजारू कुत्ते की भाँति वे अपना यह अधिकार भी नहीं समझतीं कि उन्हें सहानुभूति मिले। इस प्रकार वे कब कितना धोखा खाती हैं, पतन की ओर कैसे बढ़ती जाती हैं, समझ नहीं पातीं। समझें कैसे? निचाई का अनुभव वे कर सकते हैं, जिन्होंने कभी ऊपर उठकर देखा हो, पर हम स्त्रियाँ तो सदा से ही दलित हैं।

"भइया, आप लेखक हैं, आप में शक्ति है, प्रतिभा है, आपके पास साधन भी हैं, आप स्त्रियों को जगाइये। उनके लिए लड़ते नहीं तो न सही, उन की सोती शक्ति का आह्वान तो कर दीजिये, फिर देखिए—"

गिरीश को ऐसा जान पड़ा, कोई उसके भीतर कहने को हो रहा है कि मैं क्या कर सकता हूँ ? मैं तो कुछ जानता नहीं, कुछ देख ही नहीं सकता; किन्तु उसके अहंकार ने इसे दबा दिया। वह आगे पढ़ने लगा—"परमात्मन्! हमें क्या हुआ है, जो हम मरने के योग्य होकर भी मरतीं नहीं, अहंकार में डूबी हुई हैं, जंजीरों में जकड़ी जाने में ही अपना स्वातन्त्र्य समझती हैं ?

"—धिक्कार है हमारे जीवन को !"

गिरीश ने पत्र लपेट कर जेब में डाल लिया और सोचने लगा, मुझ में क्यों लोगों की श्रद्धा है, क्यों वे मुझ से आशाएँ करते हैं ? यदि मैं कुछ न कर सका तो ? यह उत्तरदायित्व मेरे सिर पर क्यों लादा जा रहा है ? एकाएक वह खीझ उठा। यों मैं विवश किया जा रहा हूँ कि किसी एक दिशा में अग्रसर होऊँ, क्यों न अपनी स्वच्छन्द प्रगतियों का अनुसरण करूँ ? कला तो किसी बाह्य प्रेरणा से चलती नहीं, वह तो स्वयं प्रमुख प्रेरक है।

इस निर्णय के बाद यह विचार लीन हो गया। दूसरा उठा कि क्या करुणा ठीक कहती है ? क्या स्त्रियों के जीवन सचमुच ऐसे हो रहे हैं ? क्या इस का कारण यही है कि पुरुष भी दास हैं ? एकाएक उसे एक वाक्य सूझा, जिस का वह पूरा अभिप्राय नहीं समझा, पर जो उसे सुन्दर जान पड़ा। उसने कागज पर इसे लिख लिया, भविष्य में कहीं काम में लाने के लिए—"अधिकारी देश की शक्ति वहाँ के पुरुष होते हैं, स्त्रियाँ केवल एक अधोमुखी प्रेरणा किन्तु पराधीन देश का जीवन होती हैं उस की स्त्रियाँ ही, जिनके बिना वहाँ के पुरुषों का भविष्य अत्यन्त अन्धकार-पूर्ण है।"

वह सोचने लगा, यह दासत्व क्या एक बाह्य बन्धन है, या अन्त:शक्ति की एक निष्क्रिय परमुखापेक्षी अवस्था ? आदमी केवल बँध जाने से ही दास नहीं हो जाता। दासता तो एक आत्मगत भावना है। तभी तो जो दास हो जाते हैं, वे स्वाधीनता पा कर उस का उपभोग नहीं कर सकते, न कभी उस की इच्छा ही करते हैं।

उसे एक घटना याद आयी, जो उसी दिन घटी थी, और जैसी यहाँ नित्य सैकड़ों बार घटती हैं। उस ने उसे एकाएक ग्लानि से भर दिया था।

वह कुछ सोचता हुआ चला आ रहा था, इधर ही लकड़मण्डी की ओर। एकाएक उस ने सुना कि एक बालक उसे देख कर, पथ की एक ओर खड़ा हो

होगा, यह—यह—यह, जिस के लिए शब्द नहीं मिलते !

पैरों की चाप—भारी, नीचे की ओर उतरती हुई, चंचल किन्तु दबी हुई, नगे पैरों की, कोमल और ऐसी जैसे कुछ रुक-रुक-सी रही हो. अनिश्चित-सी। गिरीश ने सिर उठा कर देखा—

सामने वह खड़ी है। उसी दिन वाली स्त्री, वही बैंगनी रग का रूमाल सिर पर बँधा हुआ, वही कुरता, वही लाल छींट का पैंजामा. वही हार वही झुमके, वही गोदने का बिन्दु-चिह्न और वही आँखें, जो चौंक कर उसे देख रही थीं, निर्भीकता से उसकी दृष्टि का सामना कर रही थी।

गिरीश अपने व्यक्तित्व की सारी शक्ति से उससे आँख मिला रहा था, अपनी आँखों द्वारा व्यक्त कर रहा था अपना सारा पीडित विस्मय, अपनी ग्लानि अपना तीखा लाछन, अपनी वह अकथ्य भावना, जिस से उस ने वह सौदे की बातचीत सुनी थी। वह मानो इस स्त्री को बता देना चाहता था, "मैंने तुम्हारी बात सुन ली है मैं उस से दु खित हूँ, मैं उस से घृणा करता हूँ और मैं तुम्हें उस पथ स हटाना चाहता हूँ।"

और वह शायद यह बता देनेम समर्थ भी हुआ। उस स्त्री की दृष्टि क्षण-भर के लिए काँपकर झुक भी गयी। किन्तु उस के बाद ही उस ने सिर उठाया, एक अवज्ञा-भरी, दर्प भरी मुद्रा मे ला कर हिलाया, जिस से उस के बालो की लट रूमाल के नियन्त्रण से निकल कर, हिल कर मानो बोली—"मैं क्या परवाह करती हूँ ! ' और फिर वह अवमानना-भरी हँसी हँस कर चली, किन्तु पाँच-सात कदम जा कर उस ने गर्दन घुमा कर देखा, क्षण-भर ग्रीवा फेरे हुए ही पीडित-सी खड़ी रही, फिर चली गयी, अब मानो कुछ शान्त, कुछ सन्दिग्ध, कुछ आहत, कुछ उद्विग्न।

और गिरीश भी एकाएक आवेग मे उठा और कागज उठा कर नीचे की ओर चल पड़ा। उसे मानो अपने सब प्रश्नो के उत्तर मिल गये थे, कितने कठोर उत्तर ! सब समस्याओ का समाधान मिल गया था, कैसा उपहास-भरा समाधान !

वह कुछ ही दूर गया था कि सेठ साहब मिल गये, कुछ चौंके, कुछ झेंप-से गये। गिरीश को उस स्त्री के प्रति इतनी ग्लानि हो रही थी कि उस यह ध्यान ही न आया कि सेठ साहब भी किसी सम्बन्ध मे दोषी हो सकते हैं, वह उन के

साथ हो लिया और बातचीत चलाने का ढग करने लगा। किन्तु इस मे स्वय अपने को ही असमर्थ पा कर, वह क्षमा माँग कर आगे निकल गया और फिर विचार-सागर मे उतराने लगा, उस आघात को मिटाने का यत्न करने लगा, जो उस स्त्री की अवज्ञापूर्ण हँसी ने उस के हृदय पर किया था।

वह सोचने लगा—"हम क्यो एक शारीरिक पवित्रता को इतना महत्त्व देते हैं, विशेषतया जब कि वह पवित्रता एक कृत्रिम बन्धन है ? हम एक ओर तो मानते हैं कि कृत्रिम बन्धन सब प्रकार के पतन के मूल हैं, दूसरी ओर हम यह भी मानते हैं कि पवित्रता, व्रत-निष्ठा एक मानसिक या आध्यात्मिक तथ्य है, शारीरिक नही, तब फिर क्यो हम एक नकारात्मक शारीरिक पवित्रता को इतना महत्त्व देते हैं कि उस के न होने पर किसी व्यक्ति को नरक का पात्र समझने लग जाते हैं ? और विशेषतया स्त्री को ?

"क्या ऐसा नही हो सकता कि कोई उस शारीरिक नियन्त्रण को उतना महत्त्व न दे, जो कर्मों को करे, जिन्हे हम वर्जित समझते हैं, किन्तु पापभावना से नहीं, केवल इसी लिए कि वह उन्हे इतना महत्त्व नही देता, इसी लिए कि वह इतनी छोटी-सी बात के लिए अपनी स्वाभाविक प्रगति को दबाना नही चाहता ? यदि कोई ऐसा हो तो हम उसे कैसे दोषी ठहरायें, यह जानते हुए कि पाप वह नही है जो बिना पाप-भावना के किया जाय ?

"या फिर, क्या यह एक सरलतापूर्ण उदारता नही हो सकती, एक उपेक्षा ? बहुधा ऐसा होता है कि कोई हम से कोई वस्तु माँगता है, और हम उसे दे देते हैं, यह जान कर भी कि उसे नही माँगनी चाहिए थी, केवल इस लिए कि हमारे लिए उस वस्तु का कोई महत्त्व नही है, हम सोचते हैं कि ऐसी क्षुद्र वस्तु के लिए क्यो किसी का मन दुखाया जाय ?"

एकाएक गिरीश की विचार-धारा रुकी। उस ने देखा कि वह भावुकता के आवेग मे किधर बहा जा रहा है···किस अकर्मण्य विशृखलता की ओर, जो उदारता की आड मे फैल रही है। उस ने अपनी ग़लती जानी कि जिस विषय की वह आलोचना कर रहा है, उस का उद्भव उन भावनाओ से नही हुआ था, जो वह उन्हे दे रहा है, बल्कि केवल रुपये के लालच के लिए यानी रुपये के लिए इन पहाड़ियो का आचार और चरित्र बिकाऊ है।

पर · पहाड़ो को ही देखो, उन का बाह्य आवरण नित्य बदलता है, भ्रष्ट

होता है और धुल कर पवित्र हो जाता है, किन्तु उन का अन्तरतम वैसा ही अलग, अकेला और अखण्ड पवित्रता से भरा रहता है। क्या मानव ऐसे नही हो सकते ?...

पर यह धोखा है ! ऐसे तर्क से केवल पतन ही पतन हो सकता है। उन्नति नियम के बिना, एकनिष्ठा के बिना, नहीं होती।

इस तथ्य पर पहुँच कर गिरीश न अपने विचार स्थिर कर लिये और फिर उस से आगे पहाडी जीवन की उन रहस्यमयी घटनाओ पर विचार करने की आवश्यकता नही पडी। वह करुणा के पत्र के बारे मे ही सोचने लगा—करुणा अवश्य दु खी है, नही तो इतना उद्वेग-भरा पत्र नही लिख सकती थी—विशेप-तया इस अवस्था मे, जब कि उस ने अनेक दिनो से करुणा से कोई व्यवहार नही रखा। पर क्या करुणा का दु ख, उस की यन्त्रणा और—हाँ, उस अखरने वाला वह दासत्व भी इस पहाडी जीवन से अच्छा नही है, इसी पहाडी जीवन म, जिस म करुणा अपने सुख-स्वप्नो का चरम उत्कर्ष देखती है ?

गिरीश ने जाना, उस म यदि प्रतिभा है, लेखन-शक्ति है, तो वह यहाँ पहाडो मे वृद्धिगत न होगी, यह उस का क्षेत्र नही, वह यहाँ रह कर उस स्वप्न को साकार नही बना सकता, जो वह कुछ दिन पहले देख रहा था। यहाँ जहाँ के जीवन म प्रतिभा का आहार बिलकुल नही मिलता जहाँ चरित्र घुट कर मर जाता है, और जीती है केवल लिप्साएँ, उग्र पाप-भावनाएँ, जहाँ के जीवन का सार है गरीबी, कायरता, दम्भ और व्यभिचार, जहाँ प्रत्यक वस्तु एक धातु के टुकडे पर निछावर होती है, जहाँ लोग पर्वता के मुख को काला कर रहे हैं अपने ओछे छिछोरे, पंकिल, निरर्थक जीवन से ! इस स वह दासत्व ही अच्छा, वह भीड-भडक्का, वह रोग, पीलापन और घुलती हुई मृत्यु। करुणा रानी है तो उसे रोने दो, वह यदि बलि है तो हमारी सभ्यता की, जिस बनाय रखना हमारा कर्त्तव्य है और जिस मे मेरी प्रतिभा का एकमात्र आधार है।

और यह निश्चय करके गिरीश होटल पहुँचा। वहाँ उस ने अपना सामान बाँधा और सायकाल ही को लौट गया—वही जहाँ से आया था—अपने संसार के सभ्य जीवन म, जो पहाडी जीवन की सभ्यताओ म उलझा हुआ नही है, यद्यपि उस म भीड है, और रोग हैं, और घुला मारनेवाली मृत्यु है और है करुणा का रोदन, जिसे कोई सुनता ही नही।

3

और पहाडों में यह नित्य ही होता है, शायद दिन में कई बार होता है।

नीचे के समतल प्रदेशों से अपनी सभ्यता और शान्ति-रूपी घातक ओषधियों द्वारा जीवित रहनेवाले लोग आते है—पहाडों पर अपने निर्बल हृदय और निर्बलतम पाचनशक्तियाँ ले कर, और लौट जाते हैं भन्नाते हुए मस्तिष्क और मतली से आक्रान्त उदर ले कर।

क्योंकि ये पर्वत—ये मूक, विराट्, अभिमानी और लापरवाह पर्वत—अपना रहस्य खोले नही फिरते, अपना हृदय उघाड कर दिखाते नही फिरते, उन्हें वही देख और खोज पाता है, जो उन की खोज मे निरत रहता है, जो उन के लिए अनवरत यत्न करने की क्षमता रखता है, और जो इतना सहिष्णु होता है कि उन्हें देख कर चौंधिया नही जाता, अन्धा नहीं हो जाता। पहाड कुछ कहते नही, उन में जिह्वा है ही *नहीं*।

और यदि होती भी, तो क्या वे अपना रहस्य कहते? नही, वे केवल अपनी प्रशान्त वाणी में कहते, इन मध्य ध्वनियों, असख्य गिरीशों की ओर उन्मुख हो कर कहते—

"तुम उन में भी गये-बीते हो, जो हमारे पास आते हैं, केवल हमारा लोभना बाह्य सौन्दर्य देखने। खोजते हैं केवल रगों की या ध्वनियों की सफाई और मिठास, सौन्दर्य, सौन्दर्य, सौन्दर्य···क्योंकि वे तो केवल अन्धे ही हैं और तुम हो जान-बूझ कर दृष्टि का दुरुपयोग करनेवाले, उलटा देखनेवाले। वे हैं वैसे लोग जो एक मूर्ति को देख कर उसे केवल पत्थर—एक निरर्थक शिला-खण्ड समझते है, किन्तु तुम उन में से हो जो उस के एक अश को सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र में देख कर उसे छिद्रों और सूचियों से भरा पा कर समझते हैं कि वह एक व्रण मात्र है ··तुम जो भावुकता मे अभिशप्त हो।"

उन की कहानी की सत्यता फिर भी न कही जाती, वैसी ही रह जाती, केवल पढने की क्षमता रखनेवाले उसे पढ़ते और समझते और पर्वतों मे प्रेम करते।

क्योंकि वह है ही अकथ्य, जैसे सभी गहरी बातें अकथ्य होती हैं—गहरा प्रेम, गहरी वेदना, गहरा सौन्दर्य, गहरा आह्लाद, गहरी भूख।

जब एक पहाडी घोडा न लादने पर पिटता है, और फिर संन्यासी हो कर लापता हो जाता है, तब पहाड उस की उस गहरी आत्मग्लानि का चित्र नही खीचते जिस के कारण वह ऐसा करने को बाध्य होता है, जिस के कारण वह अपने कुटुम्बियो, अपने बाल-बच्चो का ध्यान भुला कर, अपने व्यक्तित्व को इस लिए कुचल डालना है कि उस व्यक्तिगत जीवन मे केवल परमुखापेक्षा, झुकना, प्रपीडन और दासत्व की प्रतारणा है, वे चुप ही रह जाते हैं। और जब उसी पहाडी की लडकी, अपने पिता को पीटने वाले के मुख से दर्प और आत्मश्लाघा-भरे शब्दो मे वही कहानी सुनती है, तब वे किसी से उस के व्यथा भरे जड-विस्मय का रहस्य कहने नही जाते; जब कोई पहाडी, यह समझ कर कि लोग उन के घर आते हैं केवल उन की स्त्रियो को भ्रष्ट करने, उनके भोलेपन से और उन की नैसर्गिकता से लाभ उठाकर उन्हें पतित और बदनाम करने, उन लोगों के प्रति उपेक्षा का बर्ताव करता है, तब पर्वत किसी देखनेवाले को उस उपेक्षा का कारण नही बताते फिरते। जब एक पहाडी कन्या अपने शत्रु, अपने पिता के घातक से एक दिन और समय नियत करती है, ताकि वह उस से बदला लेने का उचित उपाय सोच सके, तब वे पर्वत उस कन्या के किसी आलोचक को सत्य का निदर्शन कराने नही जाते, उस की मानसिक प्रगति समझाने की चेष्टा नही करते, और अन्त मे, जब कोई उन के विषय मे अत्यन्त अनुचित, अन्यायपूर्ण भावना ले कर, उन की विशाल स्वच्छन्दता और शक्तिमत्ता को छोड कर लौट जाता है अपने घिरे हुए, बँधे हुए, कलुषित, मारक, चूहेदान जैसे ससार मे, तब वे उसे वापस भी नही बुलाते। वे उसी भव्य, विराट्, उपेक्षा-पूर्ण कठोर मुस्कराहट से निश्चल आकाश की ओर देखा करते है।

क्योकि उन की ये सब अनुभूतियाँ वैसी ही अकथ्य हैं, जैसी उन के वृक्षो मे से बहती हुई हवा के सगीत की लय, उन के हिम-शिखरो पर सान्ध्य-किरणो के नृत्य का उल्लास, उन के वातावरण को दहला देनेवाली बीन की ध्वनि का अभिप्राय, उन की नग्नता का सौन्दर्य, या एक ही वाक्य मे कहें — क्योकि पहाडी जीवन की सम्पूर्णता निरुपम है—अपनी-सी ही गहरी, अपनी-सी ही अकथ्य, अपनी-सी ही अतिशय सुन्दर···

अलिखित कहानी

•

मैं अपनी गृहलक्ष्मी से लड कर अपने पढने के कमरे मे आ कर बैठा हुआ था और कुढ रहा था।

लडाई मैंने नही की थी और निरपेक्ष दृष्टि से देखते हुए कहना पडता है कि शायद उस ने भी नही की थी। वह अपने आप ही हो गई—या यों कह लीजिए कि जैसी परिस्थिति हमारी है, उस मे लडाई होना स्वाभाविक ही है, उस का न होना ही अचम्भे की बात है।

मैं कोई बडा आदमी नही हूँ—पता नही, आदमी भी हूँ कि नही !—मैं हिन्दी का कहानी-लेखक हूँ। और मेरी गृहलक्ष्मी एक हिन्दी लेखक की गृहलक्ष्मी है—हिन्दी लेखकों का और किसी लक्ष्मी से परिचय ही कब होता है ? हम दोनो का जीवन बिल्कुल नीरस है। इस के अलावा कुछ हो भी नही सकता। और इसी लिए हमारी लडाई अवश्यम्भावी है ··

क्योंकि, मैं कभी कभी यत्न करता हूँ, अपनी कहानी के 'एटमास्फियर' द्वारा उस नीरसता का दूर कर दूं जो हमारे जीवन म समा रही है। पर मेरी पत्नी यह नही कर सकती, उस का जीवन उस नीरसता मे, गृहलक्ष्मी की सामान्य दिनचर्या म ऐसा जकडकर बँधा हुआ है कि वह हिल-डुल भी नहीं सकती—अगर कभी हिलने की चेष्टा करे तो उसी दिन हम दोना को रोटी न मिले—घर में चूल्हा ही न जले ··और मैं कभी यह भी यत्न करता हूं कि अपने को कहानी के 'एटमास्फियर' मे न मुलाकर कहानी का 'एटमास्फ़ियर' ही घर मे ले आया जावे, ताकि हम दोना उस का रस ले सकें, किन्तु तब लडाई हो जाती है ··

जैसे आज हुई। मैं एक प्रेम-कहानी लिखना उठा था, प्रेम की भावुकता मे छलकती हुई, और उस के कुछ वाक्य मेरे कानो म अभी गूँज रहे थे ··मैं एकाएक उठ कर रसोई में गया, दखा,

गृहलक्ष्मी अनारदाना पीस रही है। इस से मैं तनिक हतप्रभ नहीं हुआ, उसे सम्बोधन करके वे वाक्य दुहराने लगा···उस ने विस्मय से मेरी ओर देखा, फिर झुँझला कर बोली, "यह सब काम करना पडता तो पता लगता —"

यदि मैं इतने से ही घबरा जाता, तो क्या खाक प्रेमिक होता ? मैं और भी कहने लगा —

उसे गुस्सा आ गया । बोली, "तुम्हे शर्म भी नही आती । मैं काम करती मरी जाती हूँ, घर मे एक पैसा नहीं है, और तुम बहके चले जा रहे हो, जैसे मैं कोई थियेटर की—"

मुझे ऐसा लगा, किसी ने थप्पड मार दिया हो । मेरा सब आह्लाद मिट्टी हो गया, मुझे जो भयकर क्रोध आया उसे मैं कह भी नही सका, चुपचाप अपने पढने के कमरे मे आ गया और सोचने लगा ·

मुझे सूझा, घर को—इस प्रवचना और कुढन के पुञ्ज को जो घर के नाम से सम्बोधित होता है—छोड कर चला जाऊँ ! पर, यदि इतने साधन होते कि घर छोड कर जा सकूँ, तो घर ही मे न सुख से रह सकता ! यही सोचते-सोचते मेरा क्रोध गृहलक्ष्मी पर से हट कर अपने ऊपर आया । वहाँ से हट कर अपने काम पर और फिर ससार पर जाकर कही धीरे-धीरे खो गया, मैं केवल कुढ़ता रह गया···

ऐसे ही, ऊँघने लगा । ऊँघते-ऊँघते मुझे याद आया, तुलसीदास भी अपनी स्त्री के मुख से ऐसी एक बात सुन कर विरक्त हो गये थे और तुलसीदास बन गये थे ! और एक मैं हूँ · मुझे सूझा, इस विभेद को कहानी मे बाँध कर रखूँ, अपने जीवन की सारी विवशताएँ उस मे रख दूँ···

नीद आने लगी । मैंने मेज पर पडी हुई किताबो को एक ओर धकेल कर, सिर रखने की जगह निकाली, और वही मेज पर सिर टेक कर सो गया

नीद खुली, तो उस ढेर मे से एक किताब खीची और विनमस्क-सा हो कर उसके पन्ने उलटने लगा । एकाएक मेरी दृष्टि कही अटकी और मैं पढने लगा ··

"तुलसीदास के जीवन की सब से महत्वपूर्ण घटना थी वह, जब वे अपनी पत्नी के घर गये और उस की फटकार सुन कर एकाएक विरक्त हो गए । इसी

घटना न उन के जीवन को बना दिया, उन्हे अमर कर दिया, नही तो वे उन साधारण सुखी सामान्य प्राणियों की तरह जीवन व्यतीत करते, जो अपनी जीवन-सन्ध्या मे देखते है कि उन के जीवन में कोई कष्ट नहीं हुआ, किन्तु साथ ही महत्व की बात भी कोई नही। उन का जीवन सुखी रहा है उन के लिए, किन्तु ससार के लिए—फीका, व्यर्थ, निष्फल··

"पुरुष प्रेम की स्वाभाविक गति है स्त्री की ओर, किन्तु जब वह चोट खा कर उधर स विमुख हो जाता है, तब वह कौन-कौन-स असम्भव कार्य्य नही कर दिखाता ··

"किन्तु वह तभी, जब उसे इसके अनुकूल क्षेत्र मिले। ऐसा भी होता है कि वह चेष्टाएँ कर के रह जाता है, स्त्री से विमुख होकर भी वह अपने को ऐसा आबद्ध पाता है कि और किसी ओर नही जा पाता, बढ कर मर जाता है।

'इसी तथ्य को ले कर इस कहानी के लेखक ने यह छोटी-सी कहानी गढी है।"

यह क्या ? जो कहानी मैं लिखने को था, वह पहले लिखी जा चुकी है ? और एक बिल्कुल अज्ञात लेखक द्वारा, जिस की कहानी समझाने के लिए सम्पादक को इतनी लम्बी भूमिका बांधनी पडी है !

मैं समझा था, यह मेरी ही अभूतपूर्व सूझ है, मेरी सर्वथा अपनी रचना, जो मेरा नाम अमर कर देगी, किन्तु वह भी दूसरे को सूझ चुकी है, दूसरे द्वारा लिखी और प्रकाशित की जा चुकी है, एक अज्ञात लेखक द्वारा ! हाय अत्याचार !

मैं पन्ना उलट कर वह कहानी पढने लगा···

1

"जो कहानी केवल कहानी-भर होती है, उसे ऐसे लिखना कि वह सच जान पडे, सुगम होता है। किन्तु जो कहानी जीवन के किसी प्रगूढ रहस्यमय सत्य को दिखाने के लिए लिखी जाय, उसे ऐसा रूप देना कठिन नही, असम्भव ही है। जीवन के सत्य छिपे रहना ही पसन्द करते है, प्रत्यक्ष नही होते। उन्हे दिखाना हो तो ऐसे ही साधन उपयुक्त हो सकते है जो उन्हे प्रत्यक्ष न करें, छिपा ही रहने दें, जो छायाओं और लक्षणो के आधार पर उसका आकार

विशिष्ट वर दें, और बस···

"इसी लिए मैं अपनी इस कहानी को ऐसे अत्यन्त असम्भाव्य रूप में रख कर सुना रहा हूँ, इस आशा से कि जो सत्य मैं कहना चाहता हूँ, वह इस रूप में शायद रखा जा सके, पाठक के आगे व्यक्त नहीं तो उस की अनुभूति पर आरूढ़ किया जा सके···

"हाँ तो, कही, समझ लीजिए कि आख्योपन्यास की किसी रात के वातावरण से घिरे हुए किसी नगर में दो युवक रहते थे। उन की विशेषता यह थी कि दोनों का जन्म एक ही दिन हुआ था, उन के आकार-प्रकार भी बिल्कुल एक-से थे, और उन का नाम भी एक ही था। लोग कहते थे कि वे जुड़वाँ बच्चे थे, किसी देवता के वर या शाप से अलग-अलग घरों में उत्पन्न हो गये थ। वे शैशव में ही परस्पर आकृष्ट रहते थे, फिर तब से इकट्ठे खेले और पले थे···

"ऊपर कह आये हैं कि उन का नाम भी एक ही था। इस प्रकार इन की इस सम्पूर्ण समरूपता का खण्डन करने वाली एक ही बात थी—एक धनिक की सन्तान था और एक दरिद्र की। बस, यही एक विभेद था उन के जीवन में। यद्यपि इस के फलस्वरूप एक और भी भेद आ गया था उन के नाम म· दोनों के माता-पिता ने उन का नाम रखा था तुलसी, किन्तु एक धनिक होने के कारण तुलसीदास कहाता था और दूसरा दरिद्र का पुत्र होने के कारण तुलसू के नाम से पुकारा जाता था·

"यह सब तो हुई पूर्व की बात। हमारी कहानी का आरम्भ इन दोनों के विवाह के बाद से होता है। हम कह चुके है कि इन दोनों का जीवन बिल्कुल एक-सा था, वे पढ़े भी एक साथ ही थे। और उस के बाद दोनों की रुचि भी साहित्य की ओर हो गई थी। और पढ़ाई के समाप्त कर चुकने पर एक ही दिन दोनों के विवाह भी हो गये थे, दोनों अपनी पत्नियों पर सम्पूर्णत आसक्त थे···

"इतनी अधिक समरूपता ससार म मार्के की चीज़ है, दैवी देन है इस लिए यह आशा करनी चाहिए थी कि दोनों को पत्नियाँ भी एक-सी ही मिलेंगी। और ऐसा ही हुआ भी, पत्नियों का साम्य भी उन्हीं की भाँति था और उन दोनों का नाम भी एक ही था।

'खैर। विवाह के बाद की बात है, एक दिन दोनों नवयुवकों को एक साथ

ही विचार आया कि पत्नी के बिना घर बिल्कुल नीरस है, पत्नी ही घर की लक्ष्मी है और पत्नी ही सरस्वती भी, क्योंकि उस की अनुपस्थिति में काव्यो-चित 'इन्स्पिरेशन' भी नही प्राप्त होता। अत. दोनो उठे और एक साथ ही चल दिये अपनी पत्नियो को लिवाने—वे उस से दो-चार दिन पहले ही मायके गई थी…

'दोनो एक ही पथ पर इकट्ठे ही जा रहे थे, क्योंकि दोनों की ससुराल एक ही स्थान पर तो थी, साथ-साथ के घरो में।

'अब, यह तो पाठक जान ही गये होंगे कि ये दोनो, तुलसीदास और तुकन्, युवक होने के कारण मनचले भी थे, और कवि होने के कारण लापरवाह और उद्धत। बस, दोनो ने ससुराल में घुस कर उचित-अनुचित का विचार तो किया नही, प्रणाम नमस्कार के झमेले में पडे नहीं, सीधे अपनी पत्नियों के कमरे में चले गये, और उन की काव्यमयी स्तुति करने लगे—उन्हें घर लिवा ले चलने के लिए।

"पत्नियो को यह बात अच्छी नही लगी। एक तो स्त्रियों को वैसे ही रीतिरस्म का, बडे छोटे का, परदे दिखावे का ध्यान अधिक रहता है; दूसरे ये पत्नियाँ कोई कवि तो थी नही, जो उस मधुर काव्यमयी प्रेरणा को समझती जो दोनों युवको को वहाँ घसीट लाई थी, या समझ कर उस का आदर करती, उसे अपनाती और स्वयं उसके आगे नमित होकर वैसी ही निर्लज्ज हो जाती। उन्हें अपने पतियो की यह बात बहुत बुरी लगी। क्रोध भी आया, ग्लानि भी हुई। उन्होंने सोचा, इन्हें फटकारना चाहिए।

"किन्तु, स्त्रियाँ यह भी तो जानती हैं—अपने हृदय के गुप्ततम कोने में अनुभव करती हैं—कि प्रेम को फटकारा नहीं जा सकता; वह इतना विशाल, इतना सर्वव्यापी, और सब-कुछ होते हुए इतना निराकार है…उसे फटकारा कैसे जाय?

'तब उन्हें सूझा, इस के लिए कोई ऐसी वस्तु चाहिए जो इस से भी विशाल, इस से भी सर्वव्यापी, इस से भी निराकार हो, यानी परमेश्वर…यानी, परमेश्वर की दुहाई दे कर इन्हें फटकारना चाहिए। और तब दोनों ने एक अलंकार-भरे दोहे में (क्योंकि कवियों की भर्त्सना करनी थी, तो क्या रस में कैसे होगी?) पत्नियों ने खूब फटकारा।

"दोनों पति अपने भीतर प्रेम की एक पीयूष सलिला बहती हुई ले कर आये थे, किन्तु उन्होंने देखा, इस भर्त्सना से वह एकाएक सूख गई, बन्द हो गई ! उन्होंने हृदय टटोलकर देखा, वहाँ था एक विशाल मरु, और कुछ नहीं, कुछ नहीं ··

"और वे विरक्त हो कर उल्टे-पाँव लौट पड़े, बिना अपनी पत्नियों से एक शब्द भी कहे, सिर झुकाये, आहत··

"घर से बाहर, दोनों का सामना हुआ। दोनों ने एक बार एक-दूसरे को आँख भर कर देखा, कुछ बोले नहीं। फिर दोनों अपने घरों की ओर चल दिये, किन्तु एक साथ नहीं, अलग-अलग। तुलसीदास चले सड़क की दाईं ओर, और तुलसू बाईं ओर। और उन के मध्य का वह थोड़ा-सा व्यवधान ऐसा हो गया, मानो वह ब्रह्माण्ड के विस्तार का दीर्घतम व्यास है, और वे दोनों उस के छोरों पर बँधे हुए, निकट नहीं आ सकते··

"और ऐसे ही वे अपने-अपने घर जा पहुँचे।"

2

"वह जो दैवी देन थी, मानो लुट गई, मानो उस भर्त्सना भरे दोह के दाह में भस्म हो गई। तुलसीदास और तुलसू के जीवन बिल्कुल एक-दूसरे से अलग हो गये ··उस में अगर कुछ समता रह गई तो उन का भूत, जो मर चुका था। और उन के भविष्य···

"यहाँ से उन की कहानी अलग-अलग कहना ही ठीक है।"

"तुलसीदास ने घर पहुँच कर निश्चय किया, अब वे कभी स्त्री का नाम भी नहीं लेंगे, मुँह देखना तो दूर। उन का सारा मस्तिष्क स्त्री-मात्र के प्रति एक विरक्त ग्लानि-भाव से भर गया। उन के जीवन की फिलासफी, जो अब तक स्त्रियोन्मुख थी, अब उधर से विमुख हो गई। उन्होंने देखा, स्त्री केवल पुरुष के पतन का एक साधन है, एक मिथ्या मोह, जिस से बचना, जिस की ताड़ना करना, जिसे जीवन से उन्मूलित करना, पुरुष का परम कर्त्तव्य है ·· स्त्री, कुबुद्धि, कुमन्त्रणा, वासना पाप, अधोगति, ईश्वर-विमुखता, नास्तिकता, ये सब एक ही तथ्य के विभिन्न मायाजनित रूप हैं, जिन्हें हम भ्रमवश विभिन्न नाम देते हैं···और यह निश्चय कर के, स्त्री की नीचता और अयोग्यता

और लाडन-पात्रता पर विश्वास करके, वे खोजने लगे कि अब ससार मे क्या है, जिस मे अपनी जीवन-नौका बाँधी जाय, क्योंकि बिना सहारे वह ठहर नहीं सकती। और उन्होंने पाया कि स्त्री से बढ कर व्यापक कोई वस्तु अगर हो सकती है तो ईश्वर ही। जो स्त्री से विमुख है वह अगर अपनी समूची शक्ति ईश्वर की भावना को पकड रखने मे नहीं लगाता तो वह इस ससार-रूपी विराट् शून्य मे खो जायगा, उस का निस्तार किसी भाँति नहीं हो सकता··· उन्होंने देखा, जो विरक्त होकर ईश्वरवादी रहते हैं या होते हैं, वे इस लिए नहीं होते कि ईश्वर है, या वे आस्तिक है, बल्कि इस लिए कि उन्हें विवश होना पडता है, स्त्रीत्व-भावना, प्रेम-भावना को न मानने पर उन के लिए एकमात्र पथ यही रहता है कि ईश्वर-भावना के आगे सिर झुकायें, क्योंकि कहीं तो सिर झुकाना ही पडता है···

"यह सब, उन्होंने इस रूप मे नहीं देखा, या देखा भी तो बहुत जल्द भुला दिया। मानव के मस्तिष्क मे एक ऐसी शक्ति है, जो कठोर सत्य का ग्रहण करती है तो पहले उसे कोमल बना लेती है, अपने अनुकूल कर लेती है, अपने बडप्पन के आगे झुका लेती है। वही तुलसीदास के मन मे भी हुआ और वे नहीं जान पाये कि उन की इस आस्तिकता का, इस धर्मपरायणता का, इस ईश्वरोन्मुख भक्ति, इस परमानन्द का मूलोद्भव कहाँ से हुआ है···

"खैर! तुलसीदास ईश्वर-सेवा का व्रत ले कर घर से निकल पडे। देशाटन करने लगे, देश के विभिन्न विद्यापीठों और बौद्धिक सस्थाओ को देख कर अपना ज्ञान और अनुभव बढाने लगे···वे जहाँ जाते, उन का स्वागत होता, लोग उन्हें अपना रहस्य दिखाते और उन की सम्मति माँगते, क्यो कि वे एक तो सम्पन्न, दूसरे प्रतिभाशील, तीसरे यौवन मे ही विरक्त और इस लिए अधिक आकर्षक, और इस प्रकार सर्वथा आदरणीय थे···जब वे बहुत-कुछ देख चुके, और उन्होंने पाया कि वे काफी विद्या और कीर्तिलाभ कर चुके है, तब उन्होंने बौद्धिक सस्थाओ का भ्रमण छोड तीर्थाटन करना आरम्भ किया; विभिन्न स्थानों के मन्दिर देख-देख कर, वहाँ के भव्य, शान्त सौरभ-भार से सुन्दर, घण्टा ध्वनि और आरती-द्युति मे एक प्रकम्प आह्लादमय, वातावरण से उत्पन्न होने वाली अकथ जाग्रति को कविता-बद्ध करने लगे। धीरे-धीरे उन की कीर्ति बहुत फैल गई, उन के कई एक शिष्य भी हो गये, तब उन्होंने बना-

रस मे आ कर विश्राम किया और वही एक विद्यापीठ या आश्रम स्थापित कर के, अपने शिष्यो को एक महाकाव्य लिखाना आरम्भ किया जो कि ससार को स्त्री-प्रेम से परे खीच कर, भक्तिरस मे परिप्लावित कर देगा, जो श्रीराम के भक्तो के लिए वेद से बढकर महत्त्व रखेगा, और जो तुलसीदास का नाम, और गौण रूपेण उन की पत्नी का नाम (जिस का वे उच्चारण भी नही करते) अमर कर जाएगा'' तुलसीदास प्रौढ हो गये हैं, धीरे-धीरे वृद्ध भी हो जायेंगे फिर भक्तिरस से अनभिज्ञ मृत्यु आ कर उन्हें उठा ले जायगी, किन्तु जीवन क पट पर वे अमिट अक्षरो मे अपना नाम लिख जायेंगे, उसे कोई मेट सकता है ?

3

"और तुलसू '

' वह थका-मांदा भूखा घर पहुँचा और अपनी झोपडी के एक कोने मे पडी फटी चटाई पर बैठ कर सोचने लगा, वह मेरे जीवन की चन्द्रिका किस बादल म उलझ कर लुप्त हो गई प्रतिभा कहाँ गई '

"उस ने भी देखा, स्त्री कितनी भयकर शक्ति है कितनी व्यापक, कितनी अमोघ ! उस ने भी देखा, वह मानव को घेरे हुए है, घेर कर अटूट पाशो मे बाँधे हुए है···

"उस के भी खिन्न और विरक्त और आहत मन ने कहा, स्त्री एक बन्धन है, उसे काट फेंको ! जाओ, ससार तुम्हारे सामने खुला पडा है, प्रतिभा तुम्हार पास है। एक स्त्री के एक वाक्य के पीछे अपना जीवन खोओगे ? उठो देखो, ससार कुम्हार की मिट्टी सा निकम्मा और आकार हीन पडा है, उस बनाओ, किसी साँचे मे ढालो, अपने स्त्री विमुख किन्तु प्रोज्ज्वल शक्ति सम्पन्न प्रेम की भट्ठी मे पका कर उस का कुछ बना दो ! और अमर हो जाओ !

"किन्तु तुलसू ने यह भी देखा, उस के बूढे माता पिता उसकी ओर उन्मुख हुए मानो आँखो से ही कोई सन्देश उसे पहुँचा रहे हैं, जिस मे पितरोचित आज्ञापना नही, एक दरिद्र अनुरोध, एक करुण भिक्षा-सी है उस न दखा, वे भूखे हैं और उस का कर्त्तव्य है उन्हें खिलाना पिलाना, उन की सवा करना, उन के लिए मेहनत करना और उस मे अगर अपनी प्रतिभा का उपयोग अपने उच्चतम आदर्श को छोड कर किसी छोटे काम के लिए करना पडे तो उस

"और उस ने यह किया। वह विवश हो कर भजन-मण्डलिया, रास-अभिनय करने वाली टोलिया कथावाचको के लिए भजन, गीत इत्यादि लिखने लगा, जिस से उस की, उस के माता पिता की, जीविका चल सके और उस ने देखा, ज्या ज्या वह अधिकाधिक मेहनत करता है, अधिकाधिक उग्र प्रयत्न स वैस गान, वैसे भजन लिखता जाता है, जैस उस से मांगे जाते है, त्या-त्यो उस की प्रतिभा नष्ट होती जाती है, त्यो-त्या यह यन्त्र-तुल्य काम भी कठिनतर और कष्टमाध्य होता जाता है और अन्त मे एक दिन ऐसा आया, जब उस ने देखा वह कुछ भी नही लिख सकता—वे भद्दे कवित्वहीन 'इडियोटिक' गीत भी नही, जिन मात्र की उस से आशा की जाती है, जब उस ने देखा, वह अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग कर के भी माता-पिता की सेवा नही कर सकता—क्योकि वह प्रतिभा वहाँ है ही नही—वह एक मिथ्या, एक प्रवचना थी जो इस सूक्ष्मकाल म उस छोड कर चली गई है, जब उसने देखा, वह अकेला यह नही सह सकता तब उस ने माता पिता की अनुमति ली और ससुराल जा कर अपनी पत्नी को लिवा लाया।

'रत्नावली ने घर आ कर, उस की जो अवस्था देखी, तो जो थोडा-बहुत आदर तुलसू के प्रति उस के हृदय मे रह गया था, वह भी नष्ट हो गया। तुलसू यदि अपने आहत अभिमान को लिये बैठा रहता, उस के पास न जाता, तब शायद वह उस से प्रेम करती, उस के वियोग मे पीडित भी होती, क्यो कि प्रत्येक स्त्री के लिए उपेक्षा एक आकर्षक चैलेंज है जिसे वह इन्कार नही कर सकती जिस के आह्वान को वह विवश हो कर स्वीकार करती है। किन्तु तुलसू को इस प्रकार लौटा हुआ देख कर उसे क्रुद्ध भी न पाकर, उसे और भी अधिक ग्लानि हुई, यद्यपि वह उसके साथ चली आई।

"पति के घर आकर उस ने तुलसू से कहा, 'तुम्हारे यहाँ जोरू के गुलाम बन कर बैठ रहने की कोई जरूरत नही है। जाओ, कुछ कमा कर लाओ, ताकि पेट भर खाना तो मिले।'

"जो बात तुलसू के आत्मा ने कही थी, वही आज उसे अपनी स्त्री के मुख म सुननी पडी। और आत्मा की जिस आज्ञापना की वह उपेक्षा कर गया था, वही स्त्री से पा कर वह उपेक्षा नही कर सका—यद्यपि वह स्त्री से विरक्त

हो चुका था। वह भी निकला, उसी पथ पर जिस पर तुलसीदास गये थे—उसी पथ पर, किन्तु उस से कितने विभिन्न पथ पर! तुलसू जहां जाता वहीं उस की उपेक्षा होती, क्योंकि भारत मे दरिद्रों की कब कमी हुई? और उस की ईश्वरोपासना? लोग कहते, 'घर मे खाने को कुछ नही है, तो ईश्वर-भक्ति लिये फिरता है!' और यौवन? लोगों ने कहा, 'शर्म नही आती, ऐसा जवान हो कर भी आलस के दिन काटने चला है, जा कर मेहनत-मजदूरी करते नहीं बनता?' और प्रतिभा? वह यदि उस दरिद्रता की चक्की मे पिस कर बची भी होती तो भी क्या इस घातक उपेक्षा मे दीख पाती···

"एक महीने के बाद तुलसू लौट आया—भूखा, प्यासा, नगा। छाती की एक एक पसली दीख रही थी, मुँह खिचा हुआ, सफेद, मानो हड्डी पर सूखा चाम तान कर लगा दिया गया हो, आँखें धँसी हुई, मानो अपनी ही लज्जा देख कर लज्जा से गडी जा रही हों—लौट आया, और झोपडी के आँगन मे धूप म ही बैठ गया, अपन घर मे भीतर जा कर स्त्री का सामना करने का साहस न पा कर···

"लौट आया, और आँगन म धूप मे बैठकर रोने लगा ··ऐसा रोना जो कि जीवन मे एक बार रोया जाता है, ऐसा रोना जो कि और सब रोने म भयकर और घातक होता है, बिना मुखाकृति बिगाडे (यद्यपि और बिगडकर मुखाकृति क्या होती!) रोना, बिना आँसू बहाय रोना, रोना कही प्राणों के भीतर

"तभी उस की स्त्री बाहर आई और उस ऐसे बैठे देख कर तीखे व्यग के स्वर मे बोली, 'लौट आये? हाँ, बैठो, जरा सुस्ता लो, बहुत काम कर आये हो! एक वह है जिस का यश दुनिया गाती है जिस ने विरक्त हो कर भी अपने साथ ही अपनी स्त्री का नाम भी अमर कर दिया है, और एक तुम! शर्म-हया कुछ होती तो डूब मरते उसी दिन जब ··' और फिर तुलसू के कमरबन्द मे खोसी टूई कलम देख कर, पुन धधक कर 'लिखते है काव्य करते हैं! इस से तो मेरी यह भोंडी छुरी ही अच्छी है, साग-पात तो काट लेती है, कुछ काम तो आती है!' कह कर उस ने हाथ म ली हुई छुरी तुलसू के सामने पटक दी। और वापस भीतर चल दी। दो एक कदम जा कर रुकी और अपने व्यक्तित्व का सारा जोर, अपने पत्नी-हृदय की सारी ग्लानि, अपने स्त्रीत्व से सक्षिप्त सारा तिरस्कार एक शब्द म भर कर बोली 'लेखक!' और फिर

भीतर चली गई···

तुलसू का प्याला भर आया। वह मुग्ध दृष्टि से उस छुरी की ओर देखने लगा, धीरे-धीरे गुनगुनाने लगा, यह भोंडी छुरी अच्छी है, साग-पात तो काट लेती है, कुछ काम तो आती है···कुछ काम तो आती है···

"उस ने देखा, स्त्री ही संसार की सब से बडी शक्ति है, स्त्री का प्रेम ही संसार की सबसे बडी प्रेरणा···जब वह स्त्री से विमुख होता है, तब भी उस की शक्ति नष्ट नही होती, परिवर्तित हो जाती है, और कार्यों मे लग सकती है···उसने देखा, उस एक दोहे के फलस्वरूप वह क्या कुछ नहीं हो सकता था···किन्तु नही हुआ, इस लिए कि जो शक्ति उसे बनाने मे लगती वह सारी खर्च हो गई इन छोटी-छोटी अत्यन्त क्षुद्र झंझटों मे, वह लड़ता तो रहा, किन्तु उन्नति की ओर बढता हुआ नही, अवनति से बचता हुआ मात्र···

"और अपनी हार मान कर भी, उस ने जाना, वह एक बहुत बडा तथ्य पहचान गया है जो शायद तुलसीदास ने भी नही पहचाना, कि स्त्री का प्रेम ही संसार की सबसे बडी और अचूक प्रेरणा है, चाहे वह कोई रूप धारण कर के आविर्भूत हो। उस ने जाना, वह रुद्ध हो कर, नष्ट होकर भी जीवन पर अपना अधिकार बनाये रखता है। जैसे अब। वह स्त्री से कभी का विरक्त हो चुका है, किन्तु उस की स्त्री जो प्रेरणा कर रही है, उसे क्या वह इस समय भी टाल सकता है? कभी भी टाल सकता है?

"उस का ध्यान फिर उस छुरी की ओर गया। वे शब्द फिर उस के कानों मे गूँजे। 'यह भोंडी छुरी ही अच्छी है।' उस ने छुरी उठाई। उँगली से देखने लगा कि क्या सचमुच भोंडी है। 'साग पात तो काट सकती है।' उतनी अधिक भोंडी नही है। 'कुछ काम तो आती है।' कुछ काम···क्या काम? वह अचूक प्रेरणा···

"तुलसू ने वह छुरी अपने हृदय मे भोंक ली।"

4

"तुलसीदास और तुलसू फिर मिले। बनारस के एक घाट पर।

"हम ने आरम्भ मे कहा था कि तुलसीदास और तुलसू आख्योपन्यास की किसी रात के वातावरण मे घिरे हुए किसी नगर मे रहते थे और यहाँ

हम उन्हे ले आये हैं बनारस मे। पर यह इस लिए नही कि हमारी कहानी झूठी है, यह केवल इस लिए कि आरव्योपन्यास के नगर भी उतने ही मच्चे हैं जितना बनारस, उतने ही स्थूल · ससार सारा बनारस-सा स्थूल भी नहीं है, आरव्योपन्यास-सा काल्पनिक भी नही, उस मे दोनो ही तत्व है···ससार मे एक-से-एक बढ कर असभाव्य घटनाएँ घटती हैं, और बिल्कुल साधारण, सामान्य घटनाएँ भी। यदि हम केवल सामान्य घटनाएँ ही चुनें और लिखें, तब हमारी कृति 'रिएलिस्टिक' कहानी है, किन्तु होती हैं सच्चाई से उतनी ही परे जितनी 'रोमाण्टिक' कृति, जो केवल असम्भव घटनाओ का ही पुञ्ज होती है···सच्चाई तो इन दोनों का मम्मिश्रण है, उस मे आरव्योपन्यास के नगरो का भी उतना ही अस्तित्व है जितना बनारस का।

"हाँ, तो तुलसू का शरीर उस के आँगन मे से उठा कर तुलसीदासजी के आश्रम के पास ले जाया गया, क्यो कि तुलसू के घर मे दाह-कर्म के पैसे भी नही थे। तुलसीदासजी को सूचना दी गई कि एक मुर्दा है जिस के जलाने का प्रबन्ध नही है, तो उन्होने तत्काल अपने एक शिष्य को भेज दिया कि वह प्रबन्ध करे। उस के चले जाने के बाद किसी ने कहा, 'वही तुलसू था जो—' और तुलसीदासजी ने, मानो बहुत दूर की कोई बात याद करने का प्रयत्न करते हुए दुहराया, 'अच्छा, वही तुलसू था जो—' और फिर अपनी भक्ति की शान्ति म लीन हो गये। लोगो ने कहा, 'धन्य हैं ये, जिन्हे—' "

स्वप्न!

पता नही क्यो, मैं चौक कर उठ बैठा, मैंने जाना, मैं वह सब पढ नही रहा था, वह स्वप्न मे मेरी कल्पना दौड रही थी, वह मेरे जाग्रत् विचारो का एक प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) मात्र था··

मुझे ध्यान हुआ, यह बनी-बनाई कहानी है। मैंने कागज़ लिये, कलम उठायी और लिखने को सन्नद्ध हो कर बैठा।

हाँ, कहाँ से आरम्भ हुई थी? कैसे?

याद नही आई·· मैं झुंझला उठा। तब जो अश याद थे, वे भूल गये··· मुझे याद रही केवल एक बात कि मेरी गृह-लक्ष्मी रोटी पका रही थी, मैं उस से लड कर यहाँ बैठा था, और सोच रहा था कि तुलसीदास—

तुलसीदास क्या?

तभी मैंने न जाने क्यो घूम कर देखा, पीछे मेरी पत्नी खडी है। और क्रुद्ध नही है। मुझे घूम कर देख कर उसने नीरस स्वर मे कहा, "चलो, रोटी खाओ!"

मैंने देखा, उस स्वर मे क्रोध नही है तो प्रेम भी नही, वह बिल्कुल नीरस है। गृह-लक्ष्मी ने लडाई को भुला दिया है, किन्तु साथ ही सुलह करने का आनन्द भी खो चुकी है। और मैंने देखा, मेरी कहानी भी नष्ट हो गई है।

मैंने एक छोटा-सा निःश्वास छोड कर कहा, "चलो, मैं आया।"

हरसिंगार



गोविन्द ने जल्दी से वह बही खोली, और उस के पन्ने उलटने लगा। पर दो-ही-तीन पन्ने उलट कर उस ने देखा, एक पन्ने से कुछ चिपका हुआ है, जिसे उस ने यत्न से उतारा, और हाथ पर फैला कर देखने लगा।

बहुत-से फूल एक-दूसरे मे पिरो कर एक लड़ी-सी बनायी गयी थी, और उस के अन्तिम फूल जोड़ कर उस की माला पूरी कर दी गयी थी। यही न जाने कब से उस पुरानी बही में दबी हुई थी, और सूख कर पीली-सी झुरझुरी हो गयी थी, किन्तु आज भी प्रत्येक फूल अलग-अलग दीख रहा था।

गोविन्द हड़बड़ाया हुआ-सा भीतर आया था। हड़बड़ाये हुए ही उस ने बही खोली थी। पर अपने हाथ मे अतीत की इस थोड़ी-सी धूल को लेकर वह सब-कुछ भूल गया, शान्त-सा स्तब्ध-सा होकर आलमारी के पास पड़े हुए स्टूल पर बैठ गया और एक हाथ मे बही, दूसरे मे वह माला ले कर कभी एक को, कभी दूसरे की ओर देखने लगा।

उस की आँखें न जाने क्यों बही म दर्ज हुई एक संख्या पर अटक गयी। उस ने पढ़ा, 'गुप्तदान—३)' और इस के साथ ही उस की स्मृति ने एक वाक्य जोड़ा, 'नहीं, नाम की क्या ज़रूरत है?'

कहाँ सुने थे उस ने ये शब्द? कभी कहीं अवश्य, नहीं तो क्या यह बाढ़ की तरह एकाएक उस के मन म आते?

शायद बहुत बार सुने हैं—पर नहीं, उस शान्त सहज म उस विशेष झिझक-भरे से काँपते स्वर म एक ही बार···एक ही बार···

और मन मे धीरे-धीरे ये शब्द 'एक ही बार' 'एक ही बार···' दुहराता गोविन्द उस सूखी माला और देखने लगा।

फूल। सूखे फूल। माला म गुँथे हुए। 'नही, नाम की क्या जरूरत है ?' 'गुप्तदान—3)' फूलों की माला। हर्रासगार के फूल।

हरसिंगार…

गोविन्द के हाथ से बही छूट कर गिर पडी। माला भी गिर जाती—अगर वह इतनी हल्की न होती, और अगर पसीने से गोविन्द के हाथ से चिपकी हुई न होती। गोविन्द मानो उन्हे और अपने-आप को भूल गया, शून्य दृष्टि से सामने की सूनी मैली दीवार को देखता हुआ, स्वय एक सजीव स्मृति बना हुआ, कुछ देखने लगा।

बीस वर्ष पूर्व

गुमटो बाजार की गन्दी गलियो मे से होती हुई वह मण्डली धीरे-धीरे बाहर निकल आयी थी, और अब लाहौर शहर की दीवार के बाहर की बस्ती मे होती हुई चली जा रही थी। जिस गली म वे हो कर वे जा रहे थे, उस म साधारण मध्यम श्रेणी के लोग रहते थे—जिन के पास घर नही, रिहाइश है, धन नही, गृहस्थी है, जो विद्वान् नही, पढे-लिखे है, सस्कृत नही, शरीफ है। जो ससार की गति मे सबसे बडे विघ्न है, किन्तु जो दुनिया की हस्ती को बनाये हुए है और कायम रखते हैं। उस मडली के चारो व्यक्तियो को इस श्रेणी के लोगो का कुछ भी अनुभव नही था—वे अनाथालय मे पले हुए अनपढ भिख-मगे इन के बारे म इस से अधिक क्या जानते कि इन्ही के छोटे छोटे दान पर उन का अनाथालय चलता था, इन्ही की दया पर उन की रोटी का आसरा था ?—पर फिर भी, इस मुहल्ले मे प्रवेश करते हुए वे चारो एक स्थान पर रुक गये और एक-दूसरे की ओर देखने लगे। सब की आँखो म एक ही प्रश्न था, पर कुछ देर तक कोई भी कुछ नहीं बोला, सब देखते ही रहे।

हाँ, सिवाय एक के जो अन्धा था। वह देख नही सकता था, फिर भी उस की नेत्रहीन आँखें उस के तीन साथियो की ओर लगी हुई थीं, और अन्धा की छठी इन्द्रिय सहज-बुद्धि मे जान गयी थी कि किसी सभ्यता के किले, मध्यम श्रेणी के मुहल्ले मे प्रवेश किया जाने वाला है। उस ने अपने गले मे एक मैली पगडी से बाँध कर टाँगा हुआ हारमोनियम अपने मैले हाथो से उठा कर, शून्य की ओर उन्मुख हो कर कहा—"गोविन्दा, जरा मेरे कोट का कालर ठीक कर

दे। सब सिमट आया है और चुभता है।"

उस के साथियों में से एक ने आगे बढ़ कर उस का कोट थामते हुए कहा—"सूरदास बड़े बन-सँवर कर चलेंगे। ज़रा मेरा भी हाल देखो, जिसके पास कोट हुई नहीं।" पर कहते हुए उस ने सूरदास का कोट ठीक कर दिया।

गोविन्द के शरीर पर वास्तव में कोट नहीं था। उस ने अनाथालय के पीले रंग की मोटे खद्दर की कमीज़ और ऊँची धोती पहन रखी थी, और कुछ नहीं। पैरों में जूता नहीं था, तलवों में फटी हुई बवाइयाँ इतनी ऊपर तक आयी हुई थीं कि भूमि पर पड़े हुए पैर में भी दीख जाती थीं, और पैरों के ऊपर, एड़ी तक, एक काली पपड़ी जमी हुई थी। सिर पर भी कुछ नहीं था, लेकिन बड़े-बड़े और उलझे हुए बालों में कोई बदबूदार तेल प्रचुर मात्रा में लगाया था, इतना कि वह माथे, गालों और कानों पर वह आया था, और बालों को बिना कंघी के, हाथ से चीर कर बिठाने की कोशिश की गयी थी। इसी-लिए तो, माथे के दायीं ओर उलझे हुए बालों का एक बड़ा-सा गुच्छा आगे लटक रहा था और दाहिनी भौंह के ऊपर के किसी पुराने घाव के दाग को आधा छिपा रहा था। उस की भवें, जो पहले ही से कुछ ऐसी थी मानो पहले ऊपर उठने लगी हों और फिर राह भूल कर इधर-उधर हो गई हों, इस घाव के कारण और भी विचित्र मालूम पड़ती थीं। पर उसका अंडाकार चेहरा और कमान की तरह खिंचे ओठ, जिन के कोने कभी-कभी काँप-से उठते थे, देख कर जान पड़ता था कि उसमें भावुकता की मात्रा ज़रूरत से अधिक है—इतनी जितनी अनाथालय में रहने वाले लड़के की नहीं होनी चाहिए। और उस की आँखें, बड़ी-बड़ी भावपूर्ण, आतुरता और प्यास को व्यक्त करने-वाली—कुछ जानने को उत्सुक-सी, इस भावना को पुष्ट ही करती थी। गोविन्द की बात सुन कर तीसरे लड़के ने कहा—"कोट नहीं तो क्या हुआ, ठाठ तो पूरे हैं!"

सूरदास हँसने लगा। बोला, "ठीक कहा, हरि!"

हरि भी अपने घुँघराले बालों में उँगलियाँ फेरता हुआ, अपने बड़े-बड़े ओठ खोल कर हँसने लगा। उसकी छोटी-सी, चपटी-सी, किन्तु नोक के पास कुछ उठी हुई नाक और ऊपर उठ गयी, उस की तीखी और चमकती हुई आँखें कुछ और चमकने लगी।

हरि ने, और चौथे लड़के ने भी, अनाथालय की वर्दी—पीली धोती और पीला कुरता—पहन रखी थी। लेकिन दोनों के पैरों में जूता था, यद्यपि टूटा हुआ, हरि गले में एक बड़े-बड़े दानों वाली रुद्राक्ष की माला पहने हुए था, और चौथे ने एक पुरानी, इकहरी खद्दर की टोपी से अपनी तीन तरफ से पिचकी और चौथी तरफ से फफोले की तरह उभरी हुई खोपड़ी को भूषित कर रखा था। उस की टोपी विशेष सफेद नहीं थी, लेकिन उस की धँसी हुई छोटी-छोटी आँखें और फाड़ कर बनाये हुए मुँह वाले साँवले बेवकूफ चेहरे के ऊपर वह मानो दर्शक की आँखों में चुभती थी। इस व्यक्ति के हाथ में एक चन्दे की बही और कुछ-एक कागज थे, जिन्हें वह लपेट कर डंडे की तरह थामे हुए था।

क्षण-भर के मौन के बाद, सूरदास ने पूछा—"यहाँ क्या गायेंगे?"

हरि और गोविन्द ने एक साथ ही मुस्करा कर कहा—"घोंघे से पूछो। क्यों वे घोंघे, क्या गायें?"

'घोंघा' अपना घोंघा-सा मुँह उन की ओर फिराकर तनिक हँस दिया, बोला नहीं।

सूरदास ने पूछा, " 'प्रभो डूबतों का' की तर्ज़ याद है न?" और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये, मुँह उठा कर जल्दी-जल्दी हारमोनियम की धौंकनी चलाते हुए बजाने लगा। मंडली मुहल्ले की ओर चल पड़ी। उस तीखी समवेत आवाज़ से मुहल्ले की पुरानी खिड़कियों के चौखट गूँज उठे, उस आवाज़ से बच भागना मुश्किल जान पड़ने लगा, ऐसे हूल हूल कर, प्राणों को घेर-घेर कर वह फैलने लगी—

प्रभो, डूबतों का तुही है सहारा—
सिवा तेरे दूजा नहीं है हमारा।

गली के मोड़ तक, केवल उन्हीं का स्वर मुहल्ले पर अखण्ड शासन कर रहा था, पर मोड़ पर आते ही उस मंडली को सुन पड़ा, आगे कहीं ढोल बज रहा है और कोई बड़ी पतली और तीखी आवाज़ में ढोल के साथ गा रहा है, 'मजनूँ हौवे मारदा, लैला दे ओ गम दे विच्च, मजनूँ हौवे मारदा···'

मंडली ने देखा, गली में नट का तमाशा हो रहा है, और लड़के लड़कियों की भीड़ से गली भी बन्द हो रही है। वे भी चुप हो कर देखने लगे—उन्हें

मनोरंजन की सामग्री कभी नही मिली थी, लेकिन उस से क्या उनकी चाह मर गयी थी ? अभी, क्षण-भर तक वे स्वयं नाथ हैं, क्षण-भर बाद, जब अनाथ हो जायेंगे, तब पुकारेंगे कृष्ण को और मांगेंगे भीख—दुहाई देंगे हिन्दू धर्म की···

नट एक खेल दिखाने के बाद दूसरे की तैयारी करने लगा और उस के साथ का वह अनवरत तीखा गान भी थोडी देर के लिए रुक गया, तब अनाथ मंडली ने एकाएक फेफडो की पूरी शक्ति लगा कर गाना शुरू किया—

तुझे ना सुनाऊँ तो किस को सुनाऊँ ?
सुना, डूबता का तुही है सहारा !

जब प्रतिद्वन्द्वियों की इस मंडली को देख कर नट ने और उस के साथ के लडके ने मिल कर ऊँचे स्वर से आलाप आरम्भ किया, तब इन्हें भी जोश आया, इन का स्वर भी अधिक तीखा हुआ, और सूरदास तो हारमोनियम पर इस प्रकार पटक-पटक कर हाथ चलाने लगा कि उस का 'खट्-खट्' स्वर मानो तबले का काम करने लगा ··

तभी, एक घर में स एक लडका बाहर निकला और गोविन्द के पास आ कर कहने लगा, "भाई, तुम ऊपर आ कर गाना सुनाओ।" गोविन्द उस प्रतियोगिता में इतना तन्मय था कि जब लडके ने अपनी बात दुहरायी और सूरदास ने डपट कर कहा, "सुनता नही है ?" तभी उस ने समझा कि उसे क्या कहा जा रहा है।

मंडली उस लडके के पीछे पीछे ऊपर चली गयी। ऊपर पहुँचते ही किसी पुरुष के भारी-से स्वर ने कहा—'यहाँ बैठ जाइए, चटाई पर।" हरि और घोघा बैठ गये, और गोविन्द ने सूरदास से कहा, 'सूरा, यह चटाई है, बैठो !" और हाथ पकड कर उसे बिठा दिया।

उसी भारी-से स्वर वाले व्यक्ति ने कहा—"कोई अच्छा-सा भजन सुनाओ।"

हरि ने उँगली सूरदास की पसली में गडा कर इशारा किया कि वह चुना हुआ भजन हारमोनियम पर आरम्भ करे। सूरदास कुछ सोचता हुआ-सा हारमोनियम पर उँगलियाँ फेरने लगा।

इस अरसे में गोविन्द ने कमरे की वस्तुओं और उस में बैठे हुए व्यक्तियों

को देख लिया।

मडली दरवाज़े के पास ही चटाई पर बैठी थी। उन के सामने की ओर, चारपाई पर एक लडकी कम्बल ओढ़े लेटी हुई थी। उस की मुद्रा से जान पडता था, वह बहुत दिनो की रोगिणी है, और जिस स्थिर, अपलक किन्तु औत्सुक्यशून्य दृष्टि से, वह मडली की ओर देख रही थी, उस से उस के भविष्य के बारे मे आशा का भाव नही होता था। उस के पैंताने एक प्रौढा स्त्री—शायद उस की माँ, बैठी थी, और सिरहाने से कुछ हट कर, आराम-कुर्सी पर वही व्यक्ति, जिस के भारी-से स्वर ने उन्हें बैठने को कहा था। गोविन्द की दायी ओर, दीवार के सहारे, दो और युवतियाँ खडी थी, जो आकृति म रोगिणी की बहिनें जान पडती थी।

ऊपर दीवार पर, विभिन्न मुद्राओ मे कृष्ण के तीन-चार चित्र टँगे थे, सूत का एक बडा-सा लच्छा टँगा हुआ था, और उस के सामने एक अधमैला गीला तौलिया। खिडकी के चौखटे मे एक कघी, शीशा, साबुन, मजन की डिबिया, एक पत्थर का गिलास और दवाई की दो एक शीशियाँ पडी थी।

एक बार यह सारा दृश्य देख कर गोविन्द की दृष्टि दुबारा रोगिणी के कम्बल से उठती हुई धीरे धीरे उस के मुख की ओर जा रही थी। धीरे-धीरे-डरते डरते, सशक कि कोई देख न ले • वह ठोडी तक पहुँची थी कि सूरदास ने एकाएक गाना आरम्भ कर दिया, उस का ध्यान लौट कर भजन की ओर गया, और वह भी एक गहरी साँस भर कर गाने लगा—

अपना पता बता दे ओ बेनिशान वाले!

तू किस जगह निहाँ है…

पर गाते-गाते उसे अवसर मिला इधर उधर देखने का, तो वह न जाने क्या अपने ही साथियो की ओर देखने लगा। और देखने लगा एक नयी दृष्टि से, जिस म एक नयी और गहरी आलोचना थी, और था एक अपरिचय का-सा भाव ••

गोविन्द ने देखा, हरि बीच-बीच मे आँख चुरा कर दीवार के पास खडी दोनों युवतियों की ओर देख लेता था, और तब तक देखता रहता था जब तक कि, इस आशका से कि वे उस की ओर देख न लें, उसे अपनी दृष्टि हटानी न पड़ जाती थी। और धोबा बिलकुल अपलक दृष्टि से उन की ओर देख रहा

था, उस की आँखो मे कुछ भी भाव नही था, वे थी किसी समुद्री जन्तु की आँखो की तरह खुली-खुली, बर्फ-सी पथरायी हुई, किन्तु चमकदार ··

गोविन्द की दृष्टि फिर उस रोगिणी की ओर गयी। उस ने अब की बार देखा, उस के सिरहाने के पास कुछ-एक फूल पडे थे। और वह कभी कभी आँख उठा कर उन की ओर देख लेती थी, और फिर इस मडली की ओर, या शून्य की ओर देखने लग जाती थी।

तभी गाना समाप्त हो गया और गोविन्द की दृष्टि फिर सिमट गयी, अपनी चटाई के कुछ आगे के फर्श तक जा कर रुक गयी।

एक युवती ने कहा—"पिताजी, इन को कहिए कोई अच्छा-सा भजन सुनाएँ। ये तो हमारे सुने हुए है।"

पिता ने मडली की ओर देख कर कहा—"हाँ भाई, कुछ और सुनाओ!"

गोविन्द को एकाएक लगा, उस ने अपने पाँच वर्ष के अनाथ जीवन मे जो कुछ सीखा, सब व्यर्थ, रद्दी, छिछोरा है—'ये तो हमारे सुने हुए है!' वह टटोलने लगा अपने जीवन को, खोजने लगा कि क्या है उस मे, जो इतना सस्ता नही हो गया है, जो कि 'सुना हुआ' नही है, जिस का आदर है कुछ मूल्य है कुछ नही···

उस ने फिर अपने साथियो की ओर देखा—क्या उन के मन म भी कुछ ऐसा ही बोल रहा है? घोष के मन म? गोविन्द का अन्तर एक बडी उपहास-पूर्ण हँसी से भर उठा—जिस के बाद आयी एक आत्मग्लानि की लहर—इसी व्यक्ति के साथ मै इतने वर्षों तक रहता आया हूँ, सख्य का बर्ताव रखता आया हूँ—इस मिट्टी के लोंदे के साथ! हरि के मन मे? शायद ·पर उस के मन मे शायद और ही कोई भाव है—वह क्यो ऐसे उन युवतियो की ओर देख रहा है? गोविन्द को याद आया, अनाथालय मे पढते-पढते लडके—जिन म वह भी था, वह भी! — अपनी स्लेटो पर स्त्रियो के शरीर के कल्पनात्मक चित्र (देखे कब थे उन्होने स्त्रियो के शरीर?) बना-बना कर, उन पर भद्दे-भद्दे वाक्य लिख कर, मास्टर की आँख बचा-बचा कर एक-दूसरे को दिया करते थे···हरि की दृष्टि को देखते हुए, गोविन्द को वे सब वाक्य याद आ गये, और वह रोगिणी की ओर देखता हुआ सोचने लगा कि कैसे वह इस म भाग ले सकता था, कैसे वह इन सब पशुओ मे एक हो कर रह सकता था ··

देर होती जा रही थी, और गाना आरम्भ नहीं हुआ था। तीनों व्यक्ति अब सूरदास की ओर देखने लगे थे। गोविन्द सोचने लगा, 'इस समय मैं ही भजन बना सकता, तो क्या ऐसा भजन नहीं बना सकता, जो नया होता, अभूतपूर्व? जो 'सुना हुआ' की श्रेणी में न आ पाता, आज नहीं, कल नहीं, कभी नहीं, इतना अभूतपूर्व होता वह···

आखिर सूरदास ने गाना आरम्भ किया :

कोई तुझ-सा गरीब-नवाज़ नहीं,
तेरे दर के सिवा कोई दर न मिला।

पर गोविन्द को लगा, यह गाना, जो उस ने अनाथालय के बाहर कभी नहीं गाया था, वही अभ्यास के लिए गाया था, यह गाना भी पुराना है, सड़ा हुआ है, क्योंकि पराया है, उस का बनाया नहीं है, उस के हृदय का अभिन्न निचोड़ नहीं है···वह गा नहीं सका। उसने घोंघे के हाथ से कागज वगैरह ले लिये, और जेब से एक घिसा हुआ पेंसिल का टुकड़ा निकाल कर चन्दे की कापी के अंक जोड़ने लगा···

पर उस में मन कैसे लगता? उस के मन में आयी एक अशान्ति, जो हटाये नहीं हटी। उसे लगा, उस के जीवन में अब तक कुछ नहीं हुआ। जो कुछ है, उस के जीवन के बाहर ही है, बाहर ही रहेगा। वह सोचने लगा, वह माँ के मरने पर अनाथ नहीं हुआ, बाप के मरने पर नहीं, समाज से निकल कर नहीं, पर अनाथालय में आ कर अनाथ हो गया, क्योंकि वहाँ आ कर स्वयं उस की आत्मा मर गयी उसे अकेला छोड़ कर···अब वह क्या है? बहुत-सी निरर्थक मशीनों को चलता रखने के साधन बटोरनेवाली एक बड़ी मशीन का एक निरर्थक पुर्ज़ा···भोजन उतना पाओ कि जीते रह सको, जियो ऐसे कि भोजन पाने में समर्थ हो सको; चन्दा माँगो कि पढ़-लिख सको; पहन सको; पहनो ऐसा कि चन्दा माँगने में सहायक हो···व्यक्ति में समाज का, समाज में व्यक्ति का, धर्म में दोनों का और धर्म का दोनों में विश्वास बनाये रखने के लिए, कीड़े बन कर आओ और कीड़े बन कर रहो···

गोविन्द का विचार फिर रुक गया, सामने पड़ी रोगिणी की ओर देख कर। क्या ये भी उन्हीं में से हैं, जो हमें कीड़ा बनाये रखने के उत्तरदायी हैं?

ये शायद हमें कुछ चन्दा देंगे। और, औरों की तरह अपने से और संसार से सन्तुष्ट हो कर और रुपया बटोरने लग जाएँगे। औरों में और इन में क्या भेद है? कुछ नहीं, कुछ नहीं…

पर उस की आत्मा नहीं मानी, नहीं मानी। विद्रोह कर के कहने लगी, यही तो कुछ पीछे से कुछ अधिक बनाने के साधन हैं…

गाना समाप्त हो गया। तभी, रोगिणी के पैताने बैठी हुई स्त्री ने उठ कर रोगिणी के सिरहाने के नीचे से दो रुपये निकाले, और बोली—"बेटी, इन्हें छू दे। इन को देने हैं।"

बेटी ने कम्बल के भीतर से एक क्षीण उँगली निकाल कर उन्हें छू दिया।

पिता की भारी-सी आवाज ने कहा—"लो भई, यह हमारी ओर से—" और चुप हो गये। माँ ने हाथ बढ़ा दिया।

गोविन्द ने उठ कर रुपये थामते हुए पूछा—"रसीद में क्या नाम लिखूँ?"

कोई उत्तर नहीं मिला। उस ने रसीद बनाकर फिर पूछा, "नाम बता दीजिए तो—"

"नहीं, नाम की क्या जरूरत है?"

'गुप्तदान—3)'… रसीद दे कर क्षण-भर गोविन्द कुछ नहीं कर सका, न उस के साथी ही हिले—यद्यपि यह तो सभी जानते थे कि अब उठ कर बाहर जाना ही है—सड़क पर, गलियों में, माँगते हुए…

आगे-आगे सूरदास का हाथ थामे धोंधा, फिर हरि और फिर गोविन्द, सीढ़ी उतरने लगे। गोविन्द को लग रहा था कि वह कहीं से उठ कर आया है, और ऐसे ही नहीं जा सकता। कुछ अभी होना चाहिए कोई घटना घटनी चाहिए…

गोविन्द ने सुना, रोगिणी अस्पष्ट स्वर में कुछ कह रही है, और तभी बड़ी युवती ने पुकार कर कहा—"यह भी ले जाओ।"

गोविन्द ने लौट कर देखा। वही हरसिंगार की माला उसे दी जा रही थी। उस ने उसे लेते हुए युवती के मुख की ओर देखा, फिर सब की ओर, फिर रोगिणी की, ओर, और उतर गया।

तब अभी नट का साथी गा रहा था, "मजनूँ होके मारदा लैला दे ओ गम

द विच्च, मजनूँ हौक मारदा…"

गोविन्द के मन मे प्रतियोगिता का भाव नही उठा। उसे लगा, वह स्वर बडा मधुर है, वह भाव बहुत सत्य, बहुत महत्त्वपूर्ण—'मजनूँ हौके मारदा लैला दे ओ गम दे विच्च' वह भी तो किसी कमी का द्योतक है।

वहाँ से सडक पर। गलियो मे। माँगते हुए। पर क्या माँगते हुए? पैसा? दान? दया? शिक्षा? माँगते हुए तृप्ति, माँगते हुए अनुभूति, माँगते हुए जीवन ··जो सडक पर, गलियों में नही मिलता, जो मिलता है—वहाँ मिलता है?

बस इतना ही तो! बीस साल बाद, याद करने को, इतनी-सी एक बात!

पर गोविन्द को याद आया, वह इतनी-सी बात नही थी। जो बात सारे अस्तित्व को, सारे ससार को बदल दे, चाहे क्षण-भर के लिए ही, वह कैसे क्षुद्र हो सकती है!

सडक पर आ कर जब गोविन्द का ध्यान अपने साथियो की ओर गया, तब वे उस की इस अन्यमनस्कता पर आलोचना कर रहे थे। और उस अन्तिम उपहार पर, जो उसे मिला था। वे आलोचनाएँ क्या थी, गोविन्द अपने मन के सामने नही आने देगा—यद्यपि इस समय भी वे भोडी छुरी की तरह चुभती हैं उस के मन मे…

गोविन्द चाहता था, उन्हे पकड-पकड कर पीट डाले, जो बातें वह स्वय नित्य कहा करता था, वही कहने के लिए उन्हे घोट-घोट कर मार डाले। उस के भीतर एक शान्ति थी, जो इतने दिनो के निरर्थक जीवन को सफल किये दे रही थी, उस के भीतर एक अशान्ति थी, जो इतने दिनो से जमा हुआ जीवन के प्रति स्वीकृति का भाव नष्ट किये डालती थी।

वह चाहता था, एकदम इन सब के जीवन से निकल जाय, इन्हें अपने जीवन मे निकाल फेंके, इन्हें, इन के अनाथालय को, इन की स्मृति को। इस से भी अधिक वह चाहता था कुछ, पर उस के अनाथालय के क्षुद्र जीवन ने उसे 'कुछ' के लिए उपयुक्त शब्द नही दिये थे, वह स्वय अपने सामने प्रकट करने मे असमर्थ था। तभी वह बिना शब्दो के, बिना वाक्यो के, बिना व्याकरण के बन्धनो के, अपने-आप से कह रहा था, 'स्त्री के बिना कुछ भी अच्छा नही

हैं, कुछ भी मधुर नही है, कुछ भी मृदुल नही है, कुछ भी सुन्दर नही है, स्त्री —जो केवल स्त्री ही नही, ससार की कुल सुन्दर और मधुर वस्तुओं की प्रतिनिधि है ··

वह क्यों नही आयी उस के जीवन मे ? मनुष्य के जीवन की सारी प्रगति जिस एक दिव्य अनुभूति की ओर, जिस अचरज की ओर है, वह क्यो नही हुआ उस के जीवन मे ? पहले वह अन्धा था, किन्तु जब उसकी आँखें खुल गयीं, तब भी इतनी प्रतीक्षा कर के भी उसे कुछ क्यो नही दीखा ? क्यों धीरे-धीरे उसी अनाथालय ने उसे फिर घेर लिया, जिसे एक बार उस ने असह्य घृणा से ठुकरा दिया था ?

गोविन्द ने धीरे-धीरे, जैसे कष्ट से झुक कर, वह बही जमीन पर स उठा ली। वह हर्रसिंगार के फूलों की राख यथास्थान रखी। वही को बन्द कर दिया। उठ खडा हुआ।

गोविन्द ने एक बार अपने चारो ओर, धूल के पर्दे म ढँके हुए कमरे की दीवारो और फर्श की ओर देखा। और सोचा कि इस अनाथालय की इस अनात्म यथार्थता ने उस अचरज को नष्ट कर दिया— उसे होने नही दिया।

पर साथ ही उसने पूछा, क्या यह सब यथार्थ है वास्तविक है ? यह टूटी मेज यह कुर्सी यह बही उस फूल की राख से, उस स उत्पन्न होने वाली छायाओ से, अधिक यथार्थ, अधिक वास्तविक, अधिक सत्य ?

गोविन्द ने आवाज दी, 'राम ! केशो ! दवा ! तैयार हो जाओ !'

चार-पाँच लडके इकट्ठे हो गये। एक अन्धा भी, हारमोनियम गले मे डाले। वही फटे-पुराने पीले कपडे, वही तेल में चुपडे हुए बाल, वही ओछा शृगार, वही · वही मडली, वही भीख ·

गोविन्द सोचने लगा, पचीस साल से वह भीख माँग रहा है, शायद पचीस साल और माँगता रहेगा। यही सत्य है, यही यथार्थ है। बीस वर्ष पहले एक क्षण आया था, आज बीस वर्ष बाद फिर आया, जिस म उन ने इस अनाथ जीवन की सारी कटुता, कठोरता, विषाक्त निस्सहायता का अनुभव किया, पर वह अनाथ ही है, अब अनाथ ही रहेगा। अनाथ जीवन की वासनाओ, पीडाओ, सघर्षो, अँधियारी घटनाओ से अनाहत और अक्षुण्ण रहने वाली प्रकाण्ड शून्यता को भरने के लिए कुछ भी नही होगा।

लेकिन बाहर निकल कर जब उस ने लडको से कहा, "गाओ, 'सुना दे, सुना दे, सुना दे विशना,'···तब एकाएक कोई विश्वास उस के मन मे जाग कर पूछने लगा, "एक ही बार स्त्री ने उस के जीवन मे पैर रखा, वही पद-चिह्न की तरह पडी है फूलो की एक माला, तब क्या आगे के इस विराट् अन्धकार मे एक भी किरण नही है, इस मरुस्थल मे, जिसे उस ने नही बनाया, क्या एक भी कली न खिलेगी, वहाँ बाहर, सडक पर, गलियो मे, क्या एक भी घर नही होगा, एक भी स्त्री-मुख, एक भी मधुर पुकार—अनाथ जीवन की इस विपन्नी रिक्तता को भरने के लिए एक भी स्मृति, हरसिंगार का एक भी फूल?"

शान्ति हँसी थी

•

"जानकीदास, मुजरिम, तुम पर जुर्म लगाया जाता है कि तुम ने तारीख १४ दिसम्बर को शाम के आठ बजे हालीवुड पार्क के दरवाज़े पर दंगा किया; और कि तुम्हारी रोज़ी का कोई ज़रिया नहीं है। बोलो, तुम्हें जवाब में कुछ कहना है?"

जवाब के बदले जानकीदास को टुकुर-टुकुर अपनी ओर देखता पा कर न जाने क्यों मजिस्ट्रेट—हाँ, मजिस्ट्रेट—पसीज उठे। उन्होंने कहा, "जो कुछ तुम्हें जवाब में कहना हो, सोच लो। मैं तुम्हें पाँच मिनट की मोहलत देता हूँ।"

पाँच मिनट!

जानकीदास के वज्राहत मन को, मानो कोड़े की चोट- सा, मानो बिच्छू के डंक-सा यह एक फिकरा काटने लगा, बताने की फ़िज़ूल कोशिश करने लगा—'पाँच मिनट।'

पाँच मिनट।

जैसे नदी के किनारे पड़ा हुआ कछुआ, पास कहीं खटका सुन कर तनिक-सा हिल जाता है और फिर वैसा ही रह जाता है लोंदे का लोंदा वैसे ही जानकीदास के मन ने कहा, 'शान्ति हँसी थी,' और रह गया।

पाँच मिनट।···

कुछ कहना है अवश्य, सफ़ाई देनी है अवश्य···

पाँच मिनट···

शान्ति हँसी थी।

कब? कहाँ? क्यों हँसी थी? और कौन है वह, क्यों है, मुझे क्या है उस से?···

पाँच मिनट··

उसे धीरे-धीरे याद-सा आने लगा। किन्तु याद की तरह नहीं। बुखार के बुरे सपनों की तरह।

शान्ति ने रोटी उस के हाथ में थमा कर उसी में भाजी डालते-डालते कहा था, "इस वक्त तो खा लेते हैं, उस बेर मेरी एकादशी है।"

उस ने पूछा था, "क्यों ?"

"क्यों क्या ? तुम्हें खिला दूंगी…" और हँस दी थी।

उस जून के लिए रोटी नहीं है, यह कहने के लिए हँस दी थी।

दोपहर में, सड़कों पर फिरता हुआ जानकीदास सोच रहा था, इतनी बड़ी दुनिया में, इतने कामों से भरी हुई दुनिया में, क्या मेरे लिए कोई भी काम नहीं है ? वह पढ़ा लिखा था, अपने माँ-बाप से अधिक पढ़ा-लिखा था, पर उन्हें मरते समय तक कभी कष्ट नहीं हुआ था, चाहे धनी वे नहीं हुए, तब वह क्यों भूखा मरेगा ? और शान्ति, उस की बहिन, भी हिन्दी पढ़ी है और काम कर सकती है।

जहाँ-जहाँ से उसे आशा थी, वहाँ वह सब देख चुका था। बल्कि जहाँ आशा नहीं थी, वहाँ भी देख-देख कर वह लौट चुका था।

अब उसे कहीं और जाने को नहीं था—सिवाय 'घर' के। और वहाँ उस बेर के लिए रोटी नहीं थी और यह बताने को शान्ति हँसी थी—हँसी थी…

तब तक, भले ही उस के मन में सम्पन्नता का, पढ़ाई का, दरजे का, इज्जत-आबरू का, बुर्जुआ मनोवृत्ति का, कुछ अभिमान, कुछ निशान भी बाकी रहा हो, अब नहीं रहा। उस के लिए कुछ नहीं रहा था। केवल एक याद रही थी कि उस बेर के लिए रोटी नहीं है और शान्ति हँसी थी।

राह-चलते उस ने देखा, दायीं ओर एक बड़ा सा आँगन है, एक भव्य मकान का, जिस में तीन-चार सुन्दर बच्चे खेल रहे हैं। एक ओर एक लड़की बिना आग के एक छोटे-से चूल्हे पर, लकड़ी की हँडिया चढ़ाये रसोई पका रही है और खेलनेवाले लड़कों से कह रही है, "आओ भइया, रोटी तैयार है…"

वह एकाएक आँगन के भीतर हो लिया। लड़के सहम कर खड़े हो गये—शायद उस का मुँह देख कर।

उस ने एक लड़के से कहा, "बेटा, जा कर अपने पिता से पूछ दो, यहाँ कोई पढ़ाने का काम है ?"

लड़के ने कहा, "हम नही जाते। आप ही पूछ लो।"

जानकीदास ने दूसरे लड़के से कहा, 'तुम पूछ दोगे ? बड़े अच्छे हो तुम···"

उस लड़के ने एक बार अपने साथी की ओर देखा, मानो पूछ रहा हो, "मैं भी ना कह दूँ ?" लेकिन फिर भीतर चला गया और आकर बोला, "पिताजी कहते हैं, कोई काम नही है।"

जानकीदास ने फिर कहा, "एक बार और पूछ आओ, कोई जिल्दसाज़ी का काम है ? या बढ़ई का ? या और कोई ?"

लड़के ने कहा, "अब की तो पूछ लेता हूँ, फिर नही जाने का।" और भीतर चला गया। आकर बोला, "पिताजी कहते हैं, यहाँ से चले जाओ। कोई काम नही है। फिजूल सिर मत खाओ।"

जानकीदास बाहर निकल आया।

कोई पढ़ाने का काम है ? किसी क्लर्क की ज़रूरत है ? जिल्दसाज़ की ? बढ़ई की ? रसोइया की ? भिश्ती की ? टहलुए की ? मोची मेहतर की ?

कोई ज़रूरत नही है। सब के अपने-अपने काम हैं, केवल जानकीदास की कोई ज़रूरत नही है।

और उस बेर खाने को नही है, और शान्ति हँसी थी !

शाम को हालीवुड पार्क के दरवाज़े के पास जो भीड़ खड़ी थी, उन्ही मे वह भी था। दुनिया है, घर है, शान्ति है, रोटी है, यह सब वह भूल गया था। भूल नही गया था, याद रखने की क्षमता, मन को इकट्ठा, अपने वश मे, रखने की सामर्थ्य वह खो बैठा था। न उस का कोई सोच था, न उस की कोई इच्छा थी। यहाँ भीड़ थी, लोग खड़े थे—इसी लिए वह भी था।

भीतर असख्य बिजली की बत्तियाँ जगमगा रही थीं। बड़े-बड़े झूले, रग-बिरगी रोशनी मे, किसी स्वप्न आकाश के तारो-से लग रहे थे। कही एक बहुत ऊँचा खम्भा था, जिस की कुल लम्बाई नीली और लाल लैम्पो से सजी

हुई थी। और उस के ऊपर एक तख्ता बँधा हुआ था।

उसी के बारे मे बातें हो रही थी। और जानकीदास मन्त्र मुग्ध सा सुन रहा था।

वह जो है न खम्भा उसी पर से आदमी कूदता है। नीचे एक जलता हुआ तालाब होता है उसी मे।

उस से पहले दूसरा खेल भी होता है जिस मे कुत्ता कूदता है?

नही वह बाद मे है। पहले साइकल पर से कूदनेवाला है। वह यहाँ से नही दीखता।

वह कितने बजे होगा?

अभी थोडी देर मे होनेवाला है—आठ बजे होता है।

यह आवाज क्या है?

अरे जो वह गुम्बद मे मोटर साइकल चलाता है उसी का है।

जानकीदास का अपना कुछ नही था। इच्छाशक्ति भी नही। जो दूसरे सुनते थे वह उसे सुन जाता था जो दूसरे देखते थे वह उसे दीख जाता था।

वह देखो!

झूले चलने लगे थे। चरखिन्याँ घूमने लगी थी। उन पर बैठे हुए लोग नही दीखते थे पर प्रकाश मे कभी कभी उन के सिर चमक जाते थे और कभी किसी लडकी की तीखी और कुछ डरी सी हँसी वहा तक पहुँच जाती थी—डरी-सी किन्तु प्रसन्न आमोद भरी

जानकीदास देखता था और सुनता था और निश्चल खडा भी उत्तेजित हो जाता था। वही क्यो सारी भीड ही धीरे धीरे उत्तेजित होती जा रही थी।

तभी अन्दर कही बिगुल बजा। तीखा। किसी प्रकार की सोच या चिन्ता से मुक्त। पुकारता हुआ।

किसी ने कहा अब होगा साइकलवाला खेल। चलो चलें अन्दर।

तुम नही चलोगे?

चलो!

मै भी चलता हूँ यार! यह तो देखना ही चाहिए

आओ न—जल्दी फिर जगह नही रहेगा।

भीड दरवाजे की ओर बढी। उत्तेजना भी बनी फिर बढी।

जानकीदास भी साथ पहुँचा, टिकट-घर के दरवाज़े पर।

लोग टिकट ले कर भीतर घुसने लगे। जानकीदास खड़ा देखने लगा।

तभी एक लड़का एक छोटी लड़की का हाथ पकड़े, उसे घसीटता हुआ, जल्दी से टिकटघर पर पहुँचा और टिकट ले कर, बड़े उत्तेजित, उत्तेजना से भरये हुए स्वर में बोला, "कमला, अगर देर से पहुँचे तो याद रखना, मार डालूँगा! उमर में एक मौका मिला है…"

आगे जानकीदास नहीं सुन सका। वह लपक कर टिकटघर पर पहुँचा। टिकट माँगी। ली। जेब में डाली। दूसरा हाथ अन्दर की जेब में डाला—पैसे निकालने के लिए - चार आने।

डाला और पड़ा रहने दिया। निकाला नहीं, उत्तेजना टूट गयी।

जेब में एक पैसा भी नहीं था।

"मुजरिम, तुम्हें कुछ कहना है ?"

जानकीदास ने फिर एक बार दीन दृष्टि से मजिस्ट्रेट की ओर देख दिया, बोला नहीं। उस का मन कछुए की तरह तनिक और हिल कर बिल्कुल जड़ हो गया।

उस बेर उस ने नहीं खायी थी, तो शान्ति ने खा ली होगी।

मजिस्ट्रेट साहब सकेण्ड-भर सोच कर बोले, "एक साल!"

शान्ति हँसी थी। उस बेर के लिए रोटी नहीं है, यह कहने के लिए शान्ति हँसी थी।

सूक्ति और भाष्य

•

सूक्ति

सरसों के खेत के किनारे पर बनी हुई ऊँची मुंडेर पर वह बैठी थी, और उस से कुछ एक ओर हट कर दो मोरनियाँ भूमि की ओर ध्यान से झुक कर, कुछ खोज रही थीं। कुछ और दूर से, एक मोर गर्दन झुकाये उन की ओर दौड़ा आ रहा था।

वसन्त तब आ रहा था, आया नहीं था। उस दिन हल्के-हल्के, छितराये हुए बादल थे, धूप नहीं थी।

साँगानेर स्टेशन से कुछ ही इधर वह स्थान था, इस लिए गाड़ी की गति धीमी हो गयी थी। गाड़ी की खिड़की में से बाहर देखते हुए सत्य ने यह दृश्य देखा, निश्चय करने की क्रिया में ही घूम कर कैमरा उठाया और चलती गाड़ी में से उतर पड़ा।

सत्य के पीछे कुछ नहीं है, साथ है पर्याप्त साधन, आगे है भविष्य और उस के अरमान। वह विदेशी पत्रों के लिए लेख लिखा करता है, उस से कुछ आमदनी हो जाती है। उस आमदनी पर वह देशाटन करता है, फोटो खींचता है, और उन्हें लेखों के साथ भेज कर और कुछ पाता है।

इस समय वह राजपूतों के विगत गौरव पर एक लेख तैयार करने के लिए चित्तौड़ जा रहा था, लेकिन राह में एक चित्र की सम्भावना देख कर, अपने साहसिक स्वभाव के वश, वह उतर पड़ा। उतर कर वह सीधा उस लड़की के पास पहुँचा और कैमरा ठीक करने लगा।

लड़की वहाँ से उठी नहीं, बोली भी नहीं, लेकिन अपनी लाल ओढ़नी में उस ने मुख ढक लिया और शरमायी-सी देखती रही।

सत्य ने कैमरा ठीक कर के जब यह देखा, तो लड़की को फोटो खिंचाने के लिए मनाने की कोशिश में पूछा, "तुम्हारा

की आँखें भी उधर गयीं।

उस ने कहा, "खींचो।"

सत्य ने फिर उस की ओर देखा। तब वहाँ कुछ नहीं था, न मुख पर वह विस्मय, न आँखों में वह— वह क्या ? जो उसे समझ नहीं आया था। उस के सामने खड़ी थी एक लड़की, साधारण, गम्भीर, स्थिर, अपलक। उस के मुख पर निर्लज्जता नहीं थी, थी वह लज्जा की स्तिमित अनुपस्थिति-सी, जो परदा करनेवाली स्त्रियों के मुख पर बलात् परदा हटा देने में दीखती है। उघड़े मुख वाली स्त्रियों को लज्जा की जरूरत रहती है, परदे वाली स्त्रियाँ मानो डिफेंस का सारा भार उस स्थूल निर्जीव परदे पर ही छोड़े रहती हैं, और यह सीखते उन्हें देर लगती है कि लज्जा देखने की चीज है।

यही सब दर्शन बघारता हुआ, सत्य मुस्कराता हुआ उठा। फोटो खींचते समय उसे लगा कि जिस विशेष बात के लिए वह फोटो लेना चाहता था, वह अब इस में नहीं आ सकती, फिर भी अब तो खींचना ही था।

फोटो खिंचाते ही, इस से पूर्व कि सत्य कुछ कह भी पाये, वह पलट कर झोंपड़ी के भीतर घुस गयी। क्षण ही भर बाद एक बड़ी बूढ़ी-सी औरत ने झोंपड़ी के दरवाज़े पर आ कर, अपनी क्षीण आँखों से सत्य की ओर सन्दिग्ध दृष्टि से देखा फिर झोंपड़े का द्वार बन्द कर लिया।

सत्य ने जाना कि कहानी आधे में ही समाप्त हो गयी और आगे नहीं चल सकती। वह थोड़ा-सा मुस्कराया और स्टेशन की ओर चल पड़ा।

कहानी आगे तो चल ही नहीं सकती, इस लिए वह जल्दी जल्दी उसे भुलाने लगा। उस की घुमक्कड़, भावुक, सौंदर्य-पूजक प्रकृति में वह चीज़— गुण या दोष—थी, जो राह-चलते प्यार कर सकती है और स्वाभाविक फल— राह-चलते भूल सकती है।

"बाबू साहब, हमारी तस्वीर उतारो।"

सत्य ने चौंक कर देखा, एक हट्टा-कट्टा पठान, अपनी काली दाढ़ी की नोक का एक बाल दो उँगलियों से पकड़े, उस की ओर देखता चला आ रहा है। उस की गिद्ध की-सी तीखी और शायद उतनी ही क्रूर आँखों में एक उपहास भरी-सी हँसी है, जो आँखों तक ही सीमित है, उस के झुर्रियों पड़े मुख पर नहीं आयी।

सत्य ने उसे जल्दी से सिर से पैर तक देख डाला। तुर्रेदार पगड़ी, तेल-सने पट्टे, दो-एक हज़ार बटनों से सजी हुई काली मखमल की वास्केट, लम्बा कुरता, मैली, पर खूब खुली खुली, फूली हुई सलवार जिस से पैर के चप्पल छिप जायें, हाथ में लाठी—यानी सिर से पैर तक पठान—वैसा पठान जैसा विदेशी पत्रों में दिखाया जाता है, जो प्रमाणित करता है कि भारत के सीमा प्रान्त की रक्षा के लिए ब्रिटिश राज्य आवश्यक है, जिस के लिए विदेशी पत्र पैसे देते हैं।

सत्य ने कहा, "हाँ, तस्वीर उतारूँगा!" और उस के अतिरिक्त सब-कुछ भूल गया।

भाग्य

वह चित्तौड़ से लौट रहा था।

बहुत-से चित्र उस ने एकत्र कर लिये थे और सोच रहा था कि बहुत दिनों के लिए वे पर्याप्त होंगे। और चित्रों के साथ ही वह मानो उस वीरभूमि, सूखी, नंगी, प्यासी और कठोर भूमि की एक छाया-सी लिये जा रहा था, जो उसे लिखने में सहायक होगी, जिस के आसरे वह उस विगत गौरव को जगा सकेगा, विदेशी पाठकों पर प्रकट कर सकेगा, उन्हें वह रोमांचकारी अनुभूति दे सकेगा जिस की वे हम से अपेक्षा रखते हैं, जिस के लिए वे हमारे देश को मात्र 'ईस्ट' न कह कर 'ओरिएंट' कहते हैं...

और वह लड़की? उसे वह भूल गया था। उस का स्थान इस विराट् स्वप्न में नहीं था—राह-चलते वह कहाँ-कहाँ ठहर सकता है?

लेकिन जब गाड़ी सांगानेर से चली, तब एकाएक उसे जान पड़ा, वह वहाँ रुके बिना रह ही नहीं सकता, रह ही नहीं सकता। वह फिर उतर पड़ा और स्टेशन से बाहर उस मुँडेर की ओर चल पड़ा।

राह में झोंपड़ा पड़ता था, लेकिन वह जान-बूझ कर, झोंपड़े से बचता हुआ मुँडेर की ओर चला। उसे पूरी आशा थी कि जो कुछ देखने वह जा रहा है, वह मुँडेर पर ही दीख सकता है। उस-जैसी प्रकृति वालों में कोई अहम्मन्यता होती है, वह उस में भी थी। वह स्वप्न को छोड़ कर जा सकता है, पर स्वप्न भी उसे छोड़ कर जाने की धृष्टता कर सकता है, यह वह नहीं जानता था।

तभी, जब मुँडेर पर उस ने कुछ नही पाया, तब उसे धक्का-सा लगा; उसे लगा, विशेष उसी को लक्ष्य कर के यह इसल्ट फेंका गया है। वह कुछ क्रुद्ध-सा झोपडे की ओर चला।

झोपडे पर पहुँच कर उस ने देखा, वह भी खाली था।

तब वह एकाएक भूमि पर बैठ गया। उसे लगा, उस का कुछ बहुत अपना, शरीर के एक अवयव की तरह प्रिय और आवश्यक, खो गया है।

थोडी देर बाद वह उठा, उठ कर झोपडे के दो चक्कर लगा आया और वही आ कर बैठ गया। झोपडा फिर भी उतना ही खाली रहा।

अभी आध घण्टा पहले उस के लिए यह झोपडा न कुछ के बराबर था, अभी आध घण्टा बाद फिर न कुछ रह जाएगा, पर इस क्षण वह अपनी सारी शक्ति से उस झोपडे से कुछ माँग रहा है, वह क्यो नही है वहाँ पर ? यह असह्य था उस के लिए, इतनी बडी चोट, इतना रूखा तिरस्कार, कभी उस की अहता को नही मिला था···

तभी वह पूछ-ताछ करने के लिए गया। कुछ दूर एक और झोपडा था जहाँ उस ने पडताल आरम्भ की। और वही वह समाप्त हो गयी। जो कुछ वह जान पाया, वह यो है

उस झोपडे मे एक बहुत बूढे माता-पिता और उन की एकमात्र कन्या (नाम जमुनति) रहते थे। पास का एक खेत भी उन का था, जिस म वे सरसो बोते थे। मानी बात है कि वैसे रूखे, नगे देश मे इस से जीविका चलना असम्भव है, पर यह भी प्रकट है कि वहाँ और कुछ काम भी नही था, शहर होता तो *मजूरी हो सकती थी, वहाँ कहाँ ? तो (आप कहेंगे, वही पुरानी बात !)* उन्होंने एक पठान से दस रुपये कर्ज लिये थे, और उसे ही कभी उतार देने की आशा पर जी रहे थे। दो आने रुपया महीना के हिसाब से, वह अब तक पाँच बार दिया जाकर भी अब पँचगुना था—मूल चुका देने की आशा कभी उन्होने की भी होती, पर सूद कौन चुका सकता ? और वे कभी सोचा करते थे, दस रुपये ले कर किसी के नाम जो *काल्पनिक तोडा जमा किया जा सकता है, वही* दस रुपये दे कर वे पा सकते, तो शायद चोरी कर के ही दस रुपये ले आते, या अपने को ही बेच लेते ! खैर, हुआ वही जो होना था—एक दिन पठान ने आ कर उनका खेत, झोपडा वगैरह सब कुर्क करा लिया, उन्हे निकलवा दिया।

वे कहाँ गये ? पता नही। किसी शहर की ओर गये होंगे मजूरी कमाने।
या···

चलते-चलते उसे यह भी मालूम हुआ कि पठान ने बडी उदारता से यह भी प्रस्ताव किया था कि यदि जसुमती के पिता उससे जसुमति का विवाह करना वगैरह सब रहने देगा, और कर्ज भी बाकी सब मान जायें, तो वह झोंपडा माफ कर देगा—वे मान जायें सही। लेकिन···

लेकिन कुछ नहीं, उस भूखी, नगी, प्यासी और कठोर भूमि का अदम्य अभिमान···बूढ़े माता-पिता का क्षीण शरीर क्रोध से काँप गया था···

पर इस सब से क्या ? वहाँ था अब कुछ नही—

सत्य फिर वहीं मुँडेर पर पहुँचा। उसी जगह को खोज कर, जहाँ उस दिन जसुमति बैठी थी, बैठ गया। कैमरा पैरों के पास धर कर, शून्य दृष्टि से रेल की ओर देखने लगा।

एकाएक जसुमति के शब्द उस के कानों में गूँज गये, एकाएक उस की आँखें उस के आगे नाच गयी, एकाएक उन आँखों में छिपी बात उस दीख गयी···

"बीस रुपये !"

"बीस रुपये के लिए तुम फ़ोटो से कही अधिक कुछ माँग सकते थे—कही अधिक कुछ ··"

वह खडा हो गया। आवेश में, वह अपने को गालियाँ देने लगा, सारे व्यक्तित्व की शक्ति बटोर कर घोर, भयकर, रौद्र शाप देने लगा,—
"बेवकूफ ! बेवकूफ ! अकथ्य-अक्षम्य जडमति बेवकूफ !"

लेकिन क्या बेवकूफी उस ने की थी, वह नही जानता था। और जानता तो अपने आगे भी स्वीकार करने को वह तैयार होता, इस में सन्देह है।

तभी उसे ध्यान हुआ, आध घण्टे में साँगानेर से दूसरी गाडी चलनी है।

शत्रु



ज्ञान को एक रात सोते समय भगवान् ने स्वप्न मे दर्शन दिये और कहा, "ज्ञान, मैंने तुम्हे अपना प्रतिनिधि बना कर ससार मे भेजा है। उठो, ससार का पुनर्निर्माण करो।"

ज्ञान जाग पडा। उस ने देखा, ससार अन्धकार मे पडा है, और मानव-जाति उस अन्धकार मे पथ-भ्रष्ट हो कर विनाश की ओर बढती चली जा रही है। वह ईश्वर का प्रतिनिधि है तो उसे मानव-जाति को पथ पर लाना होगा, अन्धकार से बाहर खीचना होगा, उस का नेता बन कर उस के शत्रु से युद्ध करना होगा।

और वह जा कर चौराहे पर खडा हो गया और सब को सुना कर कहने लगा, "मैं मसीह हूँ, पैगम्बर हूँ, भगवान् का प्रतिनिधि हूँ। मेरे पास तुम्हारे उद्धार के लिए एक सन्देश है!"

लेकिन किसी ने उस की बात नही सुनी। कुछ उस की ओर देख कर हँस पडते, कुछ कहते, पागल है, अधिकाश कहते, यह हमारे धर्म के विरुद्ध शिक्षा देता है, नास्तिक है, इसे मारो! और बच्चे उसे पत्थर मारा करते।

आखिर तग आकर वह एक अँधेरी गली मे छिप कर बैठ गया, और सोचने लगा। उस ने निश्चय किया कि मानव-जाति का सब से बडा शत्रु है धर्म, उसी से लडना होगा।

तभी पास कही से उस ने स्त्री के करुण क्रन्दन की आवाज सुनी। उस ने देखा, एक स्त्री भूमि पर लेटी है, उसके पास एक छोटा-सा बच्चा पडा है, जो या तो बेहोश है, या मर चुका है, क्योकि उस के शरीर मे किसी प्रकार की गति नही है।

ज्ञान ने पूछा, "बहिन, क्यो रोती हो?"

उस स्त्री ने कहा, "मैंने एक विधर्मी से विवाह किया था। जब लोगो को इस का पता चला, तब उन्होने उसे मार डाला और मुझे निकाल दिया। मेरा बच्चा भी भूख से मर रहा है।"

ज्ञान का निश्चय और दृढ हो गया। उस ने कहा, "तुम मेरे साथ आओ, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।" और उसे अपने साथ ले गया।

ज्ञान ने धर्म के विरुद्ध प्रचार करना शुरू किया। उस ने कहा, "धर्म झूठा बन्धन है। परमात्मा एक है, अबाध है और धर्म से परे है। धर्म हमें सीमा में रखता है, रोकता है, परमात्मा से अलग करता है, अत हमारा शत्रु है।"

लेकिन किसी ने कहा, "जो व्यक्ति परायी और बहिष्कृता औरत को अपने पास रखता है, उस की बात हम क्यो सुनें ! वह समाज से पतित है, नीच है।"

तब लोगो ने उसे समाज-च्युत कर के बाहर निकाल दिया।

ज्ञान ने देखा कि धर्म से लडने के पहले समाज से लडना है। जब तक समाज पर विजय नही मिलती, तब तक धर्म का खण्डन नही हो सकता।

तब वह इसी प्रकार का प्रचार करने लगा। वह कहने लगा, "ये धर्मध्वजी, ये पोंगे पुरोहित-मुल्ला, ये कौन है ? इन्हे क्या अधिकार है हमारे जीवन को बाँध रखने का ? आओ, हम इन्हे दूर कर दें, एक स्वतन्त्र समाज की रचना करें, ताकि हम उन्नति के पथ पर बढ सकें।"

तब एक दिन विदेशी सरकार के दो सिपाही आ कर उसे पकड ले गये, क्योंकि वह वर्गों मे परस्पर विरोध जगा रहा था।

ज्ञान जब जेल काट कर बाहर निकला, तब उस की छाती म इन विदेशियों के प्रति विद्रोह धधक रहा था। यही तो हमारी क्षुद्रताओं को स्थायी बनाये रखते है, और उस से लाभ उठाते हैं ! पहले अपने को विदेशी प्रभुत्व स मुक्त करना होगा, तब समाज को तोडना होगा, तब···

और वह गुप्त रूप से विदेशियों के विरुद्ध लडाई का आयोजन करने लगा।

एक दिन उस के पास एक विदेशी आदमी आया। वह मैले-कुचैले, फटे-पुराने, खाकी कपड़े पहने हुए था। मुख पर झुर्रियाँ पडी थी, आँखों में एक तीखा दर्द था। उस ने ज्ञान से कहा, "आप मुझे कुछ काम दें ताकि मैं अपनी रोजी कमा सकूँ। मैं विदेशी हूँ, आप के देश मे भूखा मर रहा हूँ। कोई भी काम आप मुझे दें, मैं करूँगा। आप परीक्षा लें। मेरे पास रोटी का टुकडा भी नही है।"

ज्ञान ने खिन्न हो कर कहा "मेरी दशा तुम से कुछ अच्छी नहीं है मैं भी भूखा हूँ।"

वह विदेशी एकाएक पिघल-सा गया। बोला, "अच्छा ! मैं आप के दुख से बहुत दुखी हूँ। मुझे अपना भाई समझ। यदि आपस मे सहानुभूति हो, तो भूखे मरना मामूली बात है। परमात्मा आप की रक्षा करे। मैं आप के लिए कुछ कर सकता हूँ ?"

ज्ञान ने देखा कि देशी-विदेशी का प्रश्न तब उठता है जब पेट भरा हो। सब स पहला शत्रु तो यह भूख ही है। पहले भूख को जीतना होगा, तभी आगे कुछ सोचा जा सकेगा...

और उस ने 'भूख के लडाका' का एक दल बनाना शुरू किया, जिस का उद्देश्य था अमीरों से धन छीन कर सब म समान रूप से वितरण करना भूखो को रोटी देना, इत्यादि, लेकिन जब धनिकों को इस बात का पता चला तब उन्होंने एक दिन चुपचाप अपने चरो द्वारा उसे पकड मँगवाया और एक पहाडी किले मे कैद कर दिया। वहाँ एकान्त मे उसे सताने के लिए नित्य एक मुट्ठी चबैना और एक लोटा पानी दे देते, बस।

धीरे-धीरे ज्ञान का हृदय ग्लानि से भरने लगा। जीवन उसे बोझ जान पडने लगा। निरन्तर यह भाव उस के भीतर जगा करता कि मैं, ज्ञान, परमात्मा का प्रतिनिधि, इतना विवश हूँ कि पेट भर रोटी का प्रबन्ध मेरे लिए असम्भव है ! यदि ऐसा है, तो कितना व्यर्थ है यह जीवन, कितना छूँछा, कितना बेमानी !

एक दिन वह किले की दीवार पर चढ गया। बाहर खाई म भरा हुआ

पानी देखते देखते उसे एकदम से विचार आया, और उस ने निश्चय कर लिया कि वह उस में कूद कर प्राण खो देगा। परमात्मा के पास लौट कर प्रार्थना करेगा कि मुझे इस भार से मुक्त करो, मैं तुम्हारा प्रतिनिधि तो हूँ, लेकिन ऐसे समार म मेरा स्थान नही है।

वह स्थिर, मुग्ध दृष्टि से खाई के पानी मे देखने लगा। वह कूदने को ही था कि एकाएक उस ने देखा, पानी मे उस का प्रतिविम्ब झलक रहा है और मानो कह रहा है, "वस, अपने-आप से लड चुके ?"

ज्ञान सहम कर रुक गया, फिर धीरे-धीरे दीवार पर से नीचे उतर आया और किले मे चक्कर काटने लगा।

और उस ने जान लिया कि जीवन की सव से बडी कठिनाई यही है कि हम निरन्तर आसानी की ओर आकृष्ट होते हैं।

प्रतिध्वनियाँ



गिरजाघर से कुछ दूर हट कर जो सरू के सुन्दर वृक्षो मे सजा हुआ छोटा-सा टीला था, उसी के ऊपर एक सुन्दर साडी पहने एक युवती टहल रही थी।

उस का मुख कुछ चिन्तित-सा था, लेकिन चिन्ता इतनी गहरी नही थी कि उस के सुन्दर मुख को विकृत करे। केवल हल्की-सी एक रेखा थी, जो किसी दर्शक को एकाएक और भी आकर्षित कर लेती थी और वह पूछ बैठता था, इतने सुन्दर मुख पर यह क्यो ?

वह बाग के मध्य से टीले के सिरे के एक सरू वृक्ष तक टहल रही थी। यह टीला नैसर्गिक नही था, मनुष्यो की मेहनत से बना था, और इस के सिरे पर, उसे कायम रखने के लिए ईंटें चुनी गयी थी। उस ईंटो के मोर्चे तक आ कर युवती एक बार उडती हुई निगाह से नीचे देख लेती थी और फिर लौट जाती थी।

नीचे एक छोटी-सी सडक—चाहे गली वह लीजिए—थी। एक तरह से यह टीले वाले बाग का पिछवाडा था और इधर नीचे मामूली हैसियत के लोग रहते थे—जो कभी उन लोगो की बराबरी करने का खयाल भी नही कर सकते थे जो गिरजे के सामनेवाली ओर रहते हैं और जिन मे उस युवती का अपना एक स्थान है।

युवती का नाम था अरुणा। वह ईसाई नही थी—लेकिन उस के अपने धर्म की तफसील यह है कि वह अपने को हिन्दू भी नही कहती थी। उस के पिता ने अपने पिता से काफी धन पाया था और इस लिए यह नही सीखा था कि अमीरो का जो जुआ है, सट्टा, वह असल मे गरीबो को ही खेलना चाहिए। वह आजकल सट्टे के मशहूर व्यापारी थे।

अरुणा ईसाई नहीं थी, पर मन्दिर भी नहीं जाती थी। क्यों कि उस बड़े नगर में कोई भी सुन्दर मन्दिर नहीं था। जब कभी उसे कोई सोच होती, या उस का मन अपने दैनिक जीवन से उचाट हो जाता, तब वह गिरजाघर से सटे हुए इसी छोटे से बाग़ में आ कर, कुछ देर टहल कर, कुछ शान्त और सुस्थ हो कर लौट जाती।

अरुणा टहलती हुई टीले के छोर पर पहुँची ही थी कि गिरजे के घंटे एकाएक बजने लगे। अरुणा चौंकी, फिर ठिठक गयी और सुनने लगी। पाँच भिन्न-भिन्न स्वरों के घंटे थे—जिन की एक खास क्रम से आवृत्ति हो रही थी—टिन्-टिन्-टेन्-टन्-टन्।...

अरुणा ने धीरे से कहा, आज इतवार है क्या? फिर उन घंटों के संगीत में उसे कुछ भी होश नहीं रहा। वह जड़ित, स्तब्ध, तन्मय, उस स्वर को सुनने लगी, स्थूल निराकार हो कर वातावरण को चीर कर जाते हुए पंख-युक्त तीरों पर बैठ कर उन्मत्त उड़ने लगी—वह गयी...उस की आँखें नीचे गली की ओर लगी हुई थीं, खड़ी थी लेकिन जिस अनुभूति में वह बही जा रही थी—जो अनुभूति उस बहाये लिये जा रही थी, उस की गति का परिमाण कहाँ है?

अरुणा के मुख पर वह विस्मृति का भाव टूट गया। आकाश से कठोर भूतल पर गिर कर उस ने देखा, नीचे गली में एक कलईगर अपनी भट्ठी सुलगाये एक हाथ से धौंकनी चला रहा था और दूसरे में एक चिमटी पकड़े एक पतीली को आँच में घुमाता जा रहा था। आग की लाल चमक में उस के मुख पर एक अमानुषी रंग छाया हुआ था और जिस उत्साहमय तल्लीनता से वह पतीली घुमाने में लगा हुआ था, वह भी अरुणा को अमानुषी ही मालूम हुआ, क्यों कि क्या मानुष भी इतना अन्धा, इतना बहरा, इतना संज्ञाहीन हो सकता है कि वैसे सुन्दर संगीत के आँचल में बैठ कर भी अँगीठी और पतीली में इतना लीन हो—उस दिव्य उपहार की उपेक्षा किये जाय!

अरुणा को बहुत बुरा लगा। यहाँ तक कि वह चाहने पर भी उस वातावरण में नहीं लौट सकी जिस में वह क्षण-भर पहले थी, हालाँकि घंटे अभी बज रहे थे। तब झुँझलाकर उस ने पुकारा : "कलई वाले! ओ कलई वाले!"

ख़ैर, कलईवाले ने सुन तो लिया। सिर उठा कर देखा, फिर बड़े इत्मीनान से भट्ठी में कुछ कोयले डाल कर पतीली वहीं रखी, धौंकनी को बन्द किया,

फिर उठ कर धीरे-धीरे टीले के पास नीचे आ कर बोला, "कहिए बीबी जी, कुछ काम है ?"

अरुणा ने कहा "नही, काम तो कुछ नही है। पर तुम कैसे काम मे लगे होगे। जो गिरजे के घटे है, ये क्या तुमने नही सुने ?"

जिस तरह कलईवाले ने कहा,"कौन-से घटे ?"—और रुक गया, उस से अरुणा ने उत्तर पा लिया। उस ने फिर पूछा, "तुम्हारे पास ही इतनी सुन्दरता और मिठास बही जा रही है, और तुम्हे खबर नही है, तुम अपनी धौंकनी और पतीलों म मस्त हो ! माना कि रोटी भी कमानी होती ही है, लेकिन उस मे क्या कोई इतना रम जाता है कि दुनिया के लिए मर ही जाय ?"

कलईगर ने भौचक-सा हो कर कहा, "क्या—"

"तुम्हारी उम्र कितनी है ?"

"यही कोई बाईस साल—"

"कुल ! तुम्हे अभी पचास बरस और जीना है—बल्कि शायद ज्यादा। पचास बरस तक धौकनी और पतीलियाँ—उफ् ! तुम्हारा दिल कभी इस के अलावा कुछ नही मांगता ?"

कलईगर ने और भी घबरा कर कहा, "बीबी जी—"

अरुणा ने अधिकार के स्वर मे कहा "यही खडे रह कर जरा सुनो तो सही, इन घटो की आवाज ! ये क्या तुम्हें कुछ भी नही कहते ?"

कलईगर सहमा हुआ सा खडा हो कर सुनने लगा। उस की मुद्रा मानो यह दिखाने की कोशिश कर रही थी कि "मैं सुन रहा हूँ। है बिलकुल निकम्मी बात, वक्त जाया करना, लेकिन मैं सुन रहा हूँ !"

और अरुणा उस की ओर देखने लगी।

धीरे धीरे कलईगर के शरीर की तनी हुई पेशियाँ ढीली पडने लगी। बलात् केन्द्रित ध्यान का भाव उस पर से मिटने लगा, और सहज, आकर्षित ध्यान का आने लगा। मानो कानों ने जान लिया कि यह काम सिर्फ हमारा है, और बाकी शरीर को छुट्टी दे दी कि वह आराम करे, और उस दैवी देन को पाये, भोगे, जो कानो द्वारा उसे प्राप्त हो रही है ··

और अरुणा उस की ओर देखने लगी···

कलईगर मानो सगीत मे घुल गया। सगीत मानो उस के भीतर समा कर,

उस का हो कर उस के चेहरे से फूट निकलने लगा—ऐसा पूर्ण सगीतमय हो गया था उसका चेहरा ··

थोडी देर बाद जब घटे एकाएक बन्द हो गये, तब भी कलईगर चौंका नहीं, उसी स्वप्न से मे, उसी प्रकार मुँह उठाये, मुंह पर सगीत की ज्योतिर्मय छाया लिये, धीरे-धीरे वहाँ से हट कर अपनी भट्टी की ओर चल पडा। अरुणा से उस ने बात नही की, उसकी अनुमति नही माँगी, उस वरदान के लिए उसे धन्यवाद नही दिया। पर अरुणा को इसका तनिक भी खेद नही हुआ, वह प्रसन्नमना उसे देखती रही। उस के अपने मुख पर जो चिन्ता की रेखा थी, उस का स्थान लिया एक सन्तोषमय आनन्द ने, क्योंकि किसी दूसरे की आत्मा को जगा देना, उस मे कला को ग्रहण करने की शक्ति को चेता देना, कितने गौरव की बात है!

अरुणा फिर भी उस की ओर देखती रही। जब कलईगर अपने स्थान पर जा कर बैठ गया, एक हाथ में धौंकनी उठा ली और दूसरे मे चिमटी, तब भी उस के मुँह पर वही पारलौकिक भाव था, पर जभी उस की चिमटी पतीली से टकरायी, उस ने धौंकनी और चिमटी को ऐसे चौंक कर छोड दिया जैसे साँप पकड लिया हो··और फिर उन की ओर अनदेखती सी आँखों से देखने लगा—

अरुणा मुस्करायी। उस ने जान लिया कि अब यह व्यक्ति सदा के लिए अपने वातावरण और ससार से असन्तुष्ट है—कि अब इस की आत्मा जाग गयी है, और सदा जागेगी, सदा अतृप्त रहेगी···अब वह पारखी की आत्मा है, कलाकार की आत्मा है।

अरुणा ने एक कागज़ पर अपना नाम और पता लिखा, और फहरा कर टीले से नीचे गिरा दिया।

वह लौटी, तब उस के हृदय मे आनन्द और अभिमान था। वह आत्मा मैंने जगायी है—उस के हृदय मे जिस वीणा के तार झनक उठे हैं उसे मैंने छेडा था, मैंने!

2

एक-एक सीढ़ी ऊपर—एक-एक सीढ़ी नीचे···

धौंकनी और पेंतीली जाती है, सट्टे का व्यापार गर्म होता है, बीवी भूखी मरती है, रुपये की माँग बढ़ती है; सारंगी आती है, धन जाना है; प्रसिद्धि होती है, दीवाले निकलते हैं; कला आती है, कला जाती है···

एक-एक सीढ़ी ऊपर—एक-एक सीढ़ी नीचे···

और घंटे बजते जाते हैं···

बीस वर्ष··

साँझ की प्रार्थना हो चुकी थी। गिरजे के बाहर टीले पर, अच्छा-सा सूट पहने और हाथ में वायलिन थामे हुए अधेड़ उम्र का किन्तु देखने में आकर्षक एक व्यक्ति टहल रहा था। उस का मन कहीं और था, लेकिन कभी कभी उस की उँगलियाँ तारों पर कमान को खींच ले जाती थीं, तब एक गम्भीर गूँज से मानो सरू भी काँप-से जाते थे··

जो लोग प्रार्थना करने आये थे, वे एक-एक करके जा रहे थे। जब सब चले गये, तब उस व्यक्ति ने वायलिन को अच्छी तरह ठोडी से दबाया, कमान उठायी, और क्षण-भर सोच कर बजाने लगा··

बिजलियाँ काँपीं। पपीहे बोले। विरहिणियाँ पुकारा कीं। पहाड़ी झरने, मानो एक हँसी से दूसरी हँसी की ओर उछलते हुए बहा किये। फूल फूटे और कुम्हलाये और कलियों के नीचे छिप गये। प्रकाश की लहरें बहती रहीं·

और संगीतकार वायलिन बजाता हुआ टहला किया···

एकाएक टीले के सिरे पर आ कर वह रुक गया। नीचे एक भीड़ एकत्र हो रही थी। सुन रही थी, आनन्दित हो रही थी। सन्नाटा था। और वायलिन बजता जा रहा था···

खुट्-खुट्-खुट्··

गली की एक ओर से एक बुढ़िया लकड़ी टेकती हुई बढ़ी आ रही थी। सिर उसका झुका हुआ था, चेहरे पर झुर्रियाँ थीं। और वह गली को जल्दी से पार कर लेने की चेष्टा में धीरे-धीरे चली जा रही थी।

संगीतकार को अच्छा नहीं लगा। उस ने वायलिन बजाना बन्द कर दिया और उस बुढ़िया की ओर देखने लगा जिस ने उसके संगीत की ओर ध्यान

नहीं दिया—तन्मय होना तो दूर, बिलकुल अनसुनी कर दी···

भीड़ बुढ़िया के सब तरफ़ होती हुई बिखरने लगी। बुढ़िया अपना आगे बढ़ना असम्भव पाकर लाठी टेक कर खड़ी हो गयी, मानो वह रही हो, 'लो, पहले तुम्हीं चले जाओ। तुम्हारे ठहरने से दुनिया का काम रुक जायगा; पर मैं और दुनिया अलग-अलग हैं। मेरा कोई हर्ज नहीं होता···'

थोड़ी देर में भीड़ छँट गयी—गली सूनी हो चली। तब बुढ़िया फिर आगे बढ़ने को हुई—खुट्-खुट्-खुट्···'

सगीतकार ने अपने उलहना-भरे स्वर में कुछ विनय लाने की चेष्टा करते हुए कहा . "बुढ़िया, तुम्हें संगीत अच्छा नहीं लगता ?"

बुढ़िया ने कुछ पास आ कर, रुक कर, सिर उठा कर उस की ओर ऐसे देखा, मानो कहना चाहती हो, "क्या कहते हो तुम ?"

चेहरा देख कर व्यक्ति ने जाना, वह उतनी बुढ़िया नहीं थी—अकाल ही में ये झुर्रियाँ पड़ गयी थीं उसके चेहरे पर, जो कभी बहुत सुन्दर रहा होगा···

वह उस की ओर देखती जा रही है, यह नोट करते हुए उस ने पूछा, "क्यों बुढ़िया, संगीत तुम्हें अच्छा नहीं लगता ?"

बुढ़िया फिर भी कुछ नहीं बोली, ध्यान से उस की ओर देख रही है तो बस, देखती जा रही है, यह जान कर, कुछ अचकचाये स्वर में वह फिर बोला, "क्या—"

बुढ़िया ने एक शब्द कहा, लेकिन उस शब्द में था विस्मय, उस में थी वेदना, उस में था अभिमान-सा भी कुछ, जो नींद से नहीं, मौत से जागने की चेष्टा कर रहा था : "कलईगर !"

संगीतकार के सधे हुए कान ने इस प्रकार से वह जान लिया जो आँखों से नहीं पाया था और वह भी बोल उठा, "अरुणा !"

थोड़ी देर बाद, कुछ अधिक अनिश्चित-से, सहमे हुए-से बहुत ही धीमे स्वर में उस ने फिर कहा, "अरुणा···"

नयी कहानी का प्लॉट



रात के ग्यारह बजे है, लेकिन दफ्तर बन्द नही हुआ है। दो तीन चरमराती हुई लँगडी मेज़ो पर सिर झुकाये, बायें हाथ से अपनी तकदीर पकडे और दायें से कलम घिसते हुए कुछ एक प्रूफरीडर बैठे है। उन के आगे, दायें, बायें, सब ओर कागजो का ढेर लगा है, जो अगर फर्श पर होता तो कूडा कहलाता, लेकिन मेज पर पडा होने की वजह स 'कापी' या 'गेली' या 'आर्डरो' कहलाने का गौरव पाता है।

दफ्तर से परे हट कर दूसरे लम्बे-से कमरे मे बिजली के प्रकाश मे कम्पोज़ीटर अपनी उलटे अक्षरो की दुनिया मे मस्त हैं। पीछे प्रेस की गडगडाहट के मारे कान बहरे हो रहे हैं।

और कम्पोज़िंग रूम के बाहर बरामदे मे सम्पादकजी टहल रहे है। *माथे पर झुर्रियाँ पडी हैं कमरे के पीछे टिके हुए एक हाथ* मे स्लिपो की पैड है, दूसरे मे पेंसिल। सम्पादकजी बैठकर काम करने वाले जीव है, लेकिन आज वे बैठे नही हैं। आज उन मे बैठा नही जा रहा है। आज सम्पादकजी व्यस्त हैं, सन्त्रस्त हैं।

विशेषाङ्क निकल रहा है। शुरू के पेजो मे एक कहानी देनी है। लेकिन अच्छी कहानी कोई है नही। क्या करूँ? दो सडी-सी कहानियाँ है जो देने के काबिल नही हैं। लेकिन देनी तो होगी। आग्रह कर के मँगाई हैं। नखरे कर के भेजी हैं। लक्ष्मीकान्त 'शारदा' का सम्पादक है, उस की कहानी मँगा कर न छापूँगा तो जान को आ जाएगा। आलोचना मे वैर निकालेगा। फ़ोटो भी छपायेगा, पैसे भी लेगा, उस पर देगा यह सडी-सी चीज़! नाली की दुर्गन्ध आती है। आखिरी पेजो मे सही' लेकिन पहली कहानी—कहानी तो चाहिए। कहाँ स लाऊँ, क्या करूँ?

लेखक बहुत हैं। मर गये लेखक। कम्बख्त वक्त पर काम न आये तो क्या करूँ—आग लगाऊँ?

लेकिन—पहली कहानी। क्या करूँ ? खुद लिखूं ? लेकिन—पहले ही मैं ? दीवालियापन ? लेकिन···

एकाएक घूम कर सम्पादकजी ने आवाज़ दी—"लतीफ ! ओ मियाँ अब्दुल लतीफ !"

मियाँ लतीफ आ कर सम्पादकजी के सामने खड़े हो गये। उन्होंने न आवाज का जवाब दिया था, न अब बोले। सिर्फ सामने आ कर खड़े हो गये।

"देखो लतीफ, एक कहानी चाहिए। कल सवेरे तक।"

"जी। लेकिन—"

"कल सवेरे तक। एक कहानी। दो पेज। दूसरा फ़रमा।" कह कर सम्पादकजी ने और भी व्यस्तता दिखाते हुए टहलाई पुन जारी करने के लिए मुँह मोड़ा।

"जी !" कह कर मियाँ अब्दुल लतीफ लौट पड़े और प्रूफरीडरों से कुछ हट कर एक टीन की कुरसी पर बैठ गये।

मियाँ लतीफ का नाम कुछ और है। क्या है, उस से मतलब नहीं। सब लोग उन्हें मियाँ अब्दुल लतीफ कहते हैं। नाम में ध्वनि होती है कि वे पागल हैं। लेकिन हैं वे वैसे नहीं। उन में एक खास प्रतिभा है। जो काम औरों से हनाम हो कर उन्हें सिपुर्द कर दिया जाता है, वह हो ही जाता है, चाहे कैसा ही हो। इस सर्वकार्यदक्षता का परिणाम है कि वे किसी भी काम पर नियुक्त नहीं हैं, सभी उन्हें या तो मदाखलत का अपराधी समझते हैं या एक आलसी और निकम्मा पोथावसन्त। प्रूफरीडर समझते हैं, वह मशीनमैन का असिस्टेंट है, मशीनमैन समझता है वह कामचोर कम्पोज़ीटर है, कम्पोज़ीटरों का विश्वास है कि वह चपरासी है। चपरासी उन्हें कह देता है कि बाबू, मुझे फुरसत नहीं है, इस लिए ज़रा यह चिट्ठी तुम पहुँचा देना।

और मियाँ लतीफ़ सब कुछ कर देते हैं। कभी उन्हें याद आ जाता है कि वे सहकारी सम्पादक के पद के लिए बुलाये गये थे, तो वे उस स्मृति को निकाल बाहर करते हैं। उस से उन की हेटी होती है। वे क्या केवल सम्पादक के सहकारी हैं ? उन्हें 'सहकारी' कुछ कहा जा सकता है, तो 'सहकारी विधाता' ही कह सकते हैं !

ख़ैर। जैसे विधाता को सुख में कोई याद नहीं करता, वैसे ही अब काम

नयी कहानी का प्लॉट



रात के ग्यारह बजे हैं, लेकिन दफ्तर बन्द नही हुआ है। दो-तीन चरमराती हुई लँगडी मेजो पर सिर झुकाये, बायें हाथ से अपनी तकदीर पकडे और दायें से कलम घिसते हुए कुछ एक प्रूफरीडर बैठे है। उन के आगे, दायें, बायें, सब ओर कागजो का ढेर लगा है, जो अगर फर्श पर होता, तो कूडा कहलाता, लेकिन मेज पर पडा होने की वजह से 'कापी' या गेली' या 'आर्डरी' कहलाने का गौरव पाता है।

दफ्तर से परे हट कर दूसरे लम्बे-से कमरे मे बिजली के प्रकाश मे कम्पोज़ीटर अपनी उलटे अक्षरो की दुनिया मे मस्त हैं। पीछे प्रेस की गडगडाहट के मारे कान बहरे हो रहे हैं।

और कम्पोज़िग रूम के बाहर बरामदे मे सम्पादकजी टहल रहे है। माथे पर झुर्रियाँ पडी हैं, कमरे के पीछे टिके हुए एक हाथ मे स्लिपों की पैंड है, दूसरे मे पेंसिल। सम्पादकजी बैठकर काम करने वाले जीव हैं, लेकिन आज वे बैठे नही हैं। आज उन से बैठा नही जा रहा है। आज सम्पादकजी व्यस्त हैं, सन्त्रस्त हैं।

विशेपाङ्क निकल रहा है। शुरू के पेजो मे एक कहानी देनी है। लेकिन अच्छी कहानी कोई है नही। क्या करूँ ? दो सडी-सी कहानियाँ है जो देने के काबिल नही हैं। लेकिन देनी तो होगी। आग्रह कर के मँगाई है। नखरे कर के भेजी हैं। लक्ष्मीकान्त 'शारदा' का सम्पादक है, उस की कहानी मँगा कर न छापूँगा तो जान को आ जाएगा। आलोचना मे वैर निकालेगा। फोटो भी छपायेगा, पैसे भी लेगा, उस पर देगा यह सडी-सी चीज ! नाली की दुर्गन्ध आती है। आखिरी पेजो मे सही' लेकिन पहली कहानी—कहानी तो चाहिए। कहाँ से लाऊँ, क्या करूँ ?

लेखक बहुत हैं। मर गये लेखक। कम्बख्त वक्त पर काम न आये तो क्या करूँ—आग लगाऊँ ?

लेकिन—पहली कहानी। क्या करूँ ? खुद लिखूँ ? लेकिन—पहले ही मैं ? दीवालियापन ? लेकिन···

एकाएक घूम कर सम्पादकजी ने आवाज़ दी—"लतीफ ! ओ मियाँ अब्दुल लतीफ !"

मियाँ लतीफ आ कर सम्पादकजी के सामने खड़े हो गये। उन्होंने न आवाज़ का जवाब दिया था, न अब बोले। सिर्फ सामने आ कर खड़े हो गये।

"देखो लतीफ, एक कहानी चाहिए। कल सवेरे तक।"

"जी। लेकिन—"

"कल सवेरे तक। एक कहानी। दो पेज। दूसरा फरमा।" कह कर सम्पादकजी ने और भी व्यस्तता दिखाते हुए टहलाई पुन जारी करने के लिए मुँह मोड़ा।

"जी !" कह कर मियाँ अब्दुल लतीफ लौट पड़े और प्रूफरीडरों से कुछ हट कर एक टीन की कुरसी पर बैठ गये।

मियाँ लतीफ का नाम कुछ और है। क्या है, उस से मतलब नहीं। सब लोग उन्हें मियाँ अब्दुल लतीफ कहते है। नाम से ध्वनि होती है कि वे पागल हैं। लेकिन है वे वैसे नहीं। उन मे एक खास प्रतिभा है। जो काम औरों मे हताश हो कर उन्हें सिपुर्द कर दिया जाता है, वह हो ही जाता है, चाहे कैसा ही हो। इस सर्वकार्यदक्षता का परिणाम है कि वे किसी भी काम पर नियुक्त नहीं हैं, सभी उन्हें या तो मदाखलत का अपराधी समझते हैं, या एक आलसी और निकम्मा घोंघावसन्त। प्रूफरीडर समझते हैं, वह मशीनमैन का असिस्टेंट है; मशीनमैन समझता है, वह कामचोर कम्पोज़ीटर है, कम्पोज़ीटरों का विश्वास है कि वह चपरासी है। चपरासी उन्हें कह देता है कि बाबू, मुझे फुरसत नहीं है, इस लिए ज़रा यह चिट्ठी तुम पहुँचा देना।

और मियाँ लतीफ सब कुछ कर देते हैं। कभी उन्हें याद आ जाता है कि वे सहकारी सम्पादक के पद के लिए बुलाये गये थे, तो वे उस स्मृति को निकाल बाहर करते हैं। उस से उन की हेठी होती है। वे क्या केवल सम्पादक के सहकारी हैं ? उन्हें 'सहकारी' कुछ कहा जा सकता है, तो 'सहकारी विधाता' ही कह सकते है ··

खैर। जैसे विधाता को मुफ्त में कोई याद नहीं करता, वैसे ही अब काम

नयी कहानी का प्लॉट



रात के ग्यारह बजे हैं, लेकिन दफ्तर बन्द नहीं हुआ है। दो-तीन चरमराती हुई लँगड़ी मेज़ों पर सिर झुकाये, बायें हाथ से अपनी तकदीर पकड़े और दायें से कलम घिसते हुए कुछ-एक प्रूफरीडर बैठे हैं। उन के आगे, दायें, बायें, सब ओर कागज़ों का ढेर लगा है, जो अगर फर्श पर होता, तो कूड़ा कहलाता, लेकिन मेज़ पर पड़ा होने की वजह से 'कापी' या 'गैली' या 'आर्डरी' कहलाने का गौरव पाता है।

दफ्तर से परे हट कर दूसरे लम्बे-से कमरे में बिजली के प्रकाश में कम्पोज़ीटर अपनी उलटे अक्षरों की दुनिया में मस्त हैं। पीछे प्रेस की गड़गड़ाहट के मारे कान बहरे हो रहे हैं।

और कम्पोज़िंग रूम के बाहर बरामदे में सम्पादकजी टहल रहे हैं। माथे पर झुर्रियाँ पड़ी हैं, कमर के पीछे टिके हुए एक हाथ में स्लिपों की पैड है, दूसरे में पेंसिल। सम्पादकजी बैठकर काम करने वाले जीव हैं, लेकिन आज वे बैठे नहीं हैं। आज उन से बैठा नहीं जा रहा है। आज सम्पादकजी व्यस्त हैं, सन्त्रस्त हैं।

विशेषाङ्क निकल रहा है। शुरू के पेजों में एक कहानी देनी है। लेकिन अच्छी कहानी कोई है नहीं। क्या करूँ? दो सड़ी-सी कहानियाँ हैं जो देने के काबिल नहीं हैं। लेकिन देनी तो होगी। आग्रह कर के मँगाई है। नखरे कर के भेजी है। लक्ष्मीकान्त 'शारदा' का सम्पादक है, उस की कहानी मँगा कर न छापूँगा तो जान को आ जाएगा। आलोचना में वैर निकालेगा। फाटो भी छपायेगा, पैसे भी लेगा, उस पर देगा यह सड़ी-सी चीज़! नाली की दुर्गन्ध आती है। आखिरी पेजों में सही' लेकिन पहली कहानी—कहानी तो चाहिए। कहाँ से लाऊँ, क्या करूँ?

लेखक बहुत हैं। मर गये लेखक। कम्बख्त वक्त पर काम न आयें तो क्या करूँ—आग लगाऊँ?

एक दिन फिर मिले। अब की लड़की ने अपना नाम बताया किस्मो—लेकिन कहानी में किस्सो कैसे आयेगा? नाम बताया रश्मि। नहीं जी, यह बहुत सम्भृत है। रोमांटिक नाम चाहिए। किरण—लेकिन यह बहुत 'कॉमन' (प्रचलित) हो गया। हां, तो नाम बताया मदालसा। मियाँ लतीफ़ ने अपना नाम और उस का नाम एक अमरूद के पेड़ पर चाकू से खोद दिये। अमरूद पर नाम बहुत साफ़ खुद सकता है।—किस्सो—मदालसा—गुम हो गई। उस ने लतीफ के—नहीं लतीफ़ कैसे?—मदालसा ने चित्रांगद के गले में हाथ डाल कर कहा—'तुम बड़े अच्छे हो। यहाँ हमारा नाम साथ लिखा है अब हमारा नाम साथ ही लिया जायगा।'

ठीक तो है। दूसरा दृश्य भी ठीक है। और नामों का जोड़ा क्या फिट बैठता है—'मदालसा चित्रांगद!'

पर—

किस्मो की शादी हो गई। वह लो मदलसा, शादी तो हो गई, और एक अहीर के साथ हुई, जिस ने मुर्गियों का फ़ार्म खोल रखा था।

रोमांटिक। दुखान्त। मदालसा। चित्रांगद। अहीर को बलराम कह लो। लेकिन शादी तो हुई, मुर्गी फ़ार्म के मालिक के साथ तो हुई? रोमांटिक कहानी की नायिका रहे किस्सो और पाले मुर्गियाँ!

टन् टन् टन्'' टन्! घड़ी ने बारह बजा दिये।

मियाँ लतीफ़ उठे। उठ कर उन्होंने कुरसी को घुमाया। अब तक उन का रुख़ प्रूफ़रीडरी की ओर था अब ठीक उलटी ओर दीवार की तरफ़ हो गया, मानो कुरसी का रुख़ पलटने से विचार-धारा भी पलट जायगी।

रोमांटिक की ऐसी-तैसी। यथार्थवाद का ज़माना है। क्या न वैसा लिखूँ!

यथार्थवाद। सुबह भुने चने, दुपहर को खेसारी की दाल, शाम को मक्के की रोटी और मूली के पत्ते का साग। कभी फ़ाक़ा। पसीना और मैल और लीद गोबर और ठिठुरन और मच्छर। और मलेरिया और न्यूमोनिया और कुएँ का कच्चा पानी और नंग-धड़ंग बच्चे।

तो, वहीं से चलें। किस्सो और बल्सी। और उन का मुर्गियों का फ़ार्म। बीमारी आती है, मुर्गियाँ एक एक करके मरने लगती हैं। चूज़े सुस्त हो कर बैठे जाते हैं। किस्सो अण्डे गिनती है और सोचती है, भविष्य में क्या होगा?

ठीक चलने पर मियाँ लतीफ की पूछ नही है। वे अलग कोने मे टीन की कुरसी पर बैठे हैं, बायें हाथ मे दवात है, दाहिने मे कलम, घुटने पर स्लिप-बुक और मस्तिष्क मे—मस्तिष्क मे क्या है ?

2

माथापच्ची।

दो पेज। दूसरा फरमा। कहानी अच्छी होनी चाहिए।

विशेषाङ्क है।

रोमास। रोमाटिक कहानी हो। रोमाटिक यानी प्रेम। प्रेम यानी—यानी—रोमाटिक। नहीं, ऐसे काम नही चलेगा।

क्या बचपन मे मैंने कभी प्रेम नही किया ? प्रेम न सही, वही कुछ अध-कचरा खटमिट्ठा-सा ही सही ! कुछ—

मियाँ लतीफ को याद आया, जब वे गाँव मे रहते थे, तब एक बार रोमास उनके जीवन के बहुत पास आया था। गाँव से पूर्व की ओर एक शिवालय था, जिसके साथ एक बगीचा था, जिसमे नीबू और अमरूद के कई पेड थे। लतीफ स्कूल से भाग कर वहाँ जाते थे। एक दिन वही अमरूद के पेड के नीचे उन्होने देखा, उन की समवयस्का एक लडकी खडी है और लोलुप दृष्टि से पेड पर लगे एक कच्चे अमरूद को देख रही है। लतीफ ने चुपचाप पेड पर चढ कर वह अमरूद गिरा दिया। वह लडकी के पैरो के पास गिरा। लतीफ खडे रहे कि लडकी उसे उठा लेगी, लेकिन लडकी ने वैसा न कर उन से पूछा—'क्या जी, तुम ने मेरा अमरूद क्यो गिरा दिया ?"

'तुम्हारे खाने के लिए।' लतीफ जरा हैरान हुए, लेकिन उन्होने जेब में से एक चाकू निकाला, जिस का फल कुछ टूटा हुआ था, फिर दूसरी जेब मे से एक पुडिया निकाली, अमरूद काटा और आगे बढाते हुए कहा—'यह लो, नमक-मिर्च भी है। खाओ।'

लडकी ने अमरूद तो खा लिया, लेकिन खा चुकने के बाद कहा—'अब बिना पूछे मेरे अमरूद मत तोडना, नही तो मै नही खाऊँगी।' और चली गई।

हाँ, पहला दृश्य तो कुछ ठीक है। दूसरा ?

एक दिन फिर मिले। अब की लड़की ने अपना नाम बताया किस्सो—लेकिन कहानी में किस्सो कैसे जायेगा? नाम बताया रश्मि। नहीं जी, यह बहुत सम्पृक्त है। रोमांटिक नाम चाहिए। किरण—लेकिन यह बहुत 'कॉमन' (प्रचलित) हो गया। हाँ, तो नाम बताया मदालसा। मियाँ लतीफ़ ने अपना नाम और उस का नाम एक अमरूद में पेड़ पर चाकू से खोद दिये। अमरूद पर नाम बहुत साफ़ खुद सकता है।—किस्सो—मदालसा—गुम हो गई। उस ने लतीफ से—नहीं लतीफ कैसे?—मदालसा ने चित्रांगद के गले में हाथ डाल कर कहा—'तुम बड़े अच्छे हो। यहाँ हमारा नाम साथ लिखा है, अब हमारा नाम साथ ही लिया जायगा।'

ठीक तो है। दूसरा दृश्य भी ठीक है। और नामों का जोड़ा क्या फिट बैठता है—'मदालसा चित्रांगद!'

पर—

किस्सो की शादी हो गई। यह लो मदलसा; शादी तो हो गई, और एक अहीर के साथ हुई, जिस ने मुर्गियों का फार्म खोल रखा था।

रोमांटिक। दुखान्त। मदालसा। चित्रांगद। अहीर को बलराम कह लो। लेकिन शादी तो हुई, मुर्गी फार्म के मालिक के साथ तो हुई? रोमांटिक कहानी की नायिका रहे किस्सो और पाले मुर्गियाँ!

टन्-टन्-टन्'''टन्! घड़ी ने बारह बजा दिये।

मियाँ लतीफ उठे। उठ कर उन्होंने कुरसी को घुमाया। अब तक उन का रुख प्रूफरीडरों की ओर था, अब ठीक उलटी ओर दीवार की तरफ हो गया, मानो कुरसी का रुख पलटने से विचार-धारा भी पलट जायगी।

रोमांटिक की ऐसी-तैसी। यथार्थवाद का जमाना है। क्यों न वैसा लिखूं!

यथार्थवाद। सुबह भुने चने, दुपहर को खेसारी की दाल, शाम को मकई की रोटी और मूली के पत्ते का साग। कभी फाका। पसीना और मैल और लीद गोबर और ठिठुरन और मच्छर। और मलेरिया और न्यूमोनिया और कुएँ का कच्चा पानी और *नंग-धड़ंग* बच्चे।

तो, वहीं से चलें। किस्सो और वल्ली। और उन का मुर्गियों का फार्म। बीमारी आती है, मुर्गियाँ एक-एक करके मरने लगती हैं। चूज़े सुस्त हो कर बैठे जाते हैं। किस्सो अण्डे गिनती है और सोचती है, भविष्य में क्या होगा?

वल्ली का प्रिय एक मुर्गा है, विलायती लेगहॉर्न नस्ल का। एक दिन वह भी सुस्त हो कर बैठ गया। दिन ढलते उस की गर्दन एक ओर को झुक गई, शाम होते ऐंठ गई। वल्ली हतसज्ञ-सा देखता रह गया। किस्सो मुर्गे को गोद में ले कर धाड़ें मार कर रोने लगी···

किस्सो-विलाप।

अब्दुल लतीफ की कहानी—और नायिका एक मुर्गे के लिए रोती है। कहते हैं, कालिदास 'अज-विलाप' बहुत सुन्दर लिख गये हैं। अज माने बकरा। 'मुर्गी-विलाप।'

अब्दुल लतीफ। काठ का उल्लू।

घड़ी ने एक खड़का दिया।

3

अब्दुल लतीफ बाहर निकल आये। बरामदे से नीचे झांक कर देखा, एक अखबार के पोस्टर का टुकडा पडा था—"स्पेन-युद्ध लाखो स्त्रियां—'

हां तो। आज ससार इतनी तूफानी गति से जा रहा है, क्या उस मे एक भी प्लाट काम का नही निकल सकता? प्लाटों से अखबार भरे पडे है। मुझे क्या जरूरत है रोमांटिक-रियलिस्टिक की, मैं सामयिक लिख दूं—वही तो चाहिए भी।

लतीफ ने कई-एक अखबार उठाये और पन्ने उलटने लगा।

अबीसीनिया मे घोर युद्ध। इटली आगे बढ रहा है। मुसोलिनी की आज्ञा इटली के तमाम वयस्क आदमी शस्त्र सम्हाल लें।

जर्मनी की घोषणा: हम पर जबरदस्ती प्रतिबन्ध लगाये गये है ताकि हम निकम्मे रहे, हमने तय किया है कि हम सब प्रतिबन्धो को तोड कर अपने राष्ट्र का शस्त्रीकरण करेंगे।

ब्रिटेन मे सब ओर पुकार इग्लैंड खतरे मे है! हमारी शान्तिप्रियता हमारा सर्वनाश करेगी! अब शस्त्रीकरण मे ही हमारा निस्तार है, अत हम जोरो से अस्त्र शस्त्र और जहाजी बेडो का निर्माण करेंगे।

स्पेन से युद्ध · पक्ष लेने के लिए सभी राष्ट्र तैयार हो रहे है·

रूस मे फौजी तैयारियां···

चीन में लडाई···

जापान में सैनिकों की सरगर्मियाँ···

मचूरिया···

ससार-भर मे अशान्ति है। एक नही, असख्य कहानियो का प्लाट यहाँ खा है, कोई लिखनेवाला तो हो! लेकिन प्लाट क्या बनाया जाय?

धीरे-धीरे लतीफ के आगे चित्र खिचने लगे, विचार आने लगे।

एक बडी तोप। बहुत-सा धुआँ। इधर-उधर गडगडाहट की ध्वनि। जहाँ-तहाँ लाशें। और जाने क्यो और कैसे, एक ही शब्द—कुटुम्ब। और इस सब को घेरे हुए ऊपर-नीचे, दायें-बायें सर्वत्र फालतू खाद्य-वस्तुओ के जलने की दुर्गन्ध···

और टन्-टन्-टन्···तीन!

नहीं। हाँ। उन की कहानी युद्ध के बारे मे ही तो होनी चाहिए—ससारव्यापी युद्ध के बारे मे। हाँ। नही। हाँ, शुरू तो की जाय। हाँ।

'सर्वत्र अशान्ति के बादल—समझ लीजिए कि प्रलय-पावस में अशान्ति-रूपी घनघोर घटा उमडी आ रही है। सब ओर कारखाने हैं—जो कल कपडा बुनने की मशीनें बनाते थे, तो आज बन्दूकें बना रहे हैं; कल मोटरें बना रहे थे, तो आज लडाकू टैंक बना रहे हैं, कल खिलौने बना रहे थे, तो आज बम फेंकने की मशीनें बना रहे हैं, कल शराब बनाते थे, तो आज भयकर विस्फोटक पदार्थ बना रहे हैं। सारा देश पागल—सारा यूरोप पागल—सारी दुनिया पागल! इस विराट् पृष्ठभूमि के आगे हमारी कहानी का नायक खडा है और सोचता है, क्या मैं अकेला इस सब को बदल सकूँगा, ठीक कर सकूँगा?'

उँहुँक। सब गलत!

नहीं।

लतीफ ऊँघने लगे। उन्होने एक स्वप्न देखा। कि सवेरे छह बजे घर पहुँच रहे हैं। सब लोग सो गये हैं, शायद भूखे ही सो गये है क्योकि पहले दिन सवेरे लतीफ घर से चले थे, तब उन के शाम तक कुछ प्रबन्ध करने की बात थी। किवाड बन्द है। लतीफ ने किवाड खटखटाया, फिर दुबारा खटखटाया। आखिर उन की पत्नी ने आ कर दरवाजा खोला और उन्हे देखते ही बन्दूक की गोली की तरह कहा—'खाना खा आये?' फिर क्षण-भर रुक कर—नही, कहाँ

खा आये होगे। मिला ही नही होगा। भरा पेट होता, तो भला घर आते ? लेकिन यहाँ क्या रखा है ? यहाँ रोटी नही है। जाओ, हमे मरने दो।' फिर वह किवाड बन्द करने को हुई, लेकिन न जाने क्या सोच कर रह गई और एक हाथ से मुँह ढाँप कर भीतर चली गई। मियाँ लतीफ स्तब्ध रह गये, देखते रह गये।

तभी एक झोंके से स्वप्न टूट गया। वे चौंक कर उठ बैठे। और उन्होने देखा, कहानी बिलकुल साफ होती चली जा रही है—बन गई है। उन्होने क़लम उठाई और तेजी से लिखना शुरू किया। अन्तिम वाक्य उन के सामने चमकने लगे—

'···और वह देखता है कि उस का भोजन 'आधिक्य के कारण' उस की आँखो के आगे जला जा रहा है, और ससार के सब राष्ट्र उस पर पहरा दे रहे है कि कही वह आग बुझा न दे, कुछ खा न ले। और देखते-देखते उसे लगने लगता है, वह अकेला नही है, व्यक्ति नही है, वह सारा ससार ही है, जो अपने ही इन शक्तिसम्पन्न गुलामो के अत्याचार से पिसा जा रहा है, गुलाम जो अपने मालिक के भोजन को फालतू माल कह कर जलाये डाल रहे हैं···भूख का बन्धन उस के भीतर वह प्रेम जगाता है, वह विश्वैक्य जगाता है, जो धर्म और दर्शन और बुद्धिवाद नही जगा सके थे। वह पूछता है, क्या सभ्यता ही हमारी गुलामी का कारण है ? क्या सभ्यता का नाश कर दिया जाय ?

'सभ्यता क्या जवाब देती है ?'

कहानी लिखी गई। लतीफ उठे और सम्पादक के पास ले गये।

सम्पादक ने कहानी उन के हाथ से छीन ली, जल्दी मे पढ गये, पढ कर कुछ शिथिल हो गये, फिर एक तीखी दृष्टि से लतीफ की ओर देख कर बोले—'तुम्हे क्या हो गया है ?'

'क्यो ?'

सम्पादकजी ने धीरे-धीरे, मानो बडी एकाग्रता से, कहानी को फाडा। दो टुकडे किये, चार किये, आठ किये और रद्दी को हाथ से गिरा दिया, टोकरी मे डालने की कोशिश नही की। फिर सक्षेप मे बोले—'फिर लिखो !' और मानो लतीफ को भूल गये।

'चार बज गये हैं।'

'अभी छह घटे और हैं। दो पेज मैटर—काफी समय है।'

अच्छा मैं जरा घर हो आऊँ।

हूँ।

4

यथार्थता स्वप्न स आगे है। घर पहुँचने पर लतीफ न किवाड़ खटखटाय, फिर खटखटाये, लेकिन दरवाजा नहीं खुला। थक कर वे सीढ़ी पर बैठ गय। तब उन के सामने स्पष्ट होने लगा कि वे कहाँ है क्या हैं, क्या हैं? यानी दीखने लगा कि वे कहीं नहीं हैं कुछ नहीं हैं बिला वजह हैं—धब्बे की तरह हैं सलवट की तरह है। उन का हृदय ग्लानि स भर गया। उन्हान चाहा अपना अन्त कर दें। जेब मे हाथ डाला, तो वहाँ चाकू तो था नही, पेंसिल थी। लतीफ ने दृढ़ता से उस खीच कर इस्तीफा लिखना शुरू किया। उन्हे मालूम नही था कि वे किस पद पर से इस्तीफा दे रहे हैं अत उन्होने 'अपने पद से' लिख कर काम चला लिया।

इस्तीफा ले कर वे दफ्तर पहुँचे। लेकिन सम्पादकजी दफ्तर म थे नही।

लतीफ टीन की कुरसी पर घुटने समेट कर बैठ गये और खिडकी स बाहर झांकने लगे। बाहर पौ फूट रही थी। उषा म चमक नही थी, उस के भूरेपन ने केवल रात के स्निग्ध अन्धकार को मलिन कर दिया था।

तभी लडके ने आ कर कहा— चलिए माँ बुला रही है। रात भर बाहर रहे हैं अब तो चलिए। नाश्ता हो रहा है।

लतीफ ने चौंक कर कहा— क्या?

मामा के यहाँ स गुड आया था उस के गुलगुले बना लिये है।

लतीफ कुछ सोच म पड गये, कुछ उठने की तैयारी म रह गय।

'और माँ ने कहा है तनखाह के कुछ रुपये तो लेते आना। तीन चार दिन मे भैयादूज है कई जगह भेजने होगे। कहती हुई लडकी भी आ गई।

मियाँ लतीफ न एक गहरी साँस ली। अपना इस्तीफा उठाया और उस की पीठ पर अपनी पिछले महीने की तनखाह का एक हिस्सा पान क लिए दरखास्त लिखने लगे।

तभी सम्पादकजी आ गये। लतीफ को मा घिरा हुआ और लिखता दख कर बोले— यह क्या है?'

पास आकर उन्होंने मोडे हुए कागज पर इस्तीफा पढकर कागज छीनते हुए फिर पूछा—'यह क्या है ?'

'कुछ नही, मैं नई कहानी लिखने लगा हूँ।'

सम्पादकजी ने कागज उलट कर देखा और फिर जोर दे कर पूछा—'यह क्या है ?'

'यह मेरी नई कहानी का प्लाट है, जी।'

सम्पादकजी को एकाएक कुछ कहने को नही मिला। उन्होंने बाहर जाने के लिए लौटते हुए कहा—'तुम रहे सदा वही अब्दुल लतीफ !'

लेकिन अब्दुल लतीफ तब तक लिखने लग गये थे।

सभ्यता का एक दिन

नरेन्द्र जीवन के झमेलों से बेफ़िक्र रहता था। लापरवाही उस का सिद्धान्त था। राह-चलते जो मिल गया, ले लिया और चलते बने। सुख मिला, हँस लिये, दुख मिला, सह लिया। पैसे मिल गये तो इस हाथ से ले उस हाथ खर्च कर डाले, फटकार मिली तो इस कान सुनी उस कान बाहर कर दी। ऐसा वह तभी से हुआ था जब से घर-बार छोड़ कर भाग आया था, पहले ऐसा नहीं था वह। लेकिन फिर भी इस थोड़े-से अर्से में ही, यह ढंग उस पर ऐसा बैठ गया था कि इस के अलावा और किसी ढंग की कल्पना ही वह नहीं कर सकता था। इस वर्ष-भर में कई बार वह भूखा लेट गया, कई बार सर्दी से ठिठुरता पड़ा रहा, कई बार सड़क की पटरी पर बैठ कर भीगा किया, लेकिन क्या उसे कभी उस पीछे छूटे हुए घर की याद आयी ? कभी नहीं। ऐसे समय में दार्शनिकता के झोले में अपने को छिपा लेता, कुछ गा-गुनगुना लेता, और बस ठीक रहता, बेफ़िक्र रहता, बेफ़िक्र ही नहीं, लापरवाह रहता।

आज सवेरे वह बेफ़िक्र ही नहीं, खुश था। उसकी जेब में एक रुपया था—यह सोचने की उसे ज़रूरत नहीं थी कि वह कैसे वहाँ पहुँचा है, वहाँ पहुँचना चाहिए था या नहीं। वह रुपया था, और नरेन्द्र की जेब में था, बस इतना काफ़ी था।

नरेन्द्र दोनों हाथ जेब में डाले, एक में रुपया थामे, सीटी बजाता हुआ शहर की मुख्य सड़क पर चला जा रहा था। मन में कोई विचार नहीं था। केवल सीटी के गीत पर ताल देती हुई संतोष की लहर-सी थी।

तभी नरेन्द्र ने सुना, एक रेडियो कम्पनी के भीतर से रेडियो चिल्ला रहा है—अपना भी विज्ञापन कर रहा है और अन्य चीज़ों का भी…

"'''''इन न्यामतो मे एक है कैलिफोर्निया के आड़ू। एक दिन था, जब अमरीका के बाहर, बल्कि कैलिफोर्निया के बाहर, ये आड़ू एक सपना थे। लोग इन का नाम सुनते थे, और आह भर लेते थे। जो अमीर थे, वे कैलिफोर्निया जाते थे और लौटकर उन आड़ुओ की तारीफ कर के अपने दोस्तो को ईर्ष्या से जलाते थे, जिन्हे खाने के लिए स्वर्ग की अप्सराएँ उतरती हैं, जिन्हे पकाने के लिए फरिश्ते अपनी गर्म साँसो से उन्हे फूंक-फूंक कर लाल करते हैं आज आप यहीं पर उन्हे मामूली दाम पर खरीद कर खा सकते हैं। आज · "

नरेन्द्र आगे बढ गया। अब उसके मन मे उस सन्तोष के साथ एक और भी विचार अस्पष्ट रूप मे छा गया—कि कैलिफोर्निया के आड़ू मामूली दाम पर मिलते हैं, और उस की जेब मे पूरा एक रुपया है।

एक दुकान पर उस ने बोर्ड लगा देखा "सब प्रकार के अचार मुरब्बे, जैम, डिब्बे के फल—"और आगे बढने की चिन्ता न कर भीतर घुस गया।

एक छोटा डिब्बा कैलिफोर्निया के आड़ू। साढे पाँच आने।

नरेन्द्र बाकी पैसे जेब मे डाल कर और टीन हाथ मे ले कर बाहर आ गया। बाहर आ कर उस ने देखा, सडक पर भीड है। वह एक गली म हो लिया, और धीरे धीरे चलने लगा। डिब्बे पर लगे हुए कागज का चित्र उस ने देखा फिर ऊपर लिखी हुई पूरी इबारत उस ने पढ डाली, कम्पनी के नाम तक, फिर चाकू न होने के कारण एक मकान की पत्थर की सीढी के कोने पर पटक कर डिब्बे मे छेद किया, फिर दाँतो से खीच कर ढक्कन अलग कर दिया। तब एक बार चारो ओर देख कर वह चलता चलता ही आड़ू खाने लगा।

और दार्शनिकता भी उस के भीतर चेत उठी।

· न्यामत। स्वर्ग की अप्सराएँ। कैसी होती होगी वे? फरिश्ते। पहले तो केवल कैलिफोर्निया खाती थी, अब दुनिया इन्हे खाती होगी। उपज बहुत बढ गयी होगी। अब भी फरिश्ते ही पकाते होगे? कितने फरिश्ते लगे हागे इस काम मे? उँह, बकवास। विज्ञापनबाजी।

लेकिन फिर भी बडी बात है। आज मैंने रेडियो पर सुना। रेडियो विदेशी कारखाने म बना। उस के अलग-अलग हिस्से बनाने, पैक करने और यहाँ तक पहुँचाने म हजारो आदमियो के हाथ लगे होगे। हजारो ने यह मेहनत की कि मैं, नरेन्द्र इस खबर को सुनूं। और आड़ू। कैलिफोर्निया मे तोडे गये, छाटे

गये, पकाये गये, गिने गये, तौले गये। डिब्बे में डाले गये, जिस के लिए डिब्बे का कारखाना बना। मोटर में लद कर स्टेशन आये—मोटर का कारखाना काम आया। रेल में लदे, जहाज़ में लदे। लोहे के कारखाने काम में आये। ढालने की मशीनें काम आयीं, बिजली-घर काम आये, कील बनानेवाले, पुर्जे-पेच बनानेवाले, रस्से बनानेवाले, झंडे बनानेवाले, नावें बनानेवाले, हाँ तोपें तक बनानेवाले, सब काम आये। बन्दरगाह के राज-मज़दूर काम आये, कुली काम आये। शायद कुल दुनिया का एक गिना जाने लायक हिस्सा काम आया कि ये आड़ू यहाँ पहुँचे—और मैंने इतने हज़ारों आदमियों का श्रम ख़रीदा है—साढ़े पाँच आने में! और वह साढ़े पाँच आने भी है आड़ुओं की कीमत, उस श्रम की नहीं।

तो?

यह क्या है? कैसे है? क्यों है?

क्या पहले भी ऐसे ही था? पहले तो एक प्राणी अपना पेट तब भरता था, जब दूसरे को मार डाले—उसी को भून कर, या कच्चा ही खा जाय। और अब··

आड़ुओं का डिब्बा खाली हो गया। नरेन्द्र ने एक बार उसे मुँह के पास ले जाकर भीतर देखा, उस में कुछ नहीं था। लेकिन फिर भी वह एक क्षण देखता ही रहा।

यह सब विज्ञान की देन है। विज्ञान से ही ऋद्धि मिलती है—और सुख। असल में यह सब सभ्यता की देन है। सभ्यता ने ही विज्ञान दिया है, सभ्यता ही इस दुनिया को सहयोग में चला रही है।

सभ्यता!

नरेन्द्र ने एक साँस लेकर टीन फेंक दिया। उस के गिरने की आवाज़ ने मानो फिर कहा, 'सभ्यता!'

नरेन्द्र को लगा कि वह सभ्यता से जैसे अलग है, अछूत है, निर्वासित है।

वह गली में लौट कर सड़क पर आया। आधे घंटे बाद उस ने पाया कि वह "सब प्रकार के अचार, मुरब्बे, जैम, डिब्बे के फल, टॉफी, ऑमलेट, बिस्कुट इत्यादि" बेचनेवाले हुसैनभाई करीमभाई के यहाँ लगभग साढ़े पाँच आने रोज़—दस रुपये मासिक का नौकर है।

ताज की छाया में

•

कैमरे का बटन दबाते हुए अनन्त ने अपनी साथिन से कहा, "खींचने में कोई दस मिनट लग जायेंगे—टाइम देना पड़ेगा।" और बटन दबा कर वह कैमरे से कुछ अलग हट कर पत्थर के छोटे-से बेंच पर अपनी साथिन के पास आ बैठा।

वह सारा दिन दोनों ने इस प्रतीक्षा में काटा था कि कब शाम हो और कब वे चाँदनी में ताजमहल को देखें। दिन में उन्हें कोई काम नहीं था, लेकिन दिन में आकर वे पाँच-सात मिनट में ही एक बार ताज की परिक्रमा कर के चले गये थे, यह निश्चय कर के कि शाम को ही पूर्णप्राय चन्द्रमा की शुभ्र देन से अभिभूत-व्याकुल, वे उसे देखेंगे और उसी समय फोटो भी लेंगे।

अनन्त ने घड़ी देखी, और फिर धीरे-धीरे बोला, "देखो, ज्योति, आखिर वह क्षण भी आया कि हम ताज को देख सकें—तुम्हें याद है, तुम कहती थीं, कभी मैं तीर्थ करने निकलूँगी तो पहले यह तीर्थ करूँगी? देखो···"

ज्योति ने उत्तर नहीं दिया। मानो उस के आदेश को मानते हुए, अपलक दृष्टि से सामने देखती रही।

साँझ के रंग बुझ चुके थे – सन्धि-वेला नहीं थी, निरी रात थी, अकेली और अतिशः रात · और अनन्त की आँखों के सामने, ज्योति की आँखों के सामने, सरो वृक्षों की सम्मिश्रण-हीन श्यामता के ऊपर एकाएक ही प्रकट हो जाती थी रौज़े की दूषणहीन शुभ्रता।

बैठे-बैठे अनन्त का मन भागने लगा, उसे लगा कि संसार-भर का अँधेरा, पुंजीभूत हो कर वहाँ एकत्र हो गया है, मानो ताज का गौरव बढ़ाने के लिए, और उस के ऊपर विश्व-भर की चाँदनी भी साकार हो कर, अस्थूल पैरों से दबे-पाँव आ कर, अनजाने में स्थापित हो गयी है और चाँदनी भी ऐसी, जो मानो

अपने-आप मे नहा कर निखर आयी है, अतिश चन्द्रिकामय हो गयी है।

…क्यो है इतना निष्कलंक सौन्दर्य पृथ्वी पर? क्यों किसी का इतना सामर्थ्य हुआ कि वह अकेला ही इतने साधन इकट्ठे कर सके—इस अनुपम विराट् स्मारक की सृष्टि कर सके?

…सौन्दर्य का पूरा अनुभव करने के लिए क्या निर्वेद अवस्था जरूरी है? क्या जरूरी नही है? सौन्दर्य वह है, जिस की अनुभूति मे हम ऐहिक सुख-दुख से परे निकल जावें—यानी भावानुभूति से परे चले जावें; पर सौन्दर्य की अनुभूति तो स्वय एक भाव ही है।

उसे एक कहानी याद आयी। जाने कब उस ने पढी थी—अब ताजमहल को देख कर मन के किसी गहरे तल से उफन कर ऊपर आ गयी। ऐसे ही एक स्मारक की कहानी थी—जो किसी सम्राट् ने अपनी प्रेयसी के लिए बनवाया था।

जब सम्राज्ञी मर गयी, तब सम्राट् ने देश भर के कलाकार एकत्र कर के हुक्म दिया, "मेरी प्रियतमा की स्मृति मे एक ऐसी इमारत खडी करो, जैसी न कभी देखी गयी हो, न कभी देखी जाय। चन्द्रिका लजा जाय, तारे रो पड़ें, ऐसा हो उसका सौन्दर्य। और मेरी सारी प्रजा, मेरा कुल राजकोष इस विराट् उद्देश्य के लिए अर्पित हैं। नहीं, मैं स्वय भी इसी यज्ञ मे आहुति दूँगा—मैं आज से अपने महल के तहखाने मे अन्धकार म पड़ा रहूँगा, और मेरी आँखें तब तक कुछ नही देखेंगी, जब तक वह स्मारक तैयार न हो जाय—जो वैसा ही अद्वितीय सुन्दर हो, जैसी कि मेरी प्रियतमा थी।"

सम्राट् चले गये। और राष्ट्र-भर की शक्तियाँ उस तीन हाथ लम्बे और हाथ-भर चौडे क्षार पुज के आस पास केन्द्रित होने लगी, और स्मारक धीरे-धीरे खडा होने लगा।

दिन बीते, महीने बीते, वर्ष बीते। दस वर्ष बीत गये। एक दिन कलाकारो ने जा कर सूचना दी, "सम्राट् बाहर पधारें, भवन तैयार हो गया है।"

सम्राट् आये। अन्धकार मे रहते उन के केश पीले पड गये थे, त्वचा मानो झुर गयी थी, और आँखो की ज्योति चली गयी थी।

सम्राट् ने भवन देखा। सचमुच उन की साधना—उन के प्रतिपालित समूचे राष्ट्र की साधना—सफल हो गयी थी—दिवगता सम्राज्ञी की तरह

"सम्राट् ने देश-देशान्तर में हरकारे भेज कर घोषणा करवा दी कि फराऊन की लड़की स्वयंवर द्वारा शादी करना चाहती है, जितने प्रणयार्थी हों, वे राजधानी में आ कर आवेदन करें। अपनी पात्रता प्रमाणित करने के लिए काली वज्रशिला का एक-एक खण्ड लेते आवें।

"विवाहेच्छु युवकों का ताँता बँध गया; लेकिन फराऊन के आज्ञानुसार राजकन्या के दर्शन किसी को प्राप्त नहीं हो सके। सब आ-आ कर वज्रशिला-खण्ड एक निर्दिष्ट स्थान पर जमा करते जाते और यह समाचार पा कर लौट जाते कि राजकुमारी ने उन्हें पसन्द नहीं किया।

"कई वर्ष हो गये, और यही क्रम जारी रहा। शिलाखण्डों का ढेर बढ़ता गया, निराश युवकों की संख्या बढ़ती गयी, और राजकन्या का यौवन भी पराकाष्ठा तक पहुँच कर ढलने लगा। एक दिन उस ने खिन्नमना हो कर पिता से कहा—'पिता, अब तो मेरा शरीर भी जर्जरित होने लगा, अब बताइए, मैं अमरत्व कब पाऊँगी?'

"फराऊन उसे महल की खिड़की के पास ले गये और उसे खोलते हुए बोले, 'बेटी, तुम तो अमर हो गयी—वह देखो, तुम्हारा अमरत्व!'

"बेटी ने बाहर झाँका। सामने सान्ध्य प्रकाश में लोहितवर्ण पिरामिड चमक रहा था। पिता ने कहा, 'वह देखो, बेटी! अब तुम क्या करोगी मानव का प्यार…'"

अनन्त एकाएक चुप हो गया। फिर बोला, "उफ, कैसी कहानी है यह…"

ज्योति ने धीरे-धीरे अपना हाथ खींच लिया। दोनों फिर चुप हो गये।

मिनट-भर बाद ज्योति ने फिर पूछा, "अब क्या सोच रहे हो?"

वह अनन्त की ओर देखती नहीं थी, देख वह अपलक दृष्टि से ताज की ओर ही रही थी, फिर भी जाने कैसे अनन्त का नाड़ी-स्पन्दन निरन्तर उस में प्रतिध्वनित हो जा रहा था।

कुछ चुप रह कर अनन्त बोला, "बताओ, क्या दिन के प्रकाश में प्यार भी उतना ही कठोर लगता है, जितना कि पत्थर?"

ज्योति ने कुछ विस्मय से कहा, "क्यों, क्या मतलब? मैं नहीं समझी।"

"आज दोपहर को देखा था, ताज कितना बेहूदा लग रहा था? क्यों? इस लिए कि पत्थर भी कठोर है, दोपहर की धूप भी कठोर है और दोनों एक

साथ तो · तभी दोपहर को लग रहा था, जैसे किसी ने निर्दय हाथों से ताज की सुन्दरता का अवगुण्ठन उतार लिया हो, उसे नगा कर दिया हो। लेकिन अब चाँदनी मे—ऐसा लगता है कि ओस की तरह चाँदनी ही जम कर इकट्ठी हो गयी हो।"

"नही, तुम और कुछ सोच रहे थे—बताओ न ?" कह कर ज्योति ने फिर अनन्त के हाथ पर अपना हाथ रख दिया।

अनन्त को नही लगा कि प्रतिवाद करने की ज़रूरत है, या उसे झूठ बोलने पर लज्जित होना चाहिए। उस का अपने मन की बात न कह कर और बात कहना और ज्योति का इस बात को फौरन ताड जाना उसे बिलकुल ठीक और स्वाभाविक लगे। वह फौरन ही कहने लगा, "हाँ, दोपहर को ताज की परिक्रमा करते समय मैंने किसी को कहते सुना था कि एक बार विलायत से एक मेम वहाँ आयी थी और ताज को देख कर कहती थी, अगर मुझे कोई लिख कर दे दे कि मुझे यही दफनाया जायगा, तो मैं अभी यही मर जाऊँ—इतनी प्रभावित हुई थी वह इस के सम्मोहन सौन्दर्य से। मैं यही सोच रहा था, कैसी भावना है यह—क्या इस का मूल्य जीवन से भी अधिक है ?"

ज्योति ने अनन्त का हाथ झटक दिया। वह चौंक कर बोला, "क्यो, क्या हुआ ?"

"दो दो बार झूठ बोलोगे ? बताओ, क्या सोच रहे थे ?"

"सच तो बता रहा हूँ—"

"भला मैं नही जानती—झूठे कही के !"

"अच्छा, तुम कैसे जानती हो—"

ज्योति क्या बताये कि कैसे जानती है ? जैसे वह जानती है, वह बताने की बात ही नही, न उसे कहना आता है। एक बीज होता है, जब अकुर फूटता है, तब बीज के दो आधे हो जाते है, तो अकुर किस का अधिक होता है—कौन उस का अधिक अपना होता है ? और अकुर की अत्यन्त सुकुमार जडों में जब रस खिचता है, तब वे बीजार्ध कैसे जान लेते हैं कि जीवन का प्रवाह जारी है ? ज्योति जानती है कि अनन्त कुछ कहना चाहता है जो उस से कहते नहीं बन रहा, वह उस की इतनी गहरी अनुभूति है कि सचमुच निकलती ही नहीं, झूठ की आड मे ही आ सकती है, जैसे मिट्टी के नीचे रसोद्भव—ज्योति जानती

है, और बस जानती है, कैसे कहे कि कैसे···

ज्योति ने कहा, "नही, तुम बताओ मुझे, मेरे शिशु स्नेह !"

जाने क्यो, इस सम्बोधन का आग्रह अनन्त नहीं टाल सकता। वह कुछ सरक कर, ज्योति से कुछ विमुख हो कर, ताज की ओर देखते हुए ही कहने लगा, 'मैं सोच रहा था, यदि तुम इस समय साथ न होती, तो मैं यही सिर पटक कर समाप्त हो जाता—यहाँ दफनाये जाने के मोह के बिना भी। वैसी गारण्टी मुझे लगता है, अपने आत्मदान का अपमान करना है।"

"मैं साथ न होती, तब—यह कैसी बात ?"—ज्योति ने कुछ सम्भ्रान्त स्वर म कहा।

अनन्त चुप। फिर कुछ और भी विमुख हो कर, कुछ लज्जित-से और बहुत धीमे स्वर में वह बोला, "इस लिए कि तुम साथ हो, तब मेरा अपना अलग व्यक्तित्व इतना नहीं है कि मैं उसे लुटा सकूँ—इस ताज पर भी लुटा सकूँ—"

उस समय अधिक लोग वहाँ नही थे, लेकिन ज्योति को लगा, क्यो उन के अतिरिक्त एक भी व्यक्ति वहाँ है ? कोई न होता तब पर उस समय उस ने केवल अनन्त का हाथ दबा दिया था।

अनन्त का मन फिर भटकने लगा। तीन शब्द उस के मन मे घूम-घूम कर आने लगे—मृत्यु, प्रेम, अमरत्व। और धीरे धीरे, मानो चोरी से, एक शब्द और साथ आ कर मिल गया—निर्धनता।

लेकिन, निर्धनता क्यो ? क्या प्रेम को अमर बनाने के लिए धन की ही आवश्यकता है ? यदि है, तो क्या है वह प्रेम !

कवि भी तो हुए है, जिन्होने अमरता प्राप्त की है—क्या धन सम्पत्ति के ज़ोर से ? प्रेम के उन अमर गायको मे ऐसे भी तो थे, जिन को पेट-भर भोजन नही मिलता था। पेट-भर भोजन, हृदय-भर प्यार— ये अलग-अलग चीज़ें हैं।

अनन्त धीरे-धीरे तर्कना के क्षेत्र से परे जाने लगा—भावों की नदी में बहने लगा। और वैसे ही धीरे-धीरे उस के प्रश्न, उस के सन्देह, उस की आशकाएँ मिटने लगी, और उसपर छाने लगा अतिशय आत्मदान का आनन्दमय उन्माद—वह कवि हो गया—कविता उस मे से फूट पड़ने लगी।

उस ने जाना—जाना नही, अनुभव किया—कि उस का और ज्योति का प्यार इसी मे अमर है कि उन दोनो ने इस विराट् सौन्दर्य को, प्रेम के इस

अमर स्मारक को साथ देखा है।

और बिना चाहे ही उस के मन में प्रेरणा उठी, वह इस भावना को कविता में कह डाले, किसी तरह प्रकट कर दे, इतना विवशकर था उस का दबाव, पर वह कविता जी रहा है, तो कविता वह कह भी सकेगा, ऐसा तो नहीं है।

वह कहना चाहता था, मैं अनन्त नाम का एक क्षुद्र, साधनहीन व्यक्ति हूँ, कला मुझ में नहीं है, रस मुझ में नहीं है—आत्माभिव्यंजना का कोई साधन भी मेरे पास नहीं है, न मैं किसी साधन का उपयोग करना जानता हूँ—क्योंकि मैं अनन्त नाम का एक क्षुद्र व्यक्ति मात्र हूँ। पर— क्या यही मेरे लिए गौरव की बात नहीं है कि मैं कला में अपने को खो सकता हूँ, दूसरों के प्रेम में, दूसरों की साधना में निमग्न हो सकता हूँ—मेरे लिए, और हाँ, ज्योति, तुम्हारे लिए भी गौरव की बात···

क्योंकि, ज्योति, इस विराट् रचना के आगे, प्रेम के इस दिव्य स्मारक की छाया में, कन्धे से कन्धा मिलाये और अँगुलियाँ उलझाये बैठे हुए हम भी अमरता प्राप्त हुई है—हम, जो निर्धन हैं, साधनहीन हैं, किन्तु जो फिर भी दानी हैं, क्योंकि उन के पास साधना है। सामने हमारे सौन्दर्य है, जिस में हम तन्मय हैं, तब हम भी सौन्दर्य के स्रष्टा हैं, अमर हैं।

यह सब वह कहना चाहता था—पर कह नहीं पाया। एक पंक्ति उस के मन में आयी— 'प्रिये, यही है अचिर अमरता का क्षण', पर इस के बाद उस का मस्तिष्क जैसे सूना हो गया, और बार-बार 'यही है, यही है' की निरर्थक आवृत्ति करने लगा। उस ने जेब से कागज-पेंसिल निकाली, यह पंक्ति उस पर लिखी—शायद इस आशा में कि उस से मन कुछ आगे चले, पर नहीं··· यही है यही है, यही है···

ज्योति ने पूछा, 'क्या लिख रहे हो?''

अनन्त ने कागज फाड़ कर फेंक दिया और बोला, 'कुछ नहीं, इतना यथार्थ था कि कविता में नहीं आता।''

'क्या?''

'कि साथ के इस सौन्दर्य को एक साथ अनुभव करने में ही हम अमर हो गये हैं।''

ज्योति ने अपना सिर कोमलता से भरे स्पर्श से अनन्त के कंधे पर रख

दिया। उस के सूखे बालों की एक लट अनन्त के ओठों के कोनों को छू गयी। अनन्त ने जाना, उन में एक सुरभि है, जो उन की आत्यन्तिक है, और जिस की तुलना के लिए उसे कुछ सूझता नहीं।

ज्योति ने पूछा, 'वह मुमताज़ बेगम का प्रसाद तुम ने ठिकाने रखा है न—वह फूल, जो मैंने कब्र पर से उठा कर तुम्हें दिया था ?"

अनन्त ने धीरे से कहा, "उस से भी बड़ा प्रसाद है मेरे पास इस समय—" और सिर एक ओर झुका कर, ठोडी से ज्योति का सिर दबा लिया।

तभी ज्योति ने कहा, "और तुम्हारा फोटो ?"

अनन्त चौंक कर उछल पड़ा। कैमरे का शटर बन्द करते करते उसे लगा, एक बड़ा महत्त्वपूर्ण क्षण बीत गया है—उस के जीवन का एकमात्र क्षण।

कैमरा उठा कर उस ने कहा, "चलो, चलें।" उस के स्वर में गहरा विषाद था।

ज्योति ने कहा, "चलो।" और उठ खड़ी हुई।

कविता की वही पंक्ति 'प्रिये यही है, अचिर अमरता का क्षण' फिर अनन्त के मस्तिष्क में गूँज गयी, लेकिन अभी ही उसे लगा, जैसे उस का अर्थ नष्ट हो गया हो।

गृहत्याग

Let us rise up and part no one will know.
Let us go seaward as the great winds go.
Full of blown sand and foam . what
help is here ?
—स्विनबर्न

"कितने भोले थे हम —जो सच्चे दिल से इस शिक्षा को अपना कर सन्तुष्ट हो गये !" कह कर बूढे ने एक बहुत लम्बी साँस ली और उठ खडा हुआ। खडे हो कर एक बार उसने अपने चारो ओर देखा, फिर धीरे धीरे खिडकी के पास जा कर चौखट पर बैठ गया, और घुटने पर ठोडी टेक कर धीरे-धीरे कुछ गुनगुनाने लगा।

खिडकी के बाहर कोई बहुत सुन्दर दृश्य हो, यह बात नही थी। वह घर जिस की कोठरी में वृद्ध बैठा था, मद्रास नगर की एक बहुत छोटी, बहुत गन्दी गली म था, और उस कोठरी तक सूर्य का प्रकाश कभी नही आ पाता था···उस खिडकी के बाहर का दृश्य—एक तग गली, जिस के दोनो ओर नालियाँ बह रही थी, जिन मे छोटे-छोटे श्यामकाय बच्चे खेल रहे थे ··इस के ऊपर एक पकौडी की दुकान थी जिस म एक तेल के कडाहे के पास बैठी एक बुढिया धीरे-धीरे कुछ गा रही थी···कभी-कभी वह रुक कर कीच मे लथपथ लडको को धमकी देती थी, जिस से वे दूर भाग जाते थे और फिर नाली की कीच म कूद पडते थे···

बूढा इसी दृश्य को देख रहा था—या इसी दृश्य म किसी सुदूर प्रदेश की कल्पना किये बैठा था · और वह धीरे-धीरे गुन-गुनाता जाता था, मानो तेल से उठते हुए धुएँ से बातचीत कर रहा हो।

कमरे मे वृद्ध अकेला ही था—बहुत अकेला। इतना अधिक अकेला कि उसे अपने वहाँ होने का भी ज्ञान नहीं था—उस के मुख

से शब्द बिना आयास के या नियन्त्रण के निकलते जान पडते थे और ऐसा प्रतीत होता था कि वह स्वय उन्हे सुन नही रहा—न समझ ही रहा है

कितने भोले थे हम इतने बडे जीवन म हम एक इतनी बात भी नही जान पाये कि स्वत्व क्या है हमारे लिए वह एक सैद्धान्तिक चीज थी हम उस की परिभाषा कर सकते थे किन्तु हम ने उस का उपभोग कभी नही किया न हम उसकी कुछ अनुभूति ही है

कारखाने के निर्दय काय-श्रम स समय बचा कर हमने किताबें माग माग कर पढना शुरू किया तो क्या पढे ? वही हृदय को जलानेवाली शिक्षा—जिस के सिद्धान्त बचपन से ही हमारे वक्ष स्थल पर अमिट अक्षरा म खुद गये थे। हम जो जन्म के समय से वचित छलित विवस्त्र विवृत और विदग्ध थे पढ लिख कर भी यही सीखे कि सम्पत्तिहीन हो कर भी हमे शिकायत नही करनी चाहिए—क्योकि जिन अधिकारो से हम वचित रह गये वे व्यक्तिगत होने ही नही चाहिए वे समाज म ही अभिहित होने चाहिए अभी तक हम बाध्य हो कर निधन और वचित थे अब हम शिक्षा मिली कि इस दशा म रहना मनुष्य मात्र का कत्तव्य है !

बूढा कुछ देर तक रुक गया फिर एकाएक बोला कितने भोल थे हम !

इसी समय खिडकी के नीचे कुछ कोलाहल हुआ पकौडीवाली बुढिया का ककश स्वर सुन पडा फिर एक लडके के रोने की चीख

बुढिया ने मेरा खिलौना तोड दिया !

वद्ध एकाएक चौंका। उस ने खिडकी के बाहर झांक कर पुकारा आ बेटा मैं तुझे दूसरा खिलौना दूगा !

लेकिन वह लडका रोता हुआ भाग गया था।

बूढे की बात सुन कर पकौडीवाली बुढिया चिल्ला कर बोली अरे कौन है यह खिलौनावाला ? छोकरे को और बिगाड रहा है ! खिलौने दन चला है—पहले अपने मुह के दात तो गिन ले !

गली म खडे हुए सब लडके जो अब तक सशक दृष्टि से बुढिया की ओर देख रहे थे उस की इस बात पर खिलखिला कर हँस पडे।

वद्ध न उठ कर खिडकी बन्द कर दी और अधकार म एक बडी लम्बी सास ली।

फिर उस ने दियासलाई से एक बहुत छोटा-सा दीपक जलाया और एक ओर आले मे रख कर उस के सामने खडा हो गया। उस की ओर देखता हुआ बोला, "क्यो रे, कल भी तुझे जलानेवाला कोई होगा, या नही ?"

क्षण-भर वृद्ध ने अपने आप ही सिर हिलाया और "तुझ मे स्नेह नहीं है !" कह कर वहाँ से चला। एक कोने मे एक मिट्टी का घडा और पीतल का कमडल ले कर वह कोठरी से बाहर निकल पडा

सीढियाँ मे उतर कर वह एक छोटे-से आँगन मे पहुँचा। यहाँ पर नल के नीचे उस ने घडा रख दिया और स्वय पास के चबूतरे पर बैठ कर पानी की बहुत पतली धार की ओर देखने लगा।

घडे मे पडते हुए पानी की 'घहर घहर घर !' सुनते-सुनते उसे अपना तिरस्कार भूल गया और उस के मुख पर खिंचाव कुछ ढीला हो गया।

उस के विचारो की तरग फिर बहने लगी—"हम ने अपने घोर नारकीय गत जीवन का कुछ भी प्रतीकार नही किया, प्रतिवाद तक नही ! प्रबुद्ध हो कर भी हमने कोई चेष्टा नही की कि जिन वस्तुओं से हम सदा वचित रहे, उन्हे अब स्वय प्राप्त करें, या दूसरो को ही दिलायें···उलटे हम स्वय इसी सिद्धान्त का प्रचार करने लगे कि किसी व्यक्ति का किसी वस्तु पर कोई स्वत्वाधिकार नही है, सभी कुछ सघ और समाज का है ··

"किन्तु हमारा सिद्धान्त मिथ्या थोडे ही था ? हमारा मन कभी-कभी हमारी कठोर यन्त्रणा से निकल कर अदम्य और उद्दण्ड भाव से स्वत्व-कामना करने लगता है, एक स्वत्व विशेष का—लेकिन इस आन्तरिक प्रेरणा का प्रज्वलन विवेक-बुद्धि की शीतलता को मिथ्या सिद्ध नही करता···शायद वह प्रेरणा बिलकुल मरीचिका—"

बूढा फिर एकाएक रुक गया, क्योकि एक छोटी-सी, कोई सात-आठ वर्ष की बालिका, उस घडे के पास आ कर खडी हो गयी थी, और अपनी हथेली नल पर रख कर पानी इधर-उधर छिटका रही थी। बूढे ने उसे देख कर कहा "छोटी, घडा भर लेने दे। फिर मैं ही पानी उडा कर दिखाऊँगा।"

वह बालिका नल से हट कर बूढे के पास आ कर खडी हो गयी। बोली, "बूढे बाबा, तुम्हारा नाम ही गगाधर है ?"

"हाँ, क्यो ?"

"ऐसे ही। पिता कुछ बात कर रहे थे।"

वृद्ध ने बालिका का हाथ थामते हुए पूछा, "क्या ?"

बालिका उस के और पास चली आयी और बोली, "बाबा, तुम हमारा घर छोड कर चले जाओगे ?"

वृद्ध ने प्रश्न से समझ लिया कि बालिका गृहस्वामी की लडकी है। उस ने उस का नाम बहुत बार पुकारा जाता सुना था, किन्तु उसे देखा कभी नही था। उस ने कुछ देर चुप रह कर कहा, "हाँ, मुझे जाना ही पडेगा। कल चला जाऊँगा।"

"क्या गगाधर, तुम्हे हमारा घर अच्छा नही लगा ?"

वृद्ध ने एकाएक जवाब नही दिया। फिर टालते हुए बोला, "देखो, तुम्हारी शकल से तुम्हारा नाम बता सकता हूँ। तुम्हारा नाम कनकवल्ली है। —क्यो, ठीक है न ?"

बालिका हँस कर बोली, 'उँह, पिता से सुन लिया होगा।" फिर एकाएक गम्भीर हो कर कहने लगी, "तुमने बताया नही तुम्हे हमारा घर अच्छा नही लगता ?"

वृद्ध ने उदास हो कर कहा, "बहुत अच्छा लगता है।"

"नही, तुम मुँह बना कर कह रहे हो। तुम्हे अच्छा नही लगता।" बालिका ने कहा।

वृद्ध ने बालिका का मन रखने के लिए कहा, "नही, नही। मैंने मुँह इस लिए बनाया है कि मुझे यह घर छोड कर जाना पडेगा। मैं जाना नही चाहता।"

"तो फिर क्या जाते हो ? यही रहो न ?"

वृद्ध ने फिर थोडी देर चुप रह कर कहा, "कनक, मेरे पास किराया देने को पैसे नही हैं, इसी लिए जाना पडेगा।"

बालिका थोडी देर गम्भीर मुद्रा से उस की ओर देखती रही, फिर बोली, "तुम यही बैठे रहना, मैं अभी आती हूँ।"

"अच्छा।"

'कही जाना मत !" कह कर बालिका भाग गयी।

थोडी देर बाद वृद्ध ने देखा, वह लौटी आ रही है। उस की दोनो बाँहे

पर, पीठ पर, हाथों मे, सिर पर कई तरह के बाँस और लकडी के खिलौने लदे हुए थे। वृद्ध उस को देख कर मुस्कराने लगा।

वह पास आकर बोली, "ये देखो मेरे खिलौने !"

वृद्ध ने बहुत धीमे स्वर मे पूछा, "ये क्यों ले आयी ?"

बालिका ने कुछ अप्रतिम हो कर पूछा, "क्यों, तुम्हे अच्छे नही लगे ?"

वृद्ध बालिका को अपनी ओर खींचते हुए बोला, "कनक, ये खिलौने मेरे ही बनाये हुए हैं !"

कनक ने बडे विस्मय और अविश्वास के स्वर मे कहा, "सच ?" फिर आप ही आप बोली, "जानते हो, मैं ये सब क्यों लायी हूँ ?"

वृद्ध कुछ नही बोला, चुपचाप उस की ओर देखता रहा।

'इन्हें बेच डालो। फिर उन पैसों से घर का किराया दे देना।" कह कर कनक ने सब खिलौने गगाधर के पैरों मे डाल दिये।

गगाधर की आँखो मे आसू भर आये···उस ने भर्राई हुई आवाज़ मे कहा, "कनक, ये खिलौने उठा कर ले जाओ।"

कनक रुआँसी हो गयी और गगाधर के मुख की ओर देखती रही।

वृद्ध ने यह देख कर फिर स्नेह के स्वर में कहा, "कनक, ये रख आओ, फिर मैं तुम्हे एक चीज़ दिखाऊँगा। बडी अच्छी चीज है !"

कनक ने धीरे धीरे खिलौने उठाये और चली गयी। वृद्ध गगाधर उठा और घडे को हाथ कर कमडल भरने लगा। जब वह भर गया, तब वह दोनों को चबूतरे पर रख कर कनक की प्रतीक्षा करने लगा।

कनक आयी, तो आते ही बोली, 'क्या दिखाओगे ?"

गगाधर बोला, "मेरे साथ आओ।" और घडा तथा कमण्डल उठा कर अपने कमरे की ओर चला। कनक बोली, "कमडल मुझे दे दो, मैं ले चलती हूँ।" और वृद्ध से कमडल ले कर उस के पीछे-पीछे सीढियाँ चढने लगी। कभी उस के हाथ से पानी छलक जाता, तो हँस पडती।

गगाधर ने कमरे मे पहुँच कर घडा यथास्थान रख दिया। कनक ने कमडल भी उसके पास रख दिया।

गगाधर बोला, "आओ देखो।" वह कर दिया उठा कर कमरे के एक कोने में गया। सामने चादर से ढका हुआ एक बडा-सा ढेर था। उस ने चादर

उठा ली और फिर बोला, "यह देखो, कनक !"

कनक ने देखा, उस ढेर मे बाँस के और लकडी के पचासो खिलौने रखे हुए थे—हाथी, घोडे, बन्दर, हाथ-पैर हिलानेवाले आदमी, गाडियाँ, पक्षी··· वह थोडी देर के लिए स्तम्भित हो गयी। फिर बोली, "इतने खिलौने !"

गगाधर हँस पडा। बालिका ने पूछा, "तो फिर इन्हे क्यो नही बेच देते ?"

वृद्ध बोला, "आजकल लोग विदेशी खिलौने ही मोल लेते है, इन की बिक्री ही नही होनी। इसी लिए मैंने बनाना बन्द कर दिया है, और अब घर छोड रहा हूँ।"

"ये सब तुमने बनाये है ?"

"सब !"

"तुमने सीखा कहाँ ? मुझे भी सिखा दो ! कैसे अच्छे खिलौने है ?"

गगाधर उदास भाव से बोला, "हाँ, बुरे नही है।"

बालिका का मन किसी दिशा मे चला गया था ! उस ने पूछा, "गगाधर, तुम बहुत दिन से हमारे घर मे रहते थे ?"

"हाँ, मुझे पच्चीस साल हो गये है।"

"अरे, तब तो मैं थी ही नही। तब तुम्हे घर अच्छा लगता था ?

गगाधर उस के इस भोले अहकार पर हँस पडा।

"तुम तब स ही खिलौने बनाते थे ?"

"नही। पहले मैं लडको को पढाया करता था। फिर—"

"लडको को पढाने से तो यह काम अच्छा है न ? मैं तो यही करूँ।"

गगाधर ने एक लम्बी साँस ली और चुप हो गया।

"गगाधर, तुम तो रोने लगे ?"

"नही, मैं एक बात याद कर रहा था। सुनो, तुम्हें अपनी कहानी सुनाऊँ ! बहुत अजीब है, लेकिन तुम्हे सारी समझ नही आयेगी।"

"क्यो नही। माँ जब कहानी कहती है, तो मैं समझ लेती हूँ !"

बिना किसी प्रेरणा के दोनो फिर खिडकी के चौखटे पर बैठ गये और गगाधर खिडकी खोलते हुए बोला, "तो सुनो !"

गगाधर धीरे-धीरे, बिना बालिका की ओर देखे, अपनी कहानी कहने लगा। पच्चीस वर्षों मे उसे तमिल भाषा का बहुत ज्ञान हो गया था और लडकी

मे उस ने बात-चीत तमिल मे ही की थी । अब वह अपनी कहानी भी तमिल मे ही कह रहा था । किन्तु बीच मे कभी-कभी जब आवेश मे आ जाता, तब तमिल छोड कर एकाएक हिन्दी बोलने लगता था—और कितनी परिष्कृत, परिमार्जित हिन्दी ! फिर एकाएक चौंक कर पूछता, "कनक, तुम क्या समझी ?" और उसके एकाग्र भाव को देख कर हँस पडता था । इस के बाद कथाक्रम पुनः चल पडता ··

"मैं जब बहुत बच्चा था, तब कानपुर मे रहता था । वहाँ एक कारखाने मे मेरे पिता मजदूरी करते थे, और मैं जब आठ साल का हुआ, तब मुझे भी उसी कारखाने मे लगा दिया गया । मैं सुबह से शाम तक—दस-दस घंटे लगातार सूत के गोले बनाया करता था···घुमाते-घुमाते हाथ थक जाते थे, पेशियाँ जड हो जाती थी, पर फिर भी हाथ मशीन की तरह चलते जाते थे··· शाम को जब छुट्टी मिलती, तब मैं इतना थका हुआ होता था कि उठ कर घर भी नही जा सकता था । पिता आते और उठा कर ले जाते थे । वे खुद इतने थके होते थे कि मैं अपने को उन की गोद मे देख कर लज्जित हो जाता था··· पर करता क्या ?"

गगाधर ने कनक की ओर देखा । वह सहज सहानुभूति से बोली, "तो क्या दिन-भर मे खेलना नही मिलता था ? खिलौने—"

गगाधर एक विषाद-पूर्ण मुस्कराहट के साथ कहने लगा, "वह भी कहता हूँ, सुनती जाओ ।"

"हमे प्रात काल छह बजे ही काम पर चले जाना पडता था, इस लिए सवेरे तो कुछ खेलना मिलता ही नही था । शाम को छह बजे के करीब मैं घर पहुँचता, तो थोडी देर तो फटी हुई चटाई पर लेट रहता था । भूख लगती थी तो इतना भी नही होता था कि रो कर रोटी माँग लूँ—चुपचाप पडा हुआ गली हुई छत की ओर देखा करता था कि बरसात मे पानी से बचने के लिए कहाँ सोऊँगा···लेकिन जब सात बजने को होते थे, तब नीचे गली मे बहुत-से लडको का क्रीडा-रव सुन कर मुझ से नही रहा जाता था, अपने थके-माँदे शरीर को किसी प्रकार मैं गली मे ले जाता और उन लडको के खेलो मे अपने को भुला देने का प्रयत्न करता था···

"हमारे पास कोई खिलौने नही थे, कोई भी चीज ऐसी नहीं थी जिसे हम

अपना कह सकते। जब हमारा भाग्य बहुत ही अच्छा होता था, और आधे दिन की छुट्टी मिल जाती थी, तब हम सडकों के किनारे की घास मे लोट कर नदी के किनारे की रेत मे घर बना कर और आपस मे लड कर ही अपना मनोरजन कर लेते थे। और जब ऐसा सुयोग नही मिलता था, तब "सडको की धूल मे लोट कर, कूडे के ढेरो मे से सिगरेट की डिबिया निकाल कर, किताबो की दुकानो के बाहर से फटे-पुराने अखबारो के चित्रो का कलन कर के ही हम अपनी आत्मा की भूख मिटाया करते थे!"

वृद्ध ने एक बार कनक की ओर ध्यान से देखा और फिर कहने लगा, "और जो चीज सब को मिल जाती है, अपने आत्मीयो का प्रेम—मुझे वह भी नही मिला। पिता को काम से ही छुट्टी नही मिलती थी, और माता मुझे बोध होने के पहले ही मर गयी थी···कनक, तुम्हारे माता है न?"

कनक ने कहा "माँ मुझे बहुत प्यार करती है!"

गगाधर ने यह सुना या नही, इस मे सन्देह है। उस का ध्यान बहुत दूर कही चला गया था। वह तमिल को छोड कर हिन्दी मे ही गुनगुनाने लग गया था।

"शायद अपनी बाल्यकालीन स्थिति के कारण, अपनी शिक्षा के दोष—या गुण?—के कारण, मेरी दशा बाद मे ऐसी हो गयी 'सब स्वत्व का प्रचार करते-करते कभी मानो पैरो के तले से धरती खिसक जाती है, अपने सब तर्क भूल जाते है, अपना आत्म विश्वासजनित सन्तोष नष्ट हो जाता है ससार सूना हो जाता है—केवल एक विराट् आशका से, एक भैरव प्रशान्ति से, एक उद्भ्रान्त कामना से आकाश व्याप्त हो उठता है—जिन मनश्चेष्टाओ को हम अब तक छिपाते आ रहे है, वे एकाएक प्रलयकर वेग से सामने आती है, एक ही आकाक्षा—स्वप्नेच्छा—कि इस विशाल विश्व मे कम से कम एक वस्तु तो ऐसी हो जिस पर हमारा एकान्त स्वत्व हो, जिसे हम अपनी कह सकें" हमारे निरीह, निस्नेह, नीरव हृदयो मे कभी-कभी जो उथल-पुथल मच जाती है, कनक, तुम क्या समझी?"

कनक हँस कर बोली, "तुम बोल रहे थे, तो तुम्हारे मुँह पर दिये का प्रकाश बहुत काँपता मालूम होता था, मैं वही देख रही थी। अब कहानी नही सुनाओगे?"

"मैं क्या कह रहा था ? हाँ, कि हमारे पास खिलौने नहीं थे। जब मैं तेरह साल का हुआ, तब मेरे पिता मर गये। उस के बाद—"

कनक ने गंगाधर के घुटने पर हाथ रख कर कहा, "गंगाधर, तुम तो बहुत रोये होगे ?"

"नहीं, रोने को समय नहीं मिला। मेरे पास पैसे नहीं थे, पाँच आने रोजी मिलती थी। जब पिता मर गये तब मैंने वह काम छोड़ कर आदमी का काम शुरू किया। काम में हाथ-पैर टूटने लगते थे, पर पैसे ज्यादह मिलते थे—दस आने रोज। मेरी एक बहिन भी थी, मुझ से साल-भर छोटी। उसे भी अब कारखाने में काम करना पड़ा—उसे चार आने रोज मिलते थे। पर वह उसी साल हैजे में मर गयी, मैं अकेला रह गया।"

कनक ने क्षण-भर के लिए अपना चिबुक गंगाधर के घुटने पर रख दिया। वृद्ध फिर कहने लगा .

"मैंने फिर वह घर भी छोड़ दिया जिस में रहता था। उसके बाद कार-खाने के बाहर ही कहीं छप्पर में सो रहता था, और दिन-भर में पेट भरने के लिए दो आने भर खर्च करता था। बाकी पैसे बचा-बचा कर मैं एक शिल्प-शाला में भरती हुआ, और दो साल तक काम सीखता रहा। फिर मैंने मज-दूरी छोड़ दी और उसी स्कूल में नौकर हुआ। यहीं मैंने पढ़ाई की और बढ़ती भी पायी···इसी तरह मैं कालेज में भरती हुआ और मैंने बी० ए० भी पास कर लिया।"

'बी० ए० क्या, चौदहवीं जमात को ही कहते हैं न ?"

गंगाधर हँसा और बोला, 'हाँ।"

"मैं तो अभी दूसरी में ही पढ़ती हूँ।"

गंगाधर फिर हँसा और बोला, 'इस समय तक मेरे विचारों में बहुत बदली हो गयी थी। मैं अब अमीरों से डरता नहीं था, उन से घृणा करता था। मुझे विश्वास हो गया था कि अपने देश की सरकार से और अमीरों से लड़ाई किए बिना मुझ जैसे मजदूरों का कोई भला नहीं होगा। और मैं यह भी समझता था कि गरीबी का एक ही इलाज है कि सब पूँजी सब को दे दी जाय—सब जानती हो ?"

"नहीं।"

"मतलब यह था कि पूँजी पर, रुपये-पैसे पर, सब का बराबर-बराबर हक हो, एक आदमी दूसरे को भूखा मार कर अमीर न हो जाय। मैंने यह लड़ाई छेड़ने के लिए और भी आदमी इकट्ठे कर लिये, वे भी मेरी ही तरह विश्वास रखते थे और मेरी ही तरह गरीबी से उठे हुए थे।"

गंगाधर फिर हिन्दी में कहने लगा, "हमारी दीक्षा यही थी कि 'प्रत्येक को उस की पात्रता के अनुसार मिले।' हमारा प्रयत्न भी यही था कि हरेक को यथोचित दें और हमें इस बात का अभिमान था कि हम अपने अधिकार से अधिक कुछ नहीं माँगते। अब अपनी इस कारातुल्य कोठरी की छोटी परिधि में, एक नीरस और निरानन्द शान्ति में मुझे यह स्पष्ट दीख पड़ता है कि हम में एक बड़ी भारी त्रुटि थी—जीवन में एक स्थान पर आ कर हम इस सिद्धान्त को भूल जाते थे। इस स्थान पर हमारे लिए यह असह्य होता था कि हम किसी के भी द्वितीय हों—चाहे वह संसार का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति ही क्यों न हो। वहाँ पर हम सदा प्रथम होना चाहते हैं—या फिर होते ही नहीं—हमारा अस्तित्व ही मिट जाता है।" फिर एकाएक, तमिल में, "कनक, अगर तुम्हारे माता-पिता तुम्हें प्यार न करें, कोई भी न करे, तो तुम क्या करो?"

कनक ने प्रश्न पर विस्मित हो कर कहा, "क्यों न करें, मैंने कोई बुरा काम किया है?"

गंगाधर एक फीकी हँसी हँस कर बोला, "ठीक है। तुम्हारी कल्पना के बाहर की बात है।" फिर वह अपने अभ्यस्त साधारण स्वर में कहने लगा, "दो साल ऐसे ही बीत गये। फिर एक दिन एकाएक मेरे सब साथी पकड़े गये—पुलिस को मालूम हो चुका था कि हम क्या करना चाहते हैं, और हम में से किसी ने पता दिया था कि कौन-कौन आदमी हैं। अकेला मैं ही बचा रहा—और मैं भी एक स्थान पर नहीं रह सका, कभी बंगाल, कभी महाराष्ट्र, मैं सब जगह भागा फिरता था कि पुलिस मुझे भी न पकड़ ले। लेकिन कहीं कोई सहायक नहीं मिलता था, हर जगह झूठ बोल कर, धोखा दे कर ही मैं अपने-आप को रक्षित रख सकता था। बंगाल और महाराष्ट्र दोनों में ही मेरे सिद्धान्त के आदमी थे, पर वे मुझे जानते नहीं थे और बाहर के लोगों से डरते-बचते थे। अगर कभी कोई आश्रय भी दे देता था, तो वैसे जैसे किसी बाजारू कुत्ते को एक टुकड़ा डाल देता है।

"मैं बहुत दिनों से इसी बात का भूखा था जो मुझे नहीं मिलती थी। मैं ससार मे अलग हो कर रहना नहीं चाहता था—क्यों चाहता ? अपना स्थान जो मैंने इतने परिश्रम से प्राप्त किया था, क्यों छोड देता ? मैं उन मे से नहीं था जो वन्य फूल की तरह अज्ञात, अदृष्ट, नामहीन रह कर ही जीवन व्यतीत करने मे सन्तुष्ट होते हैं—मैं और कुछ चाहता था···मैंने बहुत-कुछ सहा था, स्नेह की कामना करते हुए भी उस के अभाव मे प्रसन्न था, घृणा का सामना किया था, पर यह उपेक्षा मैं नहीं सह सका ! मैं ससार का प्रतिद्वन्द्वी हो कर रह लेता, परित्यक्त हो कर नहीं रहा जाता था ! कनक, तुम सुन रही हो न ?"

"हाँ, सुनती हूँ। पर जल्दी-जल्दी कहो, नहीं तो पिता मारेंगे।"

"अच्छा ! सब ओर से धक्के खाते-खाते तग आ गया। पर हताश नहीं हुआ। मेरे लिए तिरस्कार नयी वस्तु नहीं थी—मेरी स्वाभाविक स्थिति ही यही थी कि मैं समाज की उपेक्षा का, घृणा का, तिरस्कार का पात्र रहूँ ! अगर कोई मुझ से स्नेह करता, तो वही अपवाद होता—अस्वाभाविक और अस्थायी और भ्रान्तिमय !

"मैंने फिर यही निश्चय किया कि किसी से कुछ आशा नहीं करूँगा, अपने कार्य्य के अतिरिक्त किसी से कोई सम्पर्क नहीं रखूँगा। इसी लिए मैं पागलों की तरह अपने-आप को अपने काम मे खो देने का प्रयत्न करने लगा। मैं रोज यह प्रार्थना किया करता कि कि मुझ मे इतनी शक्ति, इतनी दृढता हो कि मैं समाज की, मैत्री की, स्नेह की कमी और आवश्यकता का कभी अनुभव न करूँ, प्रत्युत उस की उपेक्षा करता हुआ, उस की ईर्ष्या का पात्र हो कर चला जाऊँ !

"पर यह बात भी नहीं हो सकी। मेरा काम भी तो ऐसा था कि नित्य ही लोगों से मिलना पडता, उन से आश्रय माँगना पडता, भिक्षा माँगनी पडती··· मैं स्नेह नहीं माँगता था, तो भी यह अपने-आप से नहीं छिप सकता था कि उस को पाने का अधिकारी हो कर भी मैं वचित हूँ।

"बहुत दिनों तक मैं भरसक प्रयत्न करता रहा, देखते हुए भी अन्धा बना रहा·· फिर एक दिन एकाएक मेरी सहनशीलता टूट गयी। किस कारण, यह नहीं कहूँगा। मैं एकाएक उठा, और जिस कोठरी मे सोया था, उस का किवाड

खोल कर बाहर निकल गया। बाहर वर्षा हो रही थी, उस की ठंडी बूँदों से मेरा दिमाग कुछ स्थिर हुआ तो मैं सोचने लगा, कहाँ जाऊँ ? ससार में ऐसा कोई नहीं था, जिस के पास जा कर मैं किसी अधिकारी से कह सकता, 'मुझे स्थान दो !"

कनक अपनी बडी-बडी आँखें वृद्ध पर गडा कर बोली, "क्यों, तुम्हारे कोई सखा नहीं थे ?"

"मेरे सखा ? मेरे मित्र ? कनक, गरीब का दुनिया म कोई सखा नहीं होता…"

गगाधर क्षण-भर के लिए चुप हो गया, फिर कहने लगा, "पहले तो मेरे जी मे आया, इन सबो को चिढाऊँ, गाली दूँ, मारूँ, इन सब का गला घोट डालूँ, ताकि अगर वे मेरे प्रति स्नेह नहीं कर सकते तो मुझ स शत्रुता ही करें, इस प्रकार स्तिमित हो कर न रह जायें ! फिर उसी वक्त मैंने अनुभव किया, यह केवल जी की जलन है, इस के आगे झुकना नीचता होगी। इस लिए मैंने अपने-आप को उस पुराने ससार से अलग कर देने का निश्चय कर लिया। सुन रही हो न, कनक ?"

"हाँ, हाँ, फिर क्या हुआ ?"

"फिर मैं यहाँ चला आया। इस बात को आज पच्चीस साल हो गय है ! मेरा असली नाम अनन्त था, पर यहाँ आ कर मैंने अपना नाम गगाधर रखा, और खिलौने बना कर बेचने लगा। पहले मेरे खिलौने बहुत चलते थे, पर अब धीरे धीरे उन की कद्र घट गयी है। अब तो जिधर देखो, विलायती मोटर-गाडियो, हवाई जहाजो और गुडियो की धूम है। इसी लिए मेरा यह हाल हो गया है !"

"पर मेरे पास तो ऐसे ही खिलौने है !"

गगाधर ने एक लम्बी साँस ले कर कहा, "हर एक लडकी कनकवल्ली तो नहीं होती !"

कनक इस सीधी सादी प्रशसा से प्रसन्न हो गयी। बोली, "अगर मुझे पहले मालूम होता तो मैं और खिलौने भी ले लेती।"

वृद्ध हँस पडा। फिर कहने लगा, "अब कहानी समाप्त करता हूँ, तुम घर चली जाना। अब मेरी यह दशा हो गई है कि मै इस घर का किराया भी नहीं

दे सकता। इसी लिए अब छोड कर जा रहा हूँ।"

"कहाँ जाओगे?"

"पता नही।"

"क्या करोगे?"

"पता नही।"

"फिर वापस आओगे?"

"पता नही।"

बालिका हँसने लगी। बोली, "कुछ पता भी है?"

गगाधर फिर हिन्दी मे बातें करने लगा। "चला तो जाऊँगा, पर वह भूख कहाँ मिटेगी? अब मैं बूढा हो गया, अब बदलना मेरे लिए सम्भव नहीं है। और फिर मेरी भूख तो नयी नही है, लाखों वर्षों की संस्कृति और मनश्चालन में उत्पन्न एक प्रवृत्ति है। पृथ्वी पर मनुष्य का आविर्भाव हुए करोडों वर्ष हो गये, और इन करोडों वर्षों से बिना किसी बाधा के हमारे हृदयों मे स्वकीयत्व का भाव जाग्रत् रखा गया है। और उससे भी पूर्व जब हमारे पुरखों ने अभी मनुष्यत्व नही प्राप्त किया था, तब भी यह स्वत्व-भाव पशुओं में था। इन असंख्य वर्षों से जो भाव हमारे मन मे घर किये है, जिस की रूढि असंख्य वर्षों से हमारे मन को बाँधे हुए है, उसे विवेक के एक क्षण मे, एक दिन में, एक वर्ष मे—एक समूचे जीवन से भी समूल उखाड फेंकना हमारे लिए सम्भव नही है। विवेक द्वारा स्वत्व-भाव को दबा कर भी हम इन अस्फुट आकांक्षा के विद्रोह को नही दबा सकते…"

बालिका इतनी देर से चुप बैठी थी। अब बोली, "गंगाधर!"

"क्या है, मनर? मेरी बात नही समझी? मैं बीच-बीच मे अपनी भाषा बोलने लग जाता हूँ।"

"एक बात कहूँ—मानोगे?"

"कहो?"

"हमारा घर छोड कर मत जाओ।"

"क्यों? और फिर रहूँ कैसे?"

"मैं पिताजी से कहूँगी, वे किराया कम कर दें, या न ही लें। तुम खिलौने बनाना और बेचा करना। मैं भी मदद करूँगी। बोलो, रहोगे न?"

गगाधर उस के इस आग्रह का सहमा कोई उत्तर न दे सका। उस ने मुँह खिडकी से बाहर कर लिया, ताकि कनक उस की आँखो के आँसू न देख सके।

बहुत देर तक दोनो ऐसे ही चुप बैठे रहे।

फिर गगाधर बोला, "कनक, तुमने आज से पहले मुझे क्यो नही कहा? तब शायद ··"

"आज से पहले मुझे कभी इधर आना ही नहीं मिला। आज जब पिताजी ने कहा कि कि तुम चले जाओगे, तब मैं तुम्हे देखने चली आयी थी।"

"तुम मुझे क्यो रहने को कहती हो?"

"मुझे तुम्हारे खिलौने, और तुम्हारी कहानियाँ, और तुम बहुत अच्छे लगते हो।"

वृद्ध एक लम्बी साँस ले कर चुप रहा। थोडी देर बाद कनक ने फिर पूछा, "गगाधर, रहोगे न?" कह कर वह अपना कपोल धीरे-धीरे वृद्ध के घुटने पर मलने लगी।

गगाधर का हृदय द्रवित हो गया। वह बोला, "कनक, पता नही, अब रह सकूँगा कि नही···पर तुम इतना कहती हो, तो यत्न करूँगा · "

"नही, ऐसे नही। वायदा करो, नही जाओगे।"

वृद्ध चुप रहा। कनक फिर बोली, "मेरी बात नही मानोगे? कह दो, नही जाओगे!"

"अच्छा, जैसे तुम कहो।"

"नही, कहो, वायदा करता हूँ, नही जाऊँगा।"

"अच्छा, वायदा करता हूँ, नही जाऊँगा। लो, अब तुम दौड कर घर चली जाओ, बहुत देर हो गयी है।"

"अच्छा, कल फिर आऊँगी। तुम जाना मत।" कह कर बालिका भाग गयी।

गगाधर खिडकी की चौखट पर सिर रख कर बैठ गया, उस का दुबला शरीर अन्तर्दाह से हिलने लगा। इसी समय उस ने दूर पर एक स्त्री का क्रुद्ध स्वर सुना, "क्यों री, चुडैल, कहाँ गयी थी?" और उस के बाद ही कनक के रोने की आवाज···

वह एकाएक उठ कर दीपक के पास आ कर खडा हो गया। बोला, "मैं

किस विडम्बना मे अपने-आप को भुला रहा हूँ। पचास वर्ष तक जो नही मिल सका, उस के मोह मे आज भी पागल हो रहा हूँ! और आज भी, वह कहाँ मिला है? एक बच्चे का अस्थायी चापल्य·· अगर कल वह चली गयी, या विमुख हो गयी, या भूल ही गयी, तो? गगाधर, तुम पागल हो गये हो। तुम्हारे हृदय मे, तुम्हारी नस-नस मे, जो जीवन की तीक्ष्णता नाच रही है, उस को तुम एक सामान्य और क्षण-भगुर आनन्द मे कैसे भुला दोगे? तुम्हे चाहिए कि एक अशान्तिमय उपद्रव—या कुछ नही! हटाओ इस मोह जाल को!"

गगाधर ने एक बहुत लम्बी साँस ले कर चारो ओर देखा, फिर एक कागज के टुकड़े पर पेंसिल से तमिल अक्षरो मे लिखा, "मेरे सब खिलौने कनकवल्ली के लिए हैं," और उस खिलौना के ढेर पर रख दिया। फिर किवाड से बाहर एक बार सीढियो की ओर झाँक कर देखा, फिर वापस आ कर दिये के सामने खडा हो गया।

गगाधर एक क्षण दिये की ओर देखता रहा, फिर फूँक से उसे भी बुझा कर टूटे हुए स्वर मे बोला, "अब आगे अँधेरा है, अनन्त!"

दुःख और तितलियाँ



शेखर उस पहाड़ी रास्ते से उतरता हुआ चला जा रहा था। उस के कदम अपनी अभ्यस्त साधारण गति से पड रहे थे, वह किसी प्रकार की जल्दी नही कर रहा था। क्योंकि यद्यपि वह अपने मन मे उसे स्वीकार नही कर रहा था, तथापि उस के बहुत भीतर कही, उस की आत्मा के छिपे-से-छिपे स्तर मे लिपटी हुई कही, इस बात की पूर्ण अनुभूति थी कि वह व्यर्थ जा रहा है, कि उस की माँ तो मर चुकी है कि अब डाक्टर आ कर कुछ नही कर सकता---सिवाय इस के कि एक क्रिया को, जो पूर्ण हो चुकी है, अपने विशेष ज्ञान द्वारा एक और पूर्णता, एक अन्तिमत्व दे दे, एक विशिष्ट महत्त्व, जिसे जान कर वे सब—शेखर, शेखर के पिता, शेखर के भाई—रो पडें।

और वह सोच रहा था हमारे सुन्दर घर की इकाई छिन्न भिन्न हो कर नष्ट हो जायगी—क्यो ? उस का अवश मन भाग-भाग जाता था भूत की ओर—उस के भाई-बहिनो के बाल्यकाल की ओर, बहुत पूर्व आबाद किये हुए घरो और स्थानो की ओर, पुराने मकानो की ओर, पुराने फर्नीचर की ओर, भूले हुए चित्रो की ओर और वह इन सब विचारो से लदा हुआ भी, बिना किसी प्रकार की व्यस्तता या जल्दी के, अपनी अभ्यस्त साधारण गति से चला जा रहा था उस पहाड़ी रास्ते से उतरता हुआ

एकाएक वह रास्ते के मध्य म रुक कर खडा हो गया, और एक तीखे फुसफुसाते स्वर म बोला, ' वह मर गई है '' फिर दो-चार कदम चला और फिर रुक गया।

कौन मर गयी है ?

माँ। माँ मर गयी है। माँ मर गयी है·

मर गयी है। क्या अभिप्राय है इस का—मर गयी है ?

कोई अभिप्राय नही है। कोई अर्थ नही है। कुछ नही है।

कुछ परवाह नहीं है···
और शेखर फिर उसी गति से चल पड़ा।

पता नहीं, उस ने डाक्टर से क्या कहा। या कैसे कहा। पर कुछ कहा ज़रूर, क्योंकि डाक्टर ने अमोनिया, ब्राडी, इंजेक्शन के लिए एड्रिनलिन और अन्य दवाइयाँ, जो हार्ट-फ़ेल्यर में दी जाती है, निकाल कर उसे दे कर और इंजेक्शन की पिचकारी अपनी जेब में रखते हुए पूछा था, 'कितनी दूर है?' और उस का उत्तर, 'तीन मील है—और चढ़ाई में,' सुन कर कहा था, 'देर हो जायगी—यहाँ पहाड़ों में यही तो मुश्किल है।'

वे दोनों उसी रास्ते पर वापस चढ़े जा रहे थे। शेखर की अभ्यस्त गति से भी धीरे, क्योंकि वयस्क डाक्टर धीरे चलता था।

शेखर की डाक्टर से जितनी बात चलने से पहले हो गयी थी, उतनी ही हो कर रह गयी थी, उस से अधिक कुछ नहीं हुई। वे बिलकुल चुपचाप चढ़े जा रहे थे। और किसी समय ऐसे जाना अशिष्टता होती, किन्तु इस समय चुप रहने के लिए यही कारण पर्याप्त था कि चढ़ाई में साँस फूल जाती है, बोलना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है।

पर शेखर बोल नहीं रहा था, इस लिए सोच भी नहीं रहा हो, यह बात नहीं थी। वह सदा की अपेक्षा अधिक एकाग्रता से सोच रहा था, जिस घटना ने उसे विभिन्न विषयों पर विचार करने में असमर्थ कर दिया था, वही उसे एक विषय-विशेष पर अपनी सारी शक्ति लगा कर अत्यन्त उग्र-अनुभूतिपूर्ण विचार करने को बाध्य कर रही थी।

वह सोच रहा था, वह घटना कैसे हुई—पहले-पहल उसे उस का क्या संकेत मिला···

उसे याद आया, वह अपने कमरे में बैठा एक पत्र पढ़ रहा था—अपनी विधवा बहिन का पत्र, जो उसी समय आया था। उसे वह वाक्य भी याद आया, जिसे पढ़ते-पढ़ते उस ने अपने पिता की अत्यन्त करुण और विवश करने वाली पुकार सुनी थी—"शेखर, देख तो!" वह वाक्य पता नहीं क्यों, उस की बहिन ने उसी पत्र में लिखा था, पता नहीं क्यों, वह पत्र उसी समय आया था;

पता नहीं क्यों, यह उस समय वही वाक्य पढ रहा था जो अब इतना अभि-प्राय पूर्ण हो गया है···

'हमारे यहां में एक परम्परा है कि हम में बहिनें प्राय निस्सन्तान होती थीं, और इस लिए अपने छोटे भाइयों को गोद ले लेती थीं। और मैं सोचती हूँ कि बहिन जब माँ बनती है, तब माँ से कितनी अधिक हो जाती है···'

क्यों नहीं उसे उसी समय ध्यान आया था कि—कि अब कौन बनेगी उस की माँ! वह दौड़ा हुआ उस कमरे में गया था जहाँ उस की माँ कई दिनों से शय्याग्रस्त पड़ी थी, और जहाँ उस समय उस के पिता एक विचित्र मुद्रा से अपने सामने पड़े हुए एक क्षीण, मुरझाये हुए और किसी अवाक् पीड़ा से इधर-उधर सिर पटकते हुए प्रौढ़ शरीर को देख रहे थे···शेखर के पहुँचते ही उन्होंने एक प्रश्न-भरी दृष्टि से उस की ओर देखा। शेखर उस का उत्तर नहीं दे सका। उस ने नाड़ी की गति देखी। श्वास की गति देखी। आँखों की पलकें उठा कर देखा। चुप रहा।

पिता ने पूछा, 'क्या हुआ है ?"

विवश कुछ कहना ही पड़ा, 'कोलैप्स है।"

"फिर ?"

उत्तर में शेखर ने ब्राडी की बोतल उठायी, थोड़ी-सी एक काँच के गिलास मे डाली और हाथ से मुँह खोल कर उस मे डाल दी।

वह गले से उतरी नहीं, एक निरर्थक-सी धारा में ओठों से बह गयी।

एकाएक माँ ने फिर आँखें खोलीं। गर्दन फेर कर पति की ओर देखने की चेष्टा करने लगी। गर्दन अधिक नहीं घूमी, तो आँखें फिरा कर पति के मुख की ओर देखने लगी!—स्थिर अपलक और किस उग्र अभिप्राय-भरी दृष्टि से!

पिता ने टूटती-सी आवाज़ में पूछा—"क्या, कहो, क्या होता है ?"

शरीर वैसा ही स्थिर, किन्तु एक जड़ता लिये हुए। आँखें उधर ही उन्मुख, अपलक। पर अब चिर अपलक! उस अभिप्राय से शून्य!

शेखर ने दबे-पाँव बढ़ कर पास पड़ी टार्च उठायी, आँखों में उस का प्रकाश छोड़ कर पुतली देखी। वह भी शून्य। रिक्त।

ये सब घटनाएँ, सब दृश्य एक एक कर के शेखर के आगे से हो गये—ऐसे, जैसे उस के सामने के पथ पर ही, किसी दीप्त रंगराशि से वे चित्रवत् खींच दिये

गये हो···

डाक्टर ने पूछा, "उन की आयु कितनी है ?"

"कोई पचास।"

"हूँ।"

चुप।

शेखर फिर वही पहुँच गया। उस के पिता ने पूछा था, "क्या—" और चुप रह गये थे। और वह किस मुख से उत्तर देता कि क्या···

पिता ने मुँह फेर लिया। शेखर ने जल्दी से हाथ बढ़ा कर माँ की पलकें दाब कर बन्द कर दीं; किन्तु वे फिर खुल गयीं—पहले-सी नहीं, अधखुली रह गयीं।

शेखर ने पूछा, "डाक्टर को बुला लाऊँ ?"

"अच्छा।"

जिस प्रकार प्रश्न में आशा या निराशा कुछ भी व्यक्त नहीं की गयी थी, उसी प्रकार उत्तर भी पूर्ण संवेदन-शून्य वाणी से दिया गया था। इतनी शून्य कि शेखर सोचने लगा, "क्या ये भी जान गये हैं और मुझ से छिपाना चाहते हैं, या अभी अनभिज्ञ हैं···"

वह उस कमरे से निकला, तो किसी आशंकित भाव से नहीं; उस ने कोई इंगित नहीं दिया कि—क्या हो गया है। केवल उस साधारण शीघ्रता से जिस से डाक्टर को बुलाने जाना चाहिए···

जब शेखर अपने पुकारे जाने से ले कर डाक्टर को बुलाने के लिए निकल पड़ने तक सब घटनाओं को देख चुका, तब उस का मन कुछ क्षण के लिए रुक गया। वह बिल्कुल शून्य दृष्टि से पथ की ओर देखता हुआ चलता रहा।

उस दिन सवेरे वर्षा दो दिन के बाद थमी थी। शेखर ने देखा, पथ पर अनेकों पिलें, अपनी पीठ पर अपनी ऐहिक सम्पत्ति, अपना घोंघा घर लादे हुए अपनी लेसदार मूँछों से पथ टटोलती हुई मन्थर-गति से चली जा रही हैं, जब शेखर गया था, तब भी वे ऐसे ही चली जा रही थीं; किन्तु तब कोई उन की छाप शेखर के मन पर नहीं बैठी थी। अब इन्हें देख कर उसे याद आया, वह तब भी इन्हें देख गया था।

चलते-चलते शेखर ने देखा, एक पिल डाक्टर के पैर के नीचे आ कर

पुचल गयी है—डाक्टर सामने देखता हुआ चल रहा था और शेखर भूमि की ओर। तब शेखर ने यह भी देखा, पथ में अनेक स्थलों पर वैसी अनेक दुर्घटनाएँ हो चुकी हैं, अनेक स्थलों पर एक घिनौनी कीच-सी पड़ी है, जो थोड़ी ही देर पहले एक प्राणी थी—एक प्राणी ही नहीं, एक समूची गृहस्थी, क्योंकि उन का घोघा-रूपी घर भी तो पीठ पर ही लदा होता है!

शेखर फिर एकाएक रुक गया। उसे ऐसा लगा कि वह कुछ सोचने के लिए रुका है, एक विचार उस के मन में उठने ही वाला है। किन्तु वह उठा नहीं। शेखर ने अपने-आप से पूछा, 'क्या सोचने लगे थे?' और उत्तर न पा कर, अपने ही पर एक नीरस हँसी हँस कर, वह फिर चल पड़ा।

और चलते-चलते उसे विचार आया, हम व्यर्थ ही मृत्यु को इतना तूल देते हैं ·

2

पर घर से कुछ दूर पहुँच कर ही उसे जान पड़ा, वह भूल है। मृत्यु में एक भयकर यत्परोनास्तित्व है, जो क्षुद्र हो ही नहीं सकता, जो एक व्यक्ति के जीवन से सम्बद्ध हो कर भी व्यापक रूप से सर्वत्र छायी है। उसे लगा, घर के वातावरण में ही कुछ बदल गया है, एक भीमकाय, दैत्य सा आकार, झूम-झूम कर फुकार कर रहा है, किन्तु वह फुकार है शीतल और बिल्कुल शब्दहीन, और इस लिए और भी भयकर!

क्या यह व्यक्ति सवेदना से उत्पन्न एक भावना-मात्र है? उस के दुख-जनित मोह की परछाईं। किन्तु वह तो इस घटना को बिल्कुल असम्पृक्त दृष्टि से देख रहा है उसे तो यह जान ही नहीं पड़ता कि वह किसी प्रकार की पीड़ा का अनुभव कर रहा है! वह तो मानो सम्पूर्णतया असलग्न, निरीह हो कर इस की आलोचना कर रहा है।

उस ने दबे पाँव भीतर प्रवेश किया।

आँगन में कोई नहीं था।

पहले कमरे में भी कोई नहीं था।

कहीं कोई दीख भी नहीं पड़ता था।

शेखर ने चाहा, किसी को पुकारूँ, ताकि सूचना हो जाय कि डाक्टर

साहब आ गये है; पर उस से पुकारा नहीं गया।

तीसरे कमरे म शेखर का भाई खडा था; पर उस ने शेखर से आँख नहीं मिलायी, हिला भी नही।

शेखर और डाक्टर 'उस' के साथ वाले कमरे में पहुँचे। वहाँ पिता खडे थे। देखत ही उन्होंने अंग्रेज़ी मे कहा, "यू आर टू लेट! (आप बहुत देर मे आये है।)"

उस नीरस वाणी को सुन कर शेखर के मन मे भाव उठा कि उस के पिता अंग्रेज़ी इस लिए बोलते हैं कि एक विदेशी भाषा मे अपने को छिपा लेना अधिक सहल है। अपनी भाषा का अपनापन हमें अपना हृदय खोल देने को खामखाह विवश कर देता है। और साथ ही उसे विस्मय भी हुआ कि वह कैसे इस समय भी ऐसी बातें सोच सकता है।

पिता के मूक संकेत की अनुमति से डाक्टर उस कमरे की ओर बढ़ा—शेखर पीछे पीछे। वहाँ 'वह', जो शेखर की माँ थी, एक रज़ाई से पूर्णतया ढँपी हुई पडी थी। डाक्टर ने मुँह पर से रज़ाई हटाई और तुरन्त फिर ज्यों-की-त्यों कर दी।

पिता दूर ही से देख रहे थे। बोले, "हूँ…"

थोडी देर एक बोझल-सा मौन रहा। फिर डाक्टर ने कहा, "कारण हार्ट-फेल्यर ही रहा होगा। तपेदिक था तो—"

पिता ने कहा, "नही, तपेदिक नही था—"

डाक्टर ने शेखर की ओर इशारा करते हुए कहा, "मुझ से यह कह रहे थे—"

"नही, पहले वह ख्याल था, किन्तु बाद का डायग्नोसिस (निदान) उस के विरुद्ध था।" फिर एकाएक बिखरते हुए-से स्वर मे, "पर इस से अब क्या—मृत्यु मृत्यु है।"

थोडी देर फिर स्तब्धता। शेखर ने चुपचाप दवाइयाँ इत्यादि डाक्टर को दे दी। डाक्टर ने शेखर के पिता की ओर देखते हुए, कुछ झिझकते हुए कहा, "मैं अत्यन्त दुःखी हूँ। आप—" और चुप रह गया। क्षण-भर बाद वह चला गया। फीस उस ने नही ली।

शेखर उसे दरवाज़े तक छोड कर लौटा, तो जिस कमरे मे पिता बैठे थे,

उस के दरवाज़े पर आ कर खड़ा रहा। बहुत देर खड़ा रहा। तब एकाएक बिना उस की ओर देख कर बोले, "खड़े क्यों हो,जाओ, कुछ करो।" फिर कुछ कठोर, कुछ चिड़चिड़े-से स्वर में, "अब क्या फायदा है। अब लौट कर थोड़े ही आयेगी। वह तो गयी अब। वह तो मर गयी। अब क्या। वह तो मर गयी···" और दृढ़, ललकार भरी-सी चाँप से, मानो पृथ्वी को दबाते हुए, ऊपर जाने के लिए सीढ़ियाँ चढ़ने लगे।

और पिता के वाक्यों में 'मर' शब्द पर दिया हुआ ज़ोर बार-बार उस के मन में गूँजने लगा। मानो उस के हतसंज्ञ मस्तिष्क पर मृत्यु की अगाध, अच्छेद्य अनिमत्ता की छाप बिठा देने का व्यर्थ प्रयत्न करता हुआ।

3

घाटी पर उतर कर, उस की तलहटी के छोर पर ही, एक छोटा-सा पत्थरों से चुना हुआ चबूतरा। ऊपर छिड़का हुआ पानी। उस से ऊपर लकड़ी में चुना हुआ एक और चौकोर स्तूप, जिस में लकड़ी के भीतर से लाल और श्वेत वस्त्रों की झाँकी मिल जाती है। पास में पड़ा हुआ मटका-भर पानी, और एक बड़े-से थाल से हवन-सामग्री।

कुछ दूर पर शेखर के पिता, भाई और कई-एक लोग। दूसरी ओर शेखर अकेला।

उस के बाद एक तन्द्रा। एक गतिमान तन्द्रा, जिस में कोई भी निश्चल नहीं बैठता, सभी कुछ-न-कुछ करते जाते हैं; पर कोई जानता नहीं कि क्या हो रहा है।

केवल जब चिता जलने लगी, तब मन्त्रोच्चार के साथ-साथ एक लम्बे हत्थेवाले स्रुवा से उस में घी की आहुति डालते हुए शेखर को याद आया, जब चिता चुनी जा रही थी, सारा शरीर ढका जा चुका था, केवल मुख ढकना बाकी रह गया था, तब उस के पिता ने आ कर एकाएक कहा था, "एक फोटो ले लेते—" पर सब ओर से मौन पा कर, स्वयं भी कुछ देर मौन रह कर प्रश्न-सूचक आवाज़ में कह दिया था, "क्या करना है···" तब शेखर ने दबे स्वर में कहा था, "क्या करना है ··" यद्यपि स्वयं उस के मन में भी यह बात उठी थी कि फोटो ले लेना चाहिए। तब पिता ने धीरे से एक लज्जित-सी हँसी हँस

कर—मानो अपनी कोई कमज़ोरी प्रकट करते हुए लज्जित हो पर रह भी न सकते हो—कहा था, 'मुख तो देखूँगा जरूर …'

पता नहीं, वह कैसे क्यों हुआ कि बहुत कोशिश करने पर भी कपड़ा नहीं हट सका। ऊपर जो सूत्र लपेटा गया था, वह खोला गया, पर कपड़ा कहीं लकड़ी में अटक गया था, नहीं छूटा, नहीं छूटा। पिता ने फिर एक हँसी—किस किस कुछ को 'हँसी' कहा जा सकता है!—हँस कर उसे छोड़ दिया और पीछे हट गये।

शेखर सोचने लगा कि उस समय उन के मन पर क्या बीती होगी। पर क्यों? उस के अपने मन पर उस घटना का क्या प्रभाव हुआ था? कुछ नहीं, उस समय तो प्रभाव के लिए अवकाश कहाँ था, प्रभाव तो बाद में होगा, जब उस सब कुछ की तात्कालिक उग्रता कम हो जायगी, जब वह जड़ बनाने वाली न रह कर केवल रुलानेवाली रह जायेगी…

शेखर को पता नहीं था कि उस के हाथ उस लम्बे स्रुवा को उठाये-उठाये थक गये हैं, पर तभी उस के भाई ने वह उस के हाथ से ले लिया। शेखर घाटी के उतार पर ही बैठ गया, और अपलक-नयन चिता की ओर देखने लगा।

उन लपलपाती जिह्वाओं में, उन असंख्य रक्त-मुकुरों में, उसे माँ की साधारण सौम्य मूर्ति का प्रतिबिम्ब नहीं दीखा। दीखे भूत के चित्र, वार्तालाप, भाव, जो थोड़ी देर में एक भयंकर स्मृति में परिणत हो गये—एक स्मृति जो साकार उस के आगे नाचने लगी और हटाये नहीं हटी…

वह दृष्टि—माँ उस अन्तिम क्षण में पिता की ओर देख रही…क्यों? क्या कहने को? उस अन्तिम एक क्षण में, ऐसी कौन-सी बात उसे याद आ गयी थी जो वह अपने तीस वर्ष के वैवाहिक जीवन में नहीं कह चुकी थी, जिस का इसी समय कह डालना इतना महत्त्वपूर्ण हो गया था—मृत्यु के अन्तिम, अमोघ आघात से भी अधिक महत्त्वपूर्ण? क्या यही मात्र कहना चाहती थी कि वह आघात अन्तिम है, अमोघ है, कि अब…

अब क्या?

शेखर भूल गया कि वह किस भाँति इस वाक्य को पूरा करना चाहता था। वह उसी दृश्य में खो गया, उसी समय की विचार-मालाएँ फिर उस के मन में भर गयीं। उसे याद आया, उसी समय उस दृष्टि को देख कर उस के मन में

एक तूफान-सा उठा था—विचार आये थे लहरों की तरह, एक के ऊपर एक किसी एक ही गति से प्रेरित किन्तु परस्पर-असम्बद्ध। उस ने मन-ही-मन म किन्तु खिंचे हुए स्वर म, कहा था—

'माँ, माँ, तुम्हारी दृष्टि क्या मेरे लिए नहीं है? किसी और के लिए नहीं? किसी वस्तु के लिए नहीं? केवल-मात्र उसी के लिए वह अचल, शब्दहीन सन्देश···? ओफ, वह इस सन्देश को भस्म कर देने वाली तीक्ष्णता के आगे झुक क्या नहीं जाता, नष्ट-भ्रष्ट, क्षार क्यों नहीं हो जाता! कहता जाता है, 'पथरायी जा रही हैं—पथराती हैं—यह क्या हो रहा है '

वह क्रोध था या और कुछ, जिस से अभिभूत हो कर शेखर ने ज़ोर से अपना मुँह बन्द कर लिया था ताकि ओठों पर आये हुए शब्द न निकल जायें?—

'मूढ़ सुनो, वे क्या कहती है सुनो, यह शिकायत फिर भी हो सकेगी—बाद म, अभी उन का सन्देश मत खोओ "

तब फिर, रिक्त! तब वह खिंचाव नष्ट हो गया था और वह डाक्टर के पास जाने की तैयारी करते हुए एक शान्त भाव से सोचने लगा था, माँ को सम्बोधित करके कहने लगा था "माँ, अब निर्जीव शरीर-मात्र, उस एक दृष्टि म तुमने सब-कुछ कह दिया है, तुमने अपना जीवन समाप्त किया है एक अन्तिम दिव्य सौन्दर्यमयी मुद्रा म! तुम माँ रही हो, तुम्हारा जीवन अपनी सन्तान मे और गृहस्थी की सैकड़ों हज़ारों छोटी छोटी उलझनों मे फँसा रहा है, किन्तु तुम्हारी प्रकृति के घोरतम तल म कुछ था, जो माँ नहीं, स्त्री था, जो उस का था, उस का रहा और अब सदा के लिए रहेगा मृत्यु क्या है? पारलौकिक जीवन क्या है? स्मृतियाँ श्रुतियाँ क्या है? ईश्वर क्या है? मान लिया कि तुम मर गयी, सम्पूर्णतया नष्ट, बिलकुल लुप्त, निःशेष हो गयी। उस से क्या होता है? तुमने वह कह दिया है "

शेखर एकाएक उठ खड़ा हुआ। एक बार उस ने अपने चारों ओर देखा, मन्त्रोच्चार करते हुए भी तीन-चार जन उसी की ओर देख रहे थे। उस ने अपने भाई से स्रुवा ले लिया और यन्त्रवत् चिता म घी डालने लगा।

जब चिता जल भी चुकी, दाह-संस्कार समाप्त हो चुका, तब भी कुछ देर शेखर को होश नहीं हुआ। उस के बाद वह एकाएक चौंका-सा और चारों ओर

देख कर, लज्जित-सा हो कर, खुवा रख कर चुपचाप खड़ा हो गया। उस के पिता ने कहा, "अब क्या है शेखर, अब चलो।" तो बिना लौट कर देखे भी चल पड़ा। पीछे-पीछे पण्डित लोग और अन्य लोग आये, सब से पीछे पिता, दो-एक बार लौट-लौट कर देख कर, चोरी से आँखें पोंछ कर!

किन्तु शेखर की आँखें? निर्निमेष। गम्भीर, पर चिन्ताहीन। किसी भी प्रकार की अनुभूति से हीन। वह उस सारे जुलूस (!) के आगे आगे चला जा रहा था ··

4

पथ पर।

मन्दिर के पथ पर, जहाँ पहुँच कर यह समूह बिखरेगा, जहाँ जा कर अनन्तपथ-पथिक की अन्तिम झाँकी ले कर, फिर उसे भुलाया जायेगा, सदा के लिए जीवन की परिधि के बाहर धकेल कर उस से अलग कर दिया जायेगा।

उस समय तक वह माँ है, स्त्री है, मानवी है, अपनी है, उस समय वह हो जायेगी—एक स्मृति।

शेखर सोच रहा है कि लोग मन्दिर क्यों जाते हैं, क्या करने जाते हैं? वह स्वयं जाता रहा है, किन्तु वह जाता रहा है वहाँ का संगीत सुनने, वहाँ के समवेत आरती-गान की श्रद्धा-भरी ध्वनि के कम्पन से एक अकथ्य अनुभूति प्राप्त करने, जो मन्दिर के बाहर, देवस्थान के बाहर, कहीं नहीं प्राप्त होती—या किसी असाधारण अवसर पर ही प्राप्त होती है। वह जाता है उस अनुभूति को प्राप्त करने ही नहीं, उस कोमल झुटपुटे में चुपचाप उसे दृढ़ करने, धूप-धूम्र, सुमन-सौरभ और घटानाद से सजीव उस रहस्यपूर्ण वातावरण में उसका संचय कर के उसे साथ ले आने के लिए। क्या अन्य लोग भी इसी भावना से जाते हैं?

वह देखता है कि इस का कोई प्रमाण कहीं नहीं मिलता—न उस के साथ जाने वालों के चेहरों में, न उन की वाणी में, न उन की बातचीत में।

उस भीड़ में कई ऐसे भी हैं जो अपने को शेखर का सम्बन्धी बताते हैं। यही उन का शेखर से सम्बन्ध है। अन्यथा शेखर के पुरखाओं के वे चाहे कुछ रहे हों, शेखर उन्हें न जानता है, न मानता है, न उन से किसी प्रकार की

निकटता का अनुभव ही कर सकता है। वह उन की बातें सुनता जात' अधिकाधिक विस्मय में सोचता जाता है कि यदि ये मनुष्य हैं, तो क कोई पशु हूँ, या प्रेत हूँ, जो इन की दृष्टि से देख नहीं सकता !

"कैसी दर्दनाक मृत्यु है ! मरते वक्त एक शब्द भी नहीं कह सकी सारा कुनबा बिखर गया। माली बाग लगा कर छोड गया। उस की दे कौन करेगा ? बेचारी ने कुछ सुख भी नहीं देखा, मरते वक्त कोई बात नहीं कह सकी। अब घर कौन सँभालेगा ? किसी को कुछ पता नहीं कि क्या है। जानेवाली तो गयी। कुछ कह ही जाती। मृत्यु तो हरएक आती है, पर ऐसी मृत्यु ! बिना एक शब्द कहे मर जाना ! हरे राम

शेखर चुपचाप सुनता है। पर ज्वालामुखी के उबलते हुए लावा क की भाँति उस के भीतर कुछ उठता है, उठता रहता है। यदि वह कुछ क पाती, तो क्या कह पाती ? कुछ एक निरर्थक शब्दों के अतिरिक्त क्या ? की इतनी बड़ी महत्ता के आगे—क्षुद्र ! उन से होता क्या—अब ज मर ही चुकी ? वह मर ही चुकी, तो उन के कहे हुए या उन के द्वारा क सकने वाले, किसी भी शब्द से क्या—किसी भी शब्द से ! अब इस स क्या...

फिर कहीं कोई कह रहा है—

'सुना है, मरते समय उन की कुछ खातिर भी नहीं हो सकी। उसी ! सबेरे उन्होंने एक पान माँगा था—वह नहीं मिल सका वे। यह कहती ही गयी कि मेरे लिए एक पान का भी प्रबन्ध नहीं हो सकता—देखो न उन दशा—"

शेखर को एकाएक वह क्षण याद आया, जब उस के पिता ने उस से ! था, क्या—?' और उस ने कहा था, 'कोलैप्स है ' और उस के थोडी बाद, पिता ने फिर पूछा था—इस बार अँग्रेज़ी में—'इज़ देयर लाइ' (जीवन शेष है ?)' और वह चुप रह गया था—यह सोच कर कि शायद शेष है, और कैसी परिस्थिति में खोया है—एक अन्तिम क्षुद्र शिकायत ले कि मेरे लिए पान नहीं आ सका ईश्वर !

शेखर ने एक लम्बी साँस ली। पर उसे दुःख नहीं मालूम हुआ। उस बात कहनेवाले व्यक्तियों की ओर देखा। एकाएक क्रोध से उस का बदन ग

उठा, पर वह ओठ काट कर उसे दबा गया। ओठ में खून निकल आया…

शेखर की गति धीमी हो गयी। अभी तक सारी भीड़ उस के पीछे थी, अब धीरे धीरे आगे निकलने लगी। एक-आध व्यक्ति ने चाहा, उसे ढाढ़स दिलाये और आगे चलने के लिए कहे, पर उस के मुख की ओर देख कर किसी को साहस नहीं हुआ।

शेखर की गति क्रमश: और भी धीमी होती गयी…

5

शेखर अभी मन्दिर से बहुत इधर ही था जब सारी भीड़ उसे पीछे छोड़ कर आगे निकल गयी, और वह चुपचाप लौट कर चला आया उसी के अवशेष के पास।

क्रोध कहीं उठना है, और किधर-किधर बह कर कहाँ पहुँच जाना है! इस समय शेखर अपने ही को कह रहा था—"यदि तुम्हारा दुःख उन से भिन्न है, यदि तुम्हारी अनुभूति उन से तीखी, उन से गहरी है, तो तुम ऐसे निर्वेद क्यों हो? तुम्हें क्यों क्लेश नहीं होता, तुम क्यों नहीं रोते? या तुम्हारा दुःख रोने से परे है, तो क्यों नहीं तुम वज्राहत की तरह पड़े हो? तुम्हें कुछ भी नहीं हुआ, रत्ती भर दुःख नहीं हुआ, तुम यहाँ चिता के किनारे खड़े भी शुद्ध-चित्त यह सोच सकते हो कि तुम्हें दुःख हुआ या नहीं? दिव्य पुरुष तुम नहीं हो, तब पशु, या पत्थर

उसे कुछ भी समझ नहीं आ रहा था। उस का मस्तिष्क ठीक काम कर रहा था, किन्तु वह सारा काम था निष्फल, किसी परिणाम तक पहुँचने में पूर्णतया असमर्थ, बिलकुल व्यर्थ।

शेखर चिता की ओर देखने लगा। वह अभी तक सुलग रही थी, और जहाँ शेखर बैठा था, वहाँ तक उस का ताप पहुँचता था।

उस में से धुआँ निकल रहा था, पर एक उत्तप्त वाष्प-सा उठ रहा था, जिस के कारण उस के पार का दृश्य शेखर की दृष्टि में एक विशेष प्रकार से कम्पित हो रहा था, मानो अधूरा जीवन पा कर लड़खड़ा-सा रहा हो…शेखर उसी को देख रहा था, मुग्ध-सा, मूढ़-सा, ऐन्द्रिय अनुभूति से परे कहीं।

एकाएक किसी ओर से तितलियों का एक जोड़ा उड़ता हुआ आया, सीधा

चिता की ओर। शेखर ने देखा, वे चिता के पास आकर, शायद गर्मी का अनुभव कर के, एकाएक ऊपर उठी, किन्तु उठते-उठते उस उत्तप्त वाष्प के घेरे मे आ गयी; निकलने की चेष्टा मे उद्भ्रान्त इधर-उधर लडखडायी, फिर काँप कर, मुरझा कर, झडती हुई पँखुडी की भाँति, चिता मे गिर गयी। जल गयी।

शेखर ने किसी अपर इन्द्रिय से यह सब देखा। उसे कुछ भी अनुभव नही हुआ। एक छोटे-से क्षण मे उस के मन मे एक भाव गुज़रा कि यह घटना भी उस-जैसी है, इन दोनो मे कोई भेद नही है। पर यह कितनी निरर्थक है, उस के अनुभव से कितनी परे—यद्यपि यह उस से सौ-गुनी करुणा-भरी है, और कुछ नही तो इस निरर्थकता के कारण! इन के मर जाने पर, इन का क्या रह गया होगा? घर-बार? यश? कीर्ति? कृतियाँ? स्मृतियाँ? सन्तान रही होगी, किन्तु उस मस्तिष्कहीन, ज्ञानशून्य सन्तान को इस से क्या कि वह किस से पैदा हुई थी! कितनी साधारण, कितनी निरर्थक, कितनी क्षुद्र, प्रकृति-गति मे कितनी नगण्य घटना है यह मृत्यु!

शेखर को अनुभव कुछ भी नही हुआ। पर वह लडखडा कर बैठ गया, एक बडा-सा बुलबुला-सा उस की छाती मे उठा और गले मे आ कर फूट गया, आँखें उमड आयीं; और एक व्यथा-भरी सिसकी मे वह रो पडा—"माँ!"

पगोडा वृक्ष

उस वृक्ष में पत्ते नहीं थे .

उस की यह विशेषता थी—विधवा के हृदय की तरह उस में विस्फोट धीरे-धीरे वृद्धिगत नहीं होता था, उस के लिए वसन्त की वासना के कोमल अंकुर नहीं फूटते थे, न बाल-लीला-मयी मधुर झकोरें आती थीं, न नवयौवन के चिकने पत्ते ही निकल पाते थे···केवल वर्ष में एक बार किसी उमस-भरे दिन की वेदना में, प्रगल्भ यौवन के उन्मद सौरभ से भरे, हल्के पीले हृदय वाले श्वेत तारक-फूल, एकाएक ही उस के सर्वांग पर छा जाते थे – उस की नगी बीभत्स शाखें एकाएक ही अदृश्य हो जाती थीं···

जीवन ! वे मानो प्रौढ़ावस्था के फूल ! वसन्त में, जब और सब वृक्ष फूल रहे होते, तब उस में केवल आगे स चपटे बड़े बड़े कठोर पत्ते पकते हुए दीखते—मानो सजीले सामन्तों की पाँत में एक बूढ़ा शूद्र-पुत्र · और ग्रीष्म में मरुस्थल की लप-लपाती गर्म साँस से बचने के लिए सब पेड़ सजाव-सिंगार छोड़ कर एक मोटी हरी चादर ओढ़ चुके होते, तब उस के पके पत्ते एक-एक कर के झर जाते, मानो नगी निरीह शाखों ने परला झाड़ कर मरुभूमि के दस्यु को दिखा दिया हो कि हम निःस्व हैं · ·केवल जब वर्षा के दौंगरे आकाश क कसैले रोष को शान्त कर देते थे, तब वृक्ष की चिरसंचित आत्मग्लानि द्रवित हो कर फूट पड़ती थी—विराट् वेदना सुन्दर ही होती है—और उस वृक्ष की वेदना पुष्पित हो उठती थी, और वह मानो अपने आन्तरिक सौन्दर्य के उन्मेष से लजा कर स्वयं उस में छिप जाता था—या सौन्दर्य के आवरण में और नगा हो जाता था· ·मानो किसी बुड्ढे ने ससार की तिरस्कार-भरी दृष्टि से लज्जित हो कर अपने को यौवन के आवरण में लपेट लिया हो।

या किसी विधवा के हृदय मे एकाएक प्रेम का पूर्ण विकास हो उठा हो…

अभी वह दिन नही आया था। वसन्त समाप्त हो चुका था, ग्रीष्म भी पार हो चुका था, पर उन्मेष का दिन नही आया था—वृक्ष के पत्ते गिर गये थे, पर फूल नही आये थे।

साँझ हो रही थी। आकाश मे बादल के छोटे-छोटे टुकडे मँडरा रहे थे। उन मे एक ओछा सौन्दर्य था, शक्तिहीन और दर्पहीन—वे बरस चुके थे। और वे मानो एक प्रकार के छिछोरेपन से जमुना के जल मे, अपना रगीन प्रतिबिम्ब देख कर मुस्करा रहे थे…

उस वृक्ष की नगी शाखो-तले एक स्त्री बैठी हुई थी। वह एक स्थिर दृष्टि से बादलो की ओर देख रही थी, और शून्य भाव से एक पद की निरर्थक आवृत्ति किये जा रही थी—'प्रीतम, इक सुमिरिनिया मोहि देहि जाहु।' धीरे-धीरे अन्धकार होता जा रहा था, किन्तु उसे इस का बिलकुल ध्यान नही था। वह मानो हमारे ससार से परे कही विचर रही थी, उस के लिए मानो हमारे काल की गति थी ही नही…

उस की सफेद धोती धुँधले प्रकाश मे कुछ नीली-सी जान पड रही थी, और उस के मुख का वेदना-विकृत भाव भी एक फीकी मुस्कराहट का भ्रम उत्पन्न कर देता था। और जिस मुद्रा मे वह बैठी हुई थी, उस से किसी भी दर्शक के हृदय में मूर्तिमती प्रतीक्षा की भावना जाग्रत हो जाती, यद्यपि उस ने कई वर्षों से किसी की प्रतीक्षा नही की थी—प्रतीक्षा का विचार भी नही किया था—क्योंकि वह कई वर्षों से विधवा थी…

यह उस का नित्यक्रम था—नित्य ही सन्ध्या को वह अपने छोटे-से मकान—या झोपडे—के इस बगीचे मे आकर बैठ जाती थी और कभी-कभी घटो बैठी रहती थी। जब वह इस प्रकार आत्मविस्मृत हो जाती, तब उसे अपनी दैनिक प्रार्थना का ध्यान नही रहता… तब तो किसी आकस्मिक शब्द से—किसी पशु के रँभाने से, या कभी वायु के झोंके से ही वह चौंक कर उठती थी और भीतर चली जाती थी…

आज भी यही दशा थी। उस के बैठे-ही-बैठे रात भी होने को आयी, जो बादल बिखरे हुए थे, वे नयी शक्ति पा कर पुन आकाश मे छा गये—धीरे-धीरे एक अत्यन्त कोमल, नि शब्दप्राय वर्षा भी होने लगी; पर उस का ध्यान

मग नहीं हुआ। जब वायु के एक झोंके ने उस की धोती के एक छोर को हिला कर मानो कहा, 'उठो!' तब वह उस के गीलेपन से चौंकी, और एक बार मानो जाड़े से काँप कर, पेड़ के सहारे खड़ी हो गयी और जल्दी जल्दी अपने झोंपड़े की ओर चल दी। वह वृक्ष मानो उत्सर्ग-भरी आवाज़ में बादलों से कहने लगा, "भिगो लो तुम भी मेरी नग्नता को!"

2

वह विधवा थी—उस का नाम था सुखदा। जब से उसका विवाह हुआ, तब से ही वह उस झोंपड़े में रहती थी। उस के विवाह को आज बारह वर्ष हो चुके थे—जिन में से आठ उस ने वैधव्य में काटे थे। विधवा हो जाने के बाद भी उस ने वह घर नहीं छोड़ा—छोड़ कर कहीं जाने को कोई स्थान ही नहीं था। वह समाज की ही नहीं, व्यक्तिमात्र की परित्यक्ता थी, समाज की शरण की ही नहीं, किसी व्यक्ति के स्नेह से भी वंचिता थी, उस का अपना कोई नहीं था। जिस झोंपड़े में वह रहती थी, उस की सफ़ाई इत्यादि करने के लिए एक बुढ़िया नित्य सवेरे आती थी, और दो घंटे बाद चली जाती थी। सुखदा का संसार से कोई सम्बन्ध था तो इतना ही। वह अपना गुज़ारा कैसे करती थी, कोई नहीं जानता। स्त्रियाँ किस प्रकार गृहस्थी चलाती है, यह न आज तक किसी ने जाना है, न जानेगा। हमारे वैज्ञानिक तो कहते हैं कि स्वयंचालित यन्त्र असम्भाव्य है।

सुखदा का पति देहली में काम करता था। वह नित्य सवेरे ही झोंपड़े से चल पड़ता, और कुछ एक खेत पार कर के मेरठ से देहली जाने वाली सड़क को जमुना के पुल के पास ही पा लेता। उन दिनों सुखदा दूर से जमुना पुल की ओर देख कर, उस पर रेंगते हुए चींटी-से आकारों को देखती हुई अपने पति को चीन्हने का प्रयत्न किया करती। और, इसी प्रकार जब उस के लौट कर आने का समय होता, तब भी वह पुल पर उसे खोजा करती।

इस का कारण था। पति की अनुपस्थिति में उसे कोई कष्ट या क्लेश होता हो, या वियोग की पीड़ा उसके लिए असह्य हो, यह बात नहीं थी। वर्ष-भर पति के साथ रह कर भी उस ने इतनी घनिष्ठता नहीं उत्पन्न की थी, जितने कालेज के लड़के-लड़कियाँ सप्ताह-भर में कर लेते हैं…उस का और

उस के पति का जीवन मानो दो अलग और समानान्तर दिशाओं में बह रहे थे, और वे निकट नहीं आ पाते थे। इसी लिए, वह अपने पति के पतित्व का अनुभव एक खास दूरी पर करती थी—जब वह उस के निकट आता, तब वह सुखदा के लिए बिल्कुल अजनबी हो जाता। जब वह घर में होता, तब सुखदा के हृदय में उस के प्रति एक उद्वेग, एक प्रकार की झुंझलाहट के अतिरिक्त कोई भावना नहीं होती थी। जब वह दूर पुल पर होता, तब सुखदा अपने हृदय को यह समझाया करती कि 'यह तेरा पति है।' स्वच्छन्द, शीतल निरपेक्षता से जैसे कोई बच्चे को इशारे से चिड़िया दिखा कर बताये—'यह अबाबील है।'

उसे स्वयं कभी-कभी इस से अत्यन्त कष्ट होता था। पातिव्रत्य के जो संस्कार उसे मिले थे, वे उसे कभी-कभी अत्यन्त दुःखी कर डालते थे। वह इस निरपेक्षता को दूर करने की चेष्टा भी करती थी, किन्तु इस में मुख्य अड़चन होता था स्वयं उस का पति। उस में भी ऐसी ही एक उपेक्षा थी—मानो किसी दिन उसे बैठे-बैठे विचार आया हो, 'मेरे घर में बहू नहीं है,' और इस न्यूनता को पूरा करने के लिए उस ने एक बहू झापड़े में ला रखी हो!

इसी प्रकार सुखदा के दाम्पत्य जीवन के चार वर्ष बीते। (ऐसे भी हैं, जिन का सारा जीवन यों ही बीतता है!) उस समय तक एक विराट् दुःखान्त नाटक के लिए पूरा उपक्रम हो चुका था। किन्तु मुख्य पात्र की अकाल मृत्यु के कारण वह खेला नहीं जा सका। सुखदा अकेली रह गयी। ट्रेजेडी के अंकुर से भरा हुआ उस का जीवन केवल एक विषाद से भरा रह गया—एक विषाद, जिस की नीरसता में एक हल्का किन्तु मधुर रस था•

जिस के आधार पर उस ने आठ वर्ष बिता दिये थे। नित्य ही जब वह अपने छोटे-से स्वच्छ बगीचे में आकर बैठती, तब मानो उसे इस रस का एक घूंट मिल जाता था। जिस वृक्ष के नीचे वह नित्य बैठती थी, वह उस के पति का लगाया हुआ था। वह इसे मद्रास से लाया था। यद्यपि सुखदा के इस वृक्ष-तले बैठने का कारण यह नहीं था, तथापि वह नित्य ही इस बात का स्मरण कर लिया करती थी। क्षण-भर के लिए उसे यही विश्वास हो जाता था कि वह पति की स्मृति के लिए ही वहाँ बैठी है इस विश्वास से उस के हृदय की पुरानी अशान्ति वह अनौचित्य की भावना, मिट जाती थी••

3

यदि दुःख की अनुपस्थिति को, अनुभूति की अचेतना को, सुख कह सकते है, तो सुखदा सुखी थी। यदि—! किन्तु वह स्वयं सोचा करती, क्या मेरे जीवन का उद्देश्य यही है? उस वृक्ष-तले बैठ कर जब वह जमुना का कम्पित वक्ष देखती, तब उस के हृदय में सदा यही प्रश्न उठता, 'क्या हमारा जीवन वालू पर के मिटाये हुए चिह्न से अधिक कुछ भी नहीं है?' पर इस प्रश्न से उस की शान्ति नहीं भंग होती थी, यद्यपि विषाद कुछ गहरा हो जाता था। उस के हृदय से मानो अशान्ति की क्षमता नष्ट हो गयी थी—समुद्र मानो तूफ़ान लाना भूल गया था···

वह जो नित्य नियमपूर्वक प्रार्थना किया करती थी, वह किसी आन्तरिक अशान्ति की प्रेरणा से नहीं, वह केवल एक नियम-भर था—या उस से कुछ ही अधिक। कभी वह इस विषय पर सोचती थी, तो एक ही बात का निश्चय कर पाती थी—उसे ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास था—बस। वह अपनी आत्मा से पूछती कि वह प्रार्थना क्या करती है, तो यही उत्तर मिलता था कि सब से सरल पथ यही है—कुछ लाभ हो या न हो, उस से क्या·· किन्तु फिर भी अपने वैधव्य के आठ वर्षों में एक दिन भी उस का नियम भंग नहीं हुआ था—और वह कल्पना भी नहीं कर सकती थी कि इस नियम का भंग कर दे ··

आज जब वर्षा होने लगी और वह चौंक कर उठी, तब उसे याद आया कि वह अपनी प्रार्थना भी भूल गयी है, और वह दौड़ी हुई इस त्रुटि को पूरा करने गयी।

झोंपड़े में प्रवेश कर के उस ने एक दीपक जलाया, और उसे झोंपड़े के एक कोने में ले गयी। उस एक छोटे-से आले में रख कर वह घुटने टेक कर बैठ गयी, उस की आँखें बन्द हो गयीं और कुछ ही क्षण में वह इस संसार से परे कहीं पहुँच गयी···

एक अभूतपूर्व घटना घटी। किसी ने किवाड़ खटखटाये। सुखदा का ध्यान भंग हो गया, उस ने चौंक कर कहा, "कौन!"

कोई उत्तर नहीं आया, पर किवाड़ पहले से भी ज़ोर से खटखटाये जाने लगे।

सुखदा क्षण-भर सोचती रही, खोलूं या न खोलूं ? इस असमय मे कौन आया है ? एकाएक हिन्दू समाज के कानूनो का एक पुलिन्दा ही उस की आँखो के आगे मे हो गया—समय, परिस्थिति, एकान्त, विधवा, और सब से बडी चीज हिन्दू धर्म की नाक—लज्जा···

उस के प्रश्न का बुद्धि ने कोई उत्तर नही दिया। किन्तु किसी अज्ञात प्रेरणा से उस ने उठ कर किवाड खोल दिया, और गम्भीर स्वर मे पूछा, "कौन है ?"

एक युवक ने आगे बढ कर धीमे स्वर मे कहा, "मैं हूँ, बहिनजी ! आप को नमस्कार करता हूँ।"

सुखदा विस्मय मे कुछ बोली नही। स्थिर भाव से उस के मुख की ओर देखती रही। मुख की ओर देखते ही देखते उस ने बहुत-सी बातें देख ली।

युवक के शरीर पर कपडे अधिक नही थे; एक धोती, जो घुटनो तक बँधी हुई थी, गले मे एक फटी कमीज। हाथ मे एक छोटी-सी पोटली-सी थी। सुखदा ने यह भी देखा कि युवक के शरीर पर के कपडे वर्षा से नही, किसी अधिक गँदले पानी से भीगे हुए थे और हाथ की पोटली प्राय सूखी थी··· वस्त्रो से वह बिल्कुल साधारण गँवार मालूम होता था, किन्तु उस का मुख मानो किसी आवरण के भीतर से भी कह रहा था, मैं पढा-लिखा हूँ, सभ्य हूँ, सस्कुल हूँ···

सुखदा को चुप देख कर युवक फिर बोला, "बहिनजी, मुझे यहाँ रात-भर के लिए आश्रय मिल सकता है ?"

सुखदा सहसा उत्तर नहीं दे सकी। फिर उस ने अत्यन्त गम्भीर स्वर मे कहा, "आप कौन है, मैं जानती भी नही।"

"मैं एक बिल्कुल साधारण व्यक्ति हूँ। कष्ट मे होने के कारण रात-भर के लिए आश्रय माँगता हूँ—इस से अधिक आप क्या जानना चाहती हैं ?"

"आप स्वय समझ सकते है," फिर कुछ हिचकिचा कर, "मैं विधवा हूँ, और यहाँ अकेली रहती हूँ।"

युवक ने सहानुभूति के स्वर मे कहा, "अच्छा !" और चुप रह गया।

"आप और कही नही जा सकते ?"

युवक एक अत्यन्त सरल-सी हँसी हँस कर बोला, "नही।"

सुखदा को वह हँसी अच्छी नही लगी। वह उसे समझ नही सकी। उस

ने सन्देह के स्वर मे पूछा, "क्यों ? आप आये कहाँ से हैं ?"

"जमुना-पार से आया हूँ।"

"देहली से ?"

"जी हाँ।"

"तो यहाँ कैसे आये ? सड़क तो इधर नही आती। पुल के पास ही कहीं क्यो नही ठहरे ?"

"मैं पुल पर से नही आया।"

"तो ?"

"यही सामने—तैर कर आया हूँ।"

"हैं ? जमुना तैर कर! आज—अभी ?"

युवक फिर हँस कर चुप रह गया।

थोड़ी देर बाद सुखदा बोली, "आपने अपना जो परिचय दिया है, उस मे मेरा सन्देह बढ़ना ही चाहिए।"

युवक का चेहरा उतर गया। वह बोला, "ठीक है।"

थोड़ी देर फिर दोनो चुपचाप एक-दूसरे को देखते रहे। दोनों मानो एक-दूसरे का माप ले रहे थे। फिर युवक ने मानो अन्दर-ही-अन्दर किसी निश्चय पर पहुँच कर कहा, "आप मुझे थोड़ी देर के लिए अन्दर आने दें, तो आप को सन्तोष हो जायगा।"

सुखदा कुछ कह भी नही पायी थी कि युवक भीतर चला आया। तब सुखदा भी धीरे-धीरे झापड़े के मध्य की ओर चली। एक ओर एक छोटी-सी चौकी पड़ी थी, उसी की ओर इशारा कर के युवक से बोली, "बैठ जाइये।"

युवक क्षण-भर खड़ा ही रहा, फिर बैठ गया। सुखदा उस से कुछ दूर पर खड़ी रही।

"आप क्या जानना चाहती हैं, जिस से आप को सन्तोष हो जाय ?"

सुखदा ने बिना किसी कौतूहल के कहा, "आप स्वयं ही कुछ बताना चाहते है, मैंने तो कुछ नही पूछा।"

युवक ने एक तीव्र दृष्टि से उस की ओर देखा, और बोला, "अच्छा, ऐसे ही सही। तो सुनिए। मैं दो-तीन साल से इसी प्रकार मारा-मारा फिरता हूँ। आम तौर पर तो अपना कुछ-न-कुछ प्रबन्ध रहता ही है, और काम चल जाता

है। किन्तु कभी-कभी हमारी दशा बहुत बुरी हो जाती है—हमारे लिए इस विराट् ब्रिटिश साम्राज्य मे कही पैर रखने को भी स्थान नही रहता। तब हम इधर उधर मारे-मारे फिरते है, कि कही कुछ समय के लिए हमें आश्रय मिल जाय और फिर हम अपना अस्तित्व मिटा कर, एक नया और मिथ्या रूप धारण कर के ही उस साम्राज्य मे स्थान पाते हैं, जिस मे हमारी सच्चाई के लिए स्थान नही· ·"

सुखदा रोक कर कहने को हुई, "आप की बात मुझे तो कुछ भी समझ नही आयी।" किन्तु जब यह कहने के लिए उस ने मुँह खोला, तब अपना प्रश्न सुन कर उसे स्वय आश्चर्य हुआ—"आप खाना खा चुके है ?"

युवक ने मुस्करा कर कहा, "हाँ, कल शाम को तो खाया था।"

सुखदा झोपडे के एक सिरे के ताक की ओर जाती-जाती बोली, "तो अब तक क्या नही बताया था ? इतना तो मैं कर ही सकती हूँ।"

उस ने ताक मे से कुछ रोटी, साग और केले निकाले, और फिर बोली, "साग ज़रा गरम कर लाऊँ।" यह कह कर, बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये हुए, वह झोपडे के पिछली ओर सटे हुए एक छोटे-से छप्पर के नीचे चली गयी।

युवक चौकी पर घुटने समेटे हुए बैठा था। जब उस ने छप्पर की ओर से फूँकने की आवाज़ सुनी, तब उस ने अपनी ठोडी को अपने घुटने पर टेक दिया और चुपचाप झोपडे मे पडी वस्तुओं को देखने लगा।

एक कोने मे, एक छोटे-से लकडी के बक्स पर, आठ-दस किताबें पडी थी। युवक के मन म एक क्षीण कौतूहल हुआ कि उठ कर देखे क्या पुस्तकें है, पर उस के शरीर पर एक सम्मोहिनी थकान छायी हुई थी, वह नही उठा। बक्स स हट कर उस की आँखें दिये वाले आले की ओर पहुँची। उस ने देखा, आले के ऊपर, एक लकडी के तख्ते पर, एक छोटी सी धातु की प्रतिमा रखी है, जिस के कुछ अश उस अप्रत्यक्ष प्रकाश मे चमक रहे है। प्रतिमा के पैर शायद फूला स ढके हुए थे। युवक के मन मे प्रश्न हुआ कि किस की प्रतिमा है, किन्तु यह प्रश्न बिल्कुल बौद्धिक था, इस मे स्वाभाविक कौतूहल नही था। उस की आँखें उस प्रतिमा से भी हट गयी। वह छत की ओर देखने लगा। छत पर किसी चीज का एक छोटा-सा गोल प्रतिबिम्ब पड रहा था। युवक ने ज़रा घूम

कर देखा, वह एक छोटे शीशे में प्रतिबिम्बित हो रहा दीये का प्रकाश था। उसी शीशे के पास ही एक लकड़ी की कंघी पड़ी थी, और शीशे के कुछ ऊपर, किसी गाढ़े रंग के गिलाफ़ में कोई वाद्य टँगा हुआ था। पास ही टँगी हुई गज से युवक ने अनुमान किया कि वह बेला या सारंगी होगी। उसे कुछ विस्मय हुआ। वह अब घुटनों पर सिर टेक कर सोचने लगा, इस छोटे-से झोंपड़े में इतनी संस्कृति!

छप्पर की ओर से साग के गरम होने का 'छिम-छिम-छन्-छन्-छिम-छिम' स्वर आ रहा था। एक बहुत क्षीण प्रतीक्षा के, और अपने शरीर की थकान की कटती हुई किन्तु अभी तक मधुर अनुभूति के साथ ही साथ युवक के मन में यह प्रश्न भी उठा कि क्या यह स्त्री गाती भी होगी···स्वर तो बड़ा मधुर है, और वेदना के सहवास ने उसे एक कम्पित निखार दे दिया है···

4

मुखदा जब रोटी ले कर झोंपड़े में आयी, तब पहले तो वह सीधी युवक के सामने चली आयी, किन्तु फिर एकाएक ठिठक गयी।

युवक उसी प्रकार, घुटनों पर सिर टेके, बिल्कुल निश्चल पड़ा था— उस की साँस बिल्कुल नियमित रूप से चल रही थी।

वह सो रहा था!

मुखदा थाली लिये खड़ी सोचने लगी, 'क्या करूँ? इसे जगाऊँ या रहने दूँ? वह सो भी रहा है या कुछ सोच ही रहा है?' इस का निश्चय करने के लिए उस ने धीमे स्वर में कहा, "मैं बड़ी देर से थाली लिये खड़ी हूँ।"

कोई उत्तर नहीं मिला। मुखदा फिर असमंजस में पड़ गयी। उस की आँखें हठात् युवक के शरीर की आलोचना करने लगीं। युवक ने अपने घुटनों पर अपनी पोटली रख ली थी, जिसे वह बायें हाथ से थामे हुए था। दाहिने हाथ से उस ने बायें हाथ की कलाई पकड़ ली थी और इस प्रकार सिर झुकाए अपने घुटनों पर सिर रखे बैठा था। उस की तनी हुई भुजाओं की पेशियाँ उभर रही थीं, किन्तु फिर भी ऐसा जान पड़ता था, वे मुर्दा हैं। फटी हुई कमीज़ में से कन्धे के नीचे का कुछ अंश दीख पड़ता था। पीठ भी झुकी हुई थी, मानो किसी दिक्पाल की पीठ हो···

देख-भाल कर सुखदा की दृष्टि फिर उसी पोटली पर जा पड़ी। इस मे क्या है ? अवश्य कोई मूल्यवान वस्तु होगी, नही तो वह क्यो उसे हाथ मे लिये रहता—क्यो सोते समय भी न छोड़ता ? सुखदा उसे ध्यान से देखने लगी। उसे भास हुआ, उस में एक तो काला-सा चारखाने का कोट है और उस के अन्दर कुछ लिपटा हुआ है। क्या ?

कही यह व्यक्ति चोर या हत्यारा तो नही है ?

इसे जगा कर बाहर निकाल दिया जाय ?

आश्रय दिया जाय ?

रोटी-पानी ?

धमकाने पर यदि वार कर बैठे ?

पर इतना भोला क्यो मालूम होता है ?

बाढ मे जमुना तैर कर पार कर आया है ?

कपड़े अभी तक गीले ही हैं !

फिर भी सो रहा है !

पागल है ?

सुखदा ने धीरे से थाली जमीन पर रख दी और छप्पर की ओर लौट गयी। वहाँ से एक जलती हुई अँगीठी ले कर आयी और युवक के पास ही रख कर फिर खड़ी हो गयी। क्षण भर वह अनिश्चय मे खड़ी रही, फिर उस ने युवक के कन्धे पर हाथ रख कर कहा, "उठिए।"

युवक नही उठा।

सुखदा ने उसे धीरे से हिलाया। युवक ने सोते ही सोते कहा, 'क्या है, उमा ?" और फिर चौंक कर जाग पड़ा। जागते ही कुछ लज्जित स्वर मे बोला, "मैं कुछ अनाप-शनाप तो नही बक गया ?"

सुखदा ने गम्भीर भाव से कहा, "नही तो, क्यो ?"

'मैं सो गया था, मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मैंने सोते सोते कुछ कहा था।"

सुखदा ने अपने स्वर को स्वाभाविक रखने की चेष्टा करते हुए कहा, "नही।" फिर बोली, "खाना तय्यार है, आप खावें।" कह कर थाली उस के सामने रख दी।

युवक ने कृतज्ञतापूर्वक कहा, "मैंने आप को बहुत कष्ट दिया। पर इतना सन्तोष मुझे है कि जहाँ तक हो सकता, मैं किसी को कष्ट न देने की चेष्टा करता हूँ।" यह कह कर वह सिर झुकाये धीरे-धीरे खाना खाने लगा।

सुखदा बोली, "आप के कपड़े सुखाने के लिए अँगीठी भी ले आयी हूँ। वह पोटली मुझे दे दें, मैं उन्हें सुखा देती हूँ।"

युवक ने जल्दी मे कहा, "नही-नही, उसे सुखाने का कष्ट न करें!" किन्तु उसके कहते-कहते सुखदा ने पोटली खोल ही तो डाली।

एक कोट था, उस के अन्दर लिपटी हुई एक गान्धी टोपी, और टोपी के अन्दर—एक रिवाल्वर!

सुखदा ने जल्दी से उसे भूमि पर रख दिया, और कुछ सहम कर युवक की ओर देखने लगी। युवक ने कोमल स्वर मे कहा, "इसे मुझे दे दें।"

सुखदा निश्चल खड़ी रही। वह सोचने लगी, इस से अभी कह दूँ, चला जाय? यह सोचते ही सोचते उस ने कहा, "आप अपने बदन पर के कपड़े भी सुखा लें।"

युवक कुछ झिझकते हुए बोला, "पर मेरे पास और पहनने को कुछ नही है।"

इस का उत्तर स्पष्ट था, किन्तु सुखदा सोचने लगी, जब मैं इसे यहाँ से निकाल ही रही हूँ, तब क्यो अधिक दया दिखाऊँ? इस लिए उस ने यह नही कहा कि मैं और कपड़े दे सकती हूँ। वह युवक के पास से हट कर दिये के पास चली गयी और स्थिर दृष्टि से प्रतिमा की ओर देखने लगी। देखते-देखते वह न जाने किस विचार मे लीन हो गयी। उसे युवक का ध्यान ही न रहा।

युवक जब खाना खा चुका, तब उस ने सुखदा की ओर देखा। किन्तु उसे इस प्रकार तल्लीन देख कर वह बोला नही, स्वयं उठ कर दबे-पाँव छप्पर की ओर चला गया। वहाँ जा कर हाथ धो कर वह लौटा तो उस ने देखा, सुखदा जहाँ खड़ी थी, वहीं घुटने टेके बैठी है, किन्तु हाथ जोड़े हुए नही···उसे कुछ कहने का साहस नही हुआ। युवक फिर लौट कर छप्पर में चला गया और वहाँ से सुखदा के उठने के स्वर की प्रतीक्षा करता हुआ और बाहर होती हुई वर्षा का स्वर सुनता हुआ बैठा रहा···

5

भीतर से सुखदा ने पुकारा, "आप कहाँ हैं ?"

युवक ने चौंक कर कहा, "आया !" और झोंपड़े के भीतर चला गया।

उस के अन्दर आते ही सुखदा ने प्रश्न किया, "आप का नाम क्या है ?"

एक क्षण, बहुत छोटे-से क्षण के बाद युवक ने उत्तर दिया, "मेरा नाम दिनेश है।" उस क्षण में उस ने देख लिया कि विधवा के स्वर मे विरोध या वैमनस्य तो नहीं, किन्तु एक प्रकार का कवचबद्ध दूरत्व, एक स्वरक्षात्मक कठोरता अवश्य है।

रिवाल्वर की ओर इगित कर के, "यह क्या है ?"

उत्तर मे एक प्रश्न-भरी दृष्टि मानो कहती हो, क्या आप नही जानती ?

"यह क्यो ?"

"आत्मरक्षा के लिए।"

"किस से ? सच क्यो नही कहते, हत्या के लिए ?"

"कभी नहीं। मैं हिंसा को घोर पाप समझता हूँ।"

"आप पुलिस से बचते फिरते है—मफरूर हैं ?"

'यही समझ लीजिए।"

"तो आप मेरे पास क्यो आये ?"

"शरण माँगने।"

"मेरे पास क्यों ?"

"मैंने नदी पार की, तो यही स्थान पहले दीखा। और मुझे राह नहीं मालूम थी।"

"आपने नदी क्यो पार की—पुल से क्यो नही आये ?"

'पुलिस ने मेरा पीछा किया था—मै और किसी प्रकार बच नहीं सकता था। इस लिए कोट उतारकर जमुना में कूद पडा।"

"तो पुलिस यहाँ भी आ सकती है ?'

"हाँ सम्भव है। पर मैं अँधेरे मे कूदा था, उन्हे कुछ अनुमान नहीं होगा कि कहाँ कूदा—या कूदा भी था कि नही। और फिर, ऐसी बाढ मे जमुना पार कर लेना भी आसान नहीं, वे शायद समझें कि डूब गया होगा या नीचे

वह गया होगा।"

"अगर आप यहाँ पकड़े जायँ, तो मुझे भी दंड मिल सकता है ?"

"हाँ। मुझे आश्रय देना जुर्म है। और अगर आप मुझे गिरफ्तार करा दें तो बहुत-कुछ लाभ भी हो सकता है।"

सुखदा ने युवक की ओर तीव्र दृष्टि से देखा, किन्तु उस के मुख पर तिरस्कार का भाव न था। वह थोड़ी देर चुप रही। फिर एकाएक बोली, "आपने यह सब मुझे क्यों बताया ? अनजाने में—"

"आप ने पूछा था। मैं झूठ भी बोल सकता था, पर आप को धोखे में रखने की इच्छा नहीं हुई।"

"डरे नहीं ?"

"नहीं। विश्वासघात आसान नहीं है—विशेषतः वहाँ, जहाँ विश्वास हो।"

"तो, आपने मेरी अनुमति प्राप्त करना जरूरी समझा ? आप जानते हैं, मैं अकेली हूँ, आप को यहाँ से निकाल नहीं सकती।"

"आप का जो अभिप्राय है, उस भी मैंने कल्पना भी नहीं की।"

"क्यों ?"

"अगर आप निकाल दें, तो मैं बाहर भी रात बिता सकता हूँ। कष्ट होगा, पर कष्ट मात्र पर्याप्त नहीं है।"

"क्या मतलब ? विशेष परिस्थिति में आप मेरी इच्छा के विरुद्ध भी यहाँ रहते ?"

"हाँ, यदि व्यक्तिगत कष्ट या प्राणों के बचाव के अतिरिक्त और कारण होता तो—"

"अगर मैं लड़ती तो—क्या मार डालते ?"

युवक ने थोड़ी देर सोच कर, अधिक गम्भीर होकर कहा, "शायद—नहीं।"

'शायद ! निश्चय नहीं है ?"

"आप स्त्री हैं, इस लिए शायद नहीं। पर परिस्थिति भी कुछ चीज होती है—हम कल्पना नहीं कर सकते।"

"अच्छा !" कह कर सुखदा धीरे-धीरे इधर-उधर टहलने लगी।

थोडी देर बाद उस ने कठोर स्वर मे कहा, "अपने कपडे पहन लो।"

विस्मय से—"क्यो ?"

"मैं तुम्हे आश्रय नही दे सकती—तुम जाओ!"

एक क्षण के अंश-भर के लिए युवक अप्रतिभ हो गया, किन्तु फिर बोला, "आप की जो आज्ञा!"

वह चुपचाप कोट म रिवाल्वर लपेटने लगा।

सुखदा ने कहा, "इसे पहन क्यो नही लेते ?'

"वर्षा हो रही है, रिवाल्वर भीग जायगा।"

"हूँ।"

एक क्षण चुप। फिर युवक ने पूछा, "सडक किधर मिलेगी, यह बता दें।"

"यहाँ से बायें हाथ चलते जाना। थोडी दूर जा कर एक दो खाली खेत आयेंगे, वहाँ स फिर बायें मुड जाना—बस।"

फिर थोडी देर निस्तब्धता। युवक की पोटली तैयार हो गयी। उसे बगल मे ले कर वह बोला, "अच्छा, अब आज्ञा दें। आपने जो भोजन दिया है, उस के लिए धन्यवाद। और आपने आश्रय देने से पहले जो प्रश्न पूछे उन्हे तो अब भूल ही जावें—'

"हूँ' से अधिक सुखदा कुछ भी नही कह सकी।

युवक चल पडा। वह झोपडे के किवाड पर पहुँच गया, पर सुखदा किवाड खोलने या बन्द करने को भी आगे नही बढी।

युवक ने किवाड खोला, और बाहर हो कर उसे पुन बन्द करने के लिए मुडा। तब, एकाएक सुखदा ने वही से पूछा, ' उमा कौन है ?"

युवक चौंक पडा। किवाड को थामे-थामे बोला, "कौन उमा ?"

"उमा, कोई भी उमा।"

"उमा—थी। मेरी बहिन का नाम था।" कह कर युवक ने किवाड बन्द कर दिया।

6

सुखदा अब तक मन्त्रमुग्ध-सी खडी थी, अब चौंकी। एकाएक उस के मन

मे दो प्रश्न हुए, 'मैंने यह क्या पूछा ?' 'मैंने उसे क्यों निकाल दिया ?'

अपने शरीर पर से उस का नियन्त्रण मानो एकाएक टूट गया—उस का रेशा-रेशा चौकन्ना होकर किसी को खोजने लगा—उस के अंग-प्रत्यंग मे यह अनुभूति हुई कि बाहर गिरती हुई वर्षा की बूँदें दबे स्वर से कह रही हैं, 'समय बीता जा रहा है—बीता जा रहा है '

सुखदा कमान की तनी हुई प्रत्यंचा की तरह उछल कर किवाड पर पहुँची और उसे खोल कर, आँखें फाड-फाड कर, बाहर के सजीव और चलायमान अन्धकार को चीर कर देखने की चेष्टा करने लगी···

कही कुछ नही दीख पडा···सुखदा ने आवाज दी—"कहाँ चले गये ?" पर उत्तर नही मिला···उस ने फिर पुकारा, "दिनेश, चले आओ ! लौट आओ, तुम्हे आश्रय मिलेगा !"

उत्तर मे वही, वर्षा की बूंदो की अपरिवर्त्त नूतनता···

सुखदा लौट आयी । झापडे के मध्य मे आकर उस के अन्धे पाँव एकाएक रुक गये, और धम् से भूमि पर बैठ गयी···

मैंने उसे क्यो निकाल दिया ? मैंने उसे वापस क्यो बुलाया ?

मैंने उसे पहले ही क्यो भीतर आने दिया ? अब उस ने आवाज सुनी होगी या नही—

अब लौट कर आ सकता है ?

सुखदा ने देखा, उस के हाथ काँप रहे थे । क्यो, यह स्वय नही सोच सकी । वह एकाएक लज्जित हो गयी, और उठ कर दिये के नीचे, प्रतिमा के आगे, घुटने टेक कर बैठ गयी । प्रतिमा के पास से ही उस ने एक छोटा-सा फ्रेम उठाया, और क्षण भर उस मे जडे हुए फोटो को देखती रही । उस के मुख ने एक पवित्र किन्तु नीरस मुद्रा धारण की, उस की आँखें बन्द हो गयी, वह अस्पष्ट शब्दों मे शायद प्रार्थना करने लगी··

आकाश मे से किसी की ध्वनि आयी, "आपने मुझे बुलाया था ?

सुखदा के हाथ से फ्रेम गिर पडा । उस ने उसे जल्दी से उठा कर यथास्थान रख दिया । फिर वह धीरे-धीरे किवाड पर गयी और उसे खोल कर एक ओर खडा हो गयी ।

दिनेश ने फिर पूछा, " आप ने मुझे क्यो बुलाया है ?"

सुखदा ने धीरे से कहा, "आप रात-भर यहाँ ठहर सकते हैं।"

युवक सहसा अन्दर नहीं आया। बोला, "नहीं, आप आवेश में आ कर कोई ऐसा काम न करें, जिसे करने के बाद आप की अन्तरात्मा आप को कोसे मैं तो—"

"आप चले आइये, मैं सोच चुकी।"

युवक अन्दर चला आया। सुखदा ने किवाड़ बन्द किया, फिर एक कोने की ओर जा कर, बिस्तर बिछाते हुए बोली, "आप थके हुए होंगे, सो जाइये।"

बिस्तर बिछा कर, एक बार झोपड़े के चारों ओर दृष्टि डाल कर वह पिछले छप्पर की ओर जाने लगी।

युवक अब तक चुपचाप खड़ा था। उसे जाती देख कर बोला, "और आप?"

"मैं भी सो जाऊँगी, छप्पर में बहुत स्थान है।"

'नहीं, यह नहीं हो सकता। मैं छप्पर में चला जाता हूँ।'

"नहीं, आप अतिथि है—ऐसा नहीं हो सकता।"

"मैं शरणागत हूँ। आप मेरे लिए इतना कष्ट न करें।"

"आप मेरे अतिथि हैं; और आप को मेरे प्रबन्ध में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।"

युवक धीमे स्वर में, कुछ डरते-डरते बोला, "आप मुझे विवश न करें, नहीं तो मैं आप का आतिथ्य स्वीकार नहीं कर सकूँगा।"

सुखदा क्षण-भर चुप रह गयी। फिर उस ने कहा—"जैसी आप की इच्छा!" और दो-तीन कम्बल इत्यादि निकाल कर युवक को दे दिये। युवक उन्हें लेकर छप्पर में चला गया।

सुखदा धीरे धीरे उस झोपड़े में टहलने लगी। थोड़ी देर बाद उस ने सुना, युवक बिल्कुल निश्चिन्त और निःस्वप्न नींद की नियमित साँसें ले रहा है। तब वह छप्पर से कुछ हट कर झोपड़े के दूसरी ओर जा कर टहलने लगी। ज्यों-ज्यों रात बढ़ती जाती थी, त्यों-त्यों उस की टहलने की गति अधिक तीव्र होती जा रही थी···

वर्षा कुछ देर के लिए बन्द हो गयी थी, इस लिए सुखदा बहुत दबे-पाँव चल रही थी, ताकि दिनेश की नींद न भंग होने पावे···

उस के भीतर एकाएक ही कुछ जाग उठा—या कुछ टूट गया। जिस प्रकार उन्मत्त व्यक्ति के ऊपर ठंडा पानी पड़ने से उस का खुमार एकाएक टूट जाता है—या उस की साधारण चेतना जाग उठती है। उसे मालूम हुआ, अब तक वह जो कुछ कर रही थी, एक नशे में कर रही थी···बाह्य वस्तुओं की अनुभूति उसे होनी थी पर नहीं होती थी। इन्द्रियाँ अपना काम करती थीं, किन्तु मस्तिष्क उनकी भाषा को कुछ काल के लिए भूल गया था—या समझता ही नहीं था—और दिनेश के सो जाने के कुछ क्षण बाद ही उस ने जाग कर अपने सामान्य कर्म आरम्भ कर दिये थे—अब वह एक अपूर्व चेतना से धधक उठा था···

उन के मन में रौरव मचा हुआ था···प्रश्नों का तूफ़ान इतने ज़ोरों से उठा हुआ था कि वह एक प्रश्न को दूसरे से अलग भी नहीं कर पाती थी। मानो उस का समूचा मस्तिष्क विद्रोही हो गया हो, और हज़ारों नयी माँगें उपस्थित कर रहा हो—माँगें जो एक-दूसरी से मिल कर एक विराट् कोहराम हो गयी थी—एक उद्दीप्त ललकार का रूप ले कर पूछ रही थी—'तू ने क्या किया?

सुखदा इस रौरव से घबरा उठी। उस ने दिये की बत्ती को सरका कर तेज़ कर दिया और फिर प्रार्थना करने बैठ गयी।

'ईश्वर, मुझे शान्ति दे! मेरे मन में जो रौरव मचा हुआ है, उस का शमन कर दे, ताकि मैं जान पाऊँ कि मैं क्या चाहती हूँ। मुझे सद्बुद्धि दे···

'मैंने अच्छा किया या बुरा, मैं नहीं जानती—इस में संसार का लाभ या हानि, मुझे नहीं मालूम···पर मैं यह भी नहीं जानती कि मैंने अपनी आत्मा से विश्वासघात किया है या नहीं—यही मुझे बता दे! यदि मैंने किसी मोह में पड़ कर, जान-बूझ कर बुरा किया है, तो मुझे दंड दे, मुझे उस से शान्ति मिलेगी···यदि मैंने ऐसा नहीं किया, तो भी कह दे—मुझे शान्ति मिलेगी··

'ईश्वर! इस अनिश्चय को दूर कर दे—क्षण-भर, एक अत्यन्त छोटे क्षण-भर के लिए प्रकट हो कर मेरी प्रार्थना का उत्तर दे दे!'

पर कहाँ? यदि ईश्वर प्रत्येक प्रार्थना को अत्यन्त सूक्ष्म काल में ही पूरी कर डाले, तो कुछ ही दिनों में उस का अस्तित्व ही मिट जाय! उस

अस्तित्व ही इस बात पर निर्भर करता है कि आकांक्षा के समय कुछ न मिले, उपभोग के समय दारिद्र्य हो, विरक्ति में लोभ हो, कि वे याचना के समय दीवालिया और समृद्धि के समय दयालु हो।

जब उस मूर्त्तिमती प्रतीक्षा की काफी उपेक्षा कर के भगवान् अपनी सर्व-शक्तिमत्ता दिखा चुके, तब सुखदा चुप हो गयी और कुछ सोचने लगी किन्तु प्रार्थना म वह जिस प्रकार अपने भावो का उच्चारण कर रही थी, उसी प्रकार अब भी करती रही।

प्रपीडित को क्या आश्रय न दिया जाय ? पर वह तो हत्या भी कर सकता है ! आत्मरक्षा क्या हत्या है ? पर और भी तो ससार बसता है, उन की भी तो आत्मरक्षा होती है। अत्याचार का विरोध नही करना चाहिए ? पर अत्याचार का विरोध अत्याचार से नही होता।

'इसका निश्चय मैं नही कर सकूँगी—बडे-बडे नही कर सके

'मैंने पहले उसे निकाल दिया था। वह मुझ से आश्रय माँगता था, पर उसे मेरे जीवन की कद्र नही ? कहता था, स्त्री पर हाथ नही उठाऊँगा—कहता था कि उस के भी आदर्श हैं पर अगर मैं उस का विरोध करती, तो शायद मुझे मार डालता !

'मैंने क्या डर कर आश्रय दिया ? मैंने उसे निकाल दिया था, फिर बुलाया। क्या ?'

'उमा कैसी थी, उस के बारे मे कल पूछूँगी। उसे कितना याद करता होगा ?'

'कहता था, मेरी बहिन थी। अगर बहिन न हो तो ? अगर—'

इस से आगे वह नही सोच सकी, एकाएक उठ खडी हुई। अगर क्या ? अगर उमा उस की प्रेमिका रही हो ! सुखदा को यह विचार असह्य प्रतीत हुआ। वह तीव्र गति मे इधर-उधर टहलने लगी' यह कभी नही हो सकता—उस की प्रेमिका नही हो सकती ! नही हो सकती—वह ऐसा नही हो सकता !

सुखदा इस विचार को मन से हटा नही सकी, न स्वीकार ही कर सकी ! वह उन्मत्त की भाँति चलती रही, इधर से उधर, उधर से इधर, किन्तु पाँव दबी चाँप से पड रहे थे

उस का मुँह लाल हो आया—फिर पीला पड गया। वह खडी हो गयी।

प्रतिमा के पास पड़ा हुआ फ्रेम उठा कर वह उस की ओर देखने लगी और बोली, "क्या मैं पापिनी हूँ? मैंने अपना व्रत तोड़ा है? तुम्हारे प्रति अपने कर्त्तव्य को भूल गयी हूँ। नही तो क्यो मुझे वह विचार असह्य होता—असह्य है?

"पर अगर तुम हत्यारे होते और मैं तुम से घृणा करती होती, तो क्या मैं तुम्हें निकाल देती?"

किसी तिरस्कार भरी हँसती आवाज़ ने उस के कानों मे कहा, तो दिनेश क्या तेरा पति है?'

फिर वही आरक्त मुद्रा, वही उन्मत्त चाल, इधर से उधर, उधर से इधर ··

उस के रक्त मे विद्रोह जाग रहा था। यह कैसा अत्याचार है—कैसे बन्धन? वह क्या मेरा बन्धु नही? वह क्या मानव नहीं? अगर मैं विधवा हो गयी हूँ, समाज ने मुझे जूठन की तरह अलग फेंक दिया है, तो मैं समाज के एहसान से मुक्त हूँ। मैं अपना कर्त्तव्य जो समझूँगी, करूँगी!

और पति?

इस मे क्या अनौचित्य है? अगर उसे आश्रय देना मेरा धर्म था, तो वैधव्य उस मे क्यो बाधक हो—पति भी क्यो हो?

फिर वही तिरस्कार की हँसी—वही उन्मादक प्रश्न—'तू उस से प्रेम करती है?'

सुखदा ने चित्र वही रख दिया, हाथ से बत्ती दबा कर दीपक बुझा दिया, और फिर बड़ी तीव्र गति से टहलने लगी···उस के पैरो की दबी हुई चाँप मे भी एक ललकार थी—अपने को, या मानवता को, न जाने ··

यही है मानवता का जीवन—यह अन्धकार मे अशान्ति, उन्माद मे जलन, विश्वास मे अनिश्चय, सम्पन्नता मे विद्रोह, रात्रि की प्रशान्त गति म यह अपूर्ति और ललकार···

8

बादल फट रहे थे। रात बीत चुकी थी।

अभी उषा के प्रकाश का भास भी नहीं होता था, किन्तु मानो अन्धकार

का रंग बदल गया था।

सुखदा थक गयी थी। उस के उन्माद की पराकाष्ठा धीरे-धीरे ढीली पड कर बहुत उतर आयी थी।

वह झोंपडे के किवाड खोल कर देहरी पर बैठ गयी और बाहर देखने लगी।

दूर पर जमुना के विशाल वक्ष का कुछ अंश दीख रहा था। उन का जल पहले-सा क्षीण 'झर-झर-झर' छोड अब सेनों को नाँघता हुआ एक दर्प-भरा 'झूल-झूल झूल' गुर्राता हुआ चला जा रहा था ''उस में कुछ इधर दो वृक्षों के आकार कुछ स्पष्ट-से नजर आते थे, जिन की ओर सुखदा देख रही थी। इन्हीं में से एक वह पगोडा वृक्ष था, जिस के नीचे उस ने इतनी बार अपने हृदय की परीक्षा ली थी' '

सुखदा को एकाएक ऐसा ज्ञात हुआ, उस वृक्ष के नीचे कोई खडा है। वह ध्यान से उस की ओर देखने लगी, उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि कोई अपनी आँखों पर हथेली की आड दिये, दूर कहीं देखने का प्रयत्न कर रहा था पर, देर तक देखने पर भी जब वह आकार- हिला-डुला नहीं, तब सुखदा की दृष्टि उस पर से हट कर बहुत दूर पर जगमगाती हुई जमुना के पुल की लैम्पों की ओर गयी'' उस पर कई-एक लैम्पें चलती हुई नजर आ रही थीं—देहली से मेरठ की ओर। सुखदा ने सोचा, 'ये मोटरें होंगी,' और फिर उन्हें भूल गयी। वह फिर उस वृक्ष की ओर देखने लगी—पर अब वह आकार, जिस की ओर उस का ध्यान पहले आकृष्ट हुआ था, वहाँ नहीं था ।

न जाने क्यों, सुखदा का ध्यान एकाएक फिर दिनेश की ओर गया। उस की आन्तरिक अशान्ति, जो कुछ क्षीण हो पडी थी, फिर धधक उठी—वही प्रश्न फिर उस के मन में नाचने लगा—'मैंने क्या किया'''मुझे क्या हो गया'''

वह उठ कर अन्दर गयी। दबे-पाँव छप्पर के पास जा कर उस ने देखा, वहाँ खाली कम्बल पडे थे—दिनेश नहीं था!

उस का हृदय धक् से हो कर रह गया। उसे ऐसा जान पडा, उस के मस्तिष्क पर फालिज पड गया है उस की आन्तरिक अशान्ति भी मानो स्तिमित हो गयी

पता नहीं कैसे, वह छप्पर से कुछ दूर तक चल कर आयी, और खूँटी से

सारंगी और गज ले कर फिर पूर्ववत् देहरी पर आ बैठी। उस का शरीर क्या कर रहा है, यह वह स्वयं नहीं जानती थी···

उस की उँगलियाँ गज को इधर-उधर चलाने लगीं, तारों से दो-चार टूटे-से, अनमिल स्वर निकलने लगे···धीरे-धीरे उन का प्रकार बदलता गया—और थोड़ी देर बाद वे एक प्रकार के संगीत में परिणत हो गये—एक संगीत जिस में उत्कंठा और रोना मिले हुए थे, जिस में एक विराट् भव्यता के साथ ही एक भयंकर निरर्थकता फूटी पड़ती थी···वैसे ही जैसे किसी सम्पूर्ण जीवनी में सब-कुछ रहने दिया गया हो, केवल एक उद्देश्य निकाल दिया गया हो···

थोड़ी देर बाद नदी में कहीं एक 'छड़ाप्!' शब्द हुआ, किन्तु सुखदा ने उसे सुन कर भी नहीं सुना। इस शब्द का कुछ अर्थ हो सकता है, यह विचार उस के स्तिमित मन पर नहीं उदित हुआ। वह उस समय अपने ही संगीत की निरर्थकता में बही जा रही थी···

उस का मन जागा तब, जब उस ने सामने से बहुत-से बूटों की चाप सुनी, और आँख उठा कर देखा कि कई एक सशस्त्र पुलिस के सिपाही और अफ़्सर उस की ओर बढ़े चले आ रहे हैं।

एक हाथ में सारंगी और दूसरे में गज लिये वह धीरे-धीरे उठ कर खड़ी हो गयी।

एक सिपाही ने उस के मुख पर टार्च का तीक्ष्ण प्रकाश डालते हुए कड़क कर पूछा, "कौन है तू? क्या नाम है?"

सुखदा ने शान्त भाव से कहा, "मेरा नाम सुखदा है।"

"तेरे घर में और कौन है?"

"मैं अकेली हूँ।"

सिपाही घर में घुस आये, सुखदा किवाड़ के एक तरफ़ खड़ी रही। सिपाहियों ने क्षण-भर में झोंपड़े को देख डाला, और छप्पर में घुसे। घुसते ही एक ने पूछा, "यहाँ कौन सोया था?"

"मैं सोती हूँ।"

"और उस में कौन सोता है, तेरा खसम?" सिपाही ने झोंपड़े वाले बिस्तर की ओर इंगित कर के पूछा।

"वहाँ कोई नहीं सोता है, मैं विधवा हूँ।"

उस के इस शान्त उत्तर को सुन कर यदि सिपाही कुछ लज्जित हुआ, तो उस ने इसे प्रकट नही होने दिया।

इसी समय दो अंग्रेज अफसर भी आ पहुँचे। सिपाही दोनो ओर हट कर खड़े हो गये। अफसर ने पूछा, "तलाशी ली ?"

"जी हाँ, कुछ नही मिला।"

"अच्छा, तुम लोग बाहर रहो, हम इस से बात करेंगे।"

सिपाही बाहर चले गये, सुखदा चित्रवत् खड़ी रही। जब सब सिपाही बाहर हो चुके, तब अफसर सुखदा के सामने खड़ा होकर बोला, "तुम जानता है, तुम को कितना सजा मिल सकता है ?"

"मैंने क्या किया है ?"

"तुमने एक मफरूर आदमी का मदद किया है। तुम्हारे पास इधर रात को सूर्यकान्त नाम का एक डाकू और खूनी आदमी रहा है—जिस को पकड़ाने का पाँच हजार रुपया इनाम है।"

"आप भूलते हैं। यहाँ कोई नही आया। मैंने इस नाम को सुना भी नही।" कहते हुए सुखदा सोच रही थी, 'तो उस का असली नाम सूर्यकान्त था।'

"हूँ। सब मालूम पड जायगा।"

अब दूसरा अफसर बोला, "देखो, हम को सब पता लग गया है। हम को जमुना मे उस का लाश मिला है—वह पार जाने को था, डूब गया। तुम्हारे घर के बाहर उस के पैर का निशान भी है। तुम सच बता देगा तो छूट सकता है, नही तो· "

सुखदा का हृदय धड़कने लगा। उस की लाश ! तो वह वापस भी तैर कर ही गया—क्यों ? सुखदा को एकाएक याद आया, उस ने वह 'छडाप् !' का शब्द सुना था उस समय पुल पर से मोटरें चली आ रही थीं—ऐसे समय म·

इस पीड़ा मे, इस धड़कन मे, एक विचित्र शान्ति थी·· वह रात भर की कसक, वह जलन और अशान्ति, और उन से उत्पन्न हुए भूतकाल के दृश्य, सब एक साथ ही बुझ गए, उसे ऐसा मालूम हुआ, सैकड़ो वर्षों की थकान के बाद उसे शय्या पर लेट जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो···

उसे चुप देख कर पुलिस अफसरो ने समझा, उस पर कुछ प्रभाव पडा है। उन्होने कहा, "हाँ, जल्दी कहो, जो कुछ कहना है। हम पूरा कोशिश करेगा कि तुम छूट जाओ।"

सुखदा ने दृढ स्वर मे कहा, "मुझे कुछ नही कहना है। मैंने सूर्यकान्त का कभी नाम भी नहीं सुना है।"

अफसर ने कुछ क्रुद्ध हो कर कहा, "अच्छा, तुम गिरफ्तार है।" फिर उस ने आवाज़ दी, "सिपाही !"

दो सिपाही अन्दर आये। अफसर ने कहा, "इस को गिरफ्तार कर के ले चलो।"

"अच्छा, हज़ूर," कह कर सिपाही आगे बढे।

सुखदा ने कहा, "मुझे तैयार होने के लिए पाँच मिनट का समय दीजिए।"

अफसरो ने आपस मे इशारा किया, फिर एक बोला "अच्छा, हम दो मिनट दे सकता है।"

सिपाही रुक गया।

सुखदा ने कहा, 'आप बाहर जावें।"

अफसरो ने घूर कर उस की ओर देखा, पर फिर बाहर जाते-जाते बोले, "दो मिनट से ज्यादा नही मिलेगा, जल्दी करो।"

सुखदा ने किवाड बन्द कर लिया। छप्पर से एक लोटा पानी ले कर उस ने मुँह धोया, फिर एक चादर निकाल कर कन्धो पर डाल ली। एक बार धीरे-धीरे दृष्टि फिरा कर उस ने सारे झोपडे को देख डाला। इन सब का अब कौन रखवाला होगा ?

वह उस आले के पास गयी, जिस मे प्रतिमा रखी थी, और वहाँ से उस ने अपने पति का चित्र उठाया। उस फ्रेम मे से निकाल कर क्षण-भर देखती रही, फिर धीरे-धीरे फाडने लगी…दो, चार, आठ…सैकडो टुकडे कर के उसे प्रतिमा के पास ही रख दिया।

फिर उस ने लकडी के बक्स पर पडी किताबो मे से दो-तीन चुन कर धोती के छोर मे लपेट ली।

क्षण-भर वह झोपडे के मध्य मे अनिश्चित खडी रही।

और क्या करना है ? एक बार फिर उस ने चारो ओर दृष्टि दौडा कर

देख लिया—यह उस की विदा थी।

उस की दृष्टि चौकी पर जा कर रुकी। रात की बुझी हुई अगीठी उस के सामने पडी थी।

सुखदा को याद आया, उस के पास कुल दो मिनट का समय था। वह क्षण-भर अनिश्चित खडी रही, फिर एकाएक प्रार्थना के लिए झुक गयी। अपने देवता के आगे नही, अपने पति के फटे हुए चित्र के आगे नही, किन्तु उस चौकी के आगे, जिस पर दिनेश—या सूर्यकान्त—बैठे-बैठे सो गया था। उस ने घुटने जमीन पर टेक दिये और सिर को धीरे से चौकी पर नवा दिया

उस अपने जीवन के अपूर्व एक मिनट म उस ने किस स क्या प्रार्थना की, कौन जाने···किन्तु *जब वह उठी, तब मानो उस के प्राणो का तूफान बैठ गया था*·· उस की आत्मा के सभी सस्कार, अच्छे या बुरे, नये या पुराने, एक पुरानी केंचुल की तरह झड गये थे, वह निरावरण हो गयी थी सुखदा के मुख पर एक शान्ति थी—उस शान्ति म वैराग्य की, त्याग की भावना स्पष्ट थी, किन्तु वह त्याग वैधव्य की भाँति मलिन या उद्विग्न नही था··

9

किन्तु जब वह किवाड खोल कर वापस आयी, तब एकाएक उस के हृदय पर मानो कोई दैवी प्रकाश छा गया उसे किसी दिव्य ज्ञान की एक रखा ने कहा, *'य झूठे हैं!'*

सूर्यकान्त मरा नही, वह मर सकता ही नही था यह विचार भी असम्भव था—असम्भावना स भी अधिक असम्भव ·

वह ज्ञान रेखा कह रही थी, ये झूठे है! वह नही मरा! तुम्हारे कर्म की सफाई क लिए यह आवश्यक नही है कि उस की मृत्यु हो गयी हो!

सुखदा इस ज्ञान के प्रकाश क आगे यह सोच ही नही सकी कि उसे कैसे पुलिस के कथन पर विश्वास हो गया—चाहे क्षण भर के लिए ही···जब उसे *याद आया कि यह समाचार सुन कर ही उस की आत्मा की पीडा के साथ-साथ* शान्ति का अनुभव हुआ था, तब उस का हृदय लज्जा से भर गया ·

वह धीरे-धीरे झोपडे के सामने वाले पगोडा वृक्ष की ओर अग्रसर हो रही थी। पुलिस वाले उसे बाहर आया देख कर इकट्ठे हो रहे थे। वह उन की

उपेक्षा करती हुई, वृक्ष की ओर देखती हुई चल रही थी।

वह रुकी। एकाएक उस का हृदय एक अदम्य सुख से, एक ज्वलन्त उल्लास से भर आया।

यही जीवन का चरम उद्देश्य है—सृष्टि का चरम साफल्य, अनुभूति का अन्तिम विकास—सुख की अन्तिम पराकाष्ठा···पीडा का, उत्कट पीडा का ज्ञान—ऐसी पीडा का, जो कि स्वयं अपनी इच्छा से, अपने हाथों, स्वागत की भावना से, अपने ऊपर ली गयी है···यह आत्म-निछावर की चेतना···

सुखदा को ऐसा प्रतीत हुआ, उस का वर्षों का वैधव्य, और उस से पूर्व का जीवित मृत्यु, आज एकाएक अपनी सीमा पर पहुँच गये हैं—समाप्त हो गये हैं, और वह आज एक नयी स्त्री, एक नयी शक्ति हो गयी है···

उस ने एक बार अपने छोटे-से बगीचे के चारों ओर दृष्टि दौड़ायी। वह जमुना के विशाल वृक्ष को छूती हुई फिर उसी पगोडा वृक्ष पर आ कर रुक गयी। क्षण-भर सुखदा स्थिर दृष्टि से उस की ओर देखती रही, उस के मुख पर एक शान्त-स्निग्ध हँसी छा गयी···

फिर उस ने कहा, "चलो!" और विस्मित सिपाहियों के आगे अभिमान-भरी मुद्रा से चल पड़ी

रात-रात में पगोडा वृक्ष ने पुरानी केंचुल उतार फेंकी थी—या नये वस्त्र धारण कर लिये थे। आज उस की कालिमा का चिह्न भी कहीं नज़र नहीं आता था, वह फूलों से भरा हुआ, सौन्दर्य से आप्लुत, सौरभ से झूम रहा था।

उस समय उषा का प्रकाश नभ में फूट रहा था।



कहानियों का लेखन-क्रम

1 विपथगा	(मूल रूप 1929), लाहौर अगस्त 1935
2 [illegible]	दिल्ली जेल सितम्बर 1931
3 मिलन	दिल्ली जेल सितम्बर 1931
4 अकलंक	दिल्ली जेल सितम्बर 1931
5 हारिति	दिल्ली जेल, अक्टूबर 1931
6 अमरवल्लरी	दिल्ली जेल अक्टूबर 1931
7 छाया	दिल्ली जेल, अक्टूबर 1931
8 द्रोही	दिल्ली जेल, अक्टूबर 1931
9 विवेक से बढ़कर	दिल्ली जेल, मई 1932
१० एक घंटे में	दिल्ली जेल, जून 1932
11 गृहत्याग	दिल्ली जेल, जुलाई 1932
12 क्षमा	दिल्ली जेल, फरवरी 1933
13 अंगोरा के पथ पर	मुलतान जेल, मई 1933
14 एकाकी तारा	मुलतान जेल, अक्टूबर 1933
15 पगोडा वृक्ष	मुलतान जेल, अक्टूबर 1933
16 कड़ियाँ	मुलतान जेल, नवम्बर 1933
17 गैंग्रीन (रोज)	डलहौजी, मई 1934
18 पहाड़ी जीवन	डलहौजी, मई 1934
19 अलिखित कहानी	डलहौजी, जून 1934
20 दुःख और तितलियाँ	डलहौजी, अगस्त 1934
21 हरसिंगार	